JIVARAJA JAINA GRANTHMĀLĀ No 9

General Editors
Dr. A. N. Upadhye & Dr. H. L. Jain

KUNDA-KUNDA PRABHRITA SANGRAHA

Compiled from Kundakunda's Works

By
Pt. Kailash Chandra Jain
(Siddhant Shastri)
Principal Shree Syadvad Mahavidyalaya
VARANASI

Published by
Gulabchand Hirachand Doshi
Jain Sanskriti Sanrakshaka Sangh
SHOLAPUR

Bhartiya Shruti-Darshan Kendra
JAIPUR

Price Rupees Six Only

First Edition · 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskrti Samrakshaka Sangha Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs 6/-per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचदजी दोशी कई वर्षोंसे ससार से उदासीन होकर धर्मकार्य मे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित सपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बातकी सग्रह कीं कि कौनसे कार्यमे सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमे ब्रह्मचारीजीने तीर्थ-क्षेत्र गजपथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोह-पूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन सस्कृति तथा साहित्यके समस्त अगोंके सरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन सस्कृति सरक्षक सघ' की स्थापना की और उसके लिए ३००००) तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रह-निवृत्ति बढती गई, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००) दो लाखकी अपनी सपूर्ण सपत्ति सघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी सघके अतर्गत 'जीवराज जैन ग्रथमाला' का सचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका नौवा पुष्प है।

प्रकाशक

गुलाबचद हीराचद दोशी,
जैन सस्कृति सरक्षक सघ,
सोलापूर

मुद्रक

शिवनारायण उपाध्याय
नया ससार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी

स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द जी

कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रह

[कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार और षट्प्राभृत,
से विषयवार संकलित तथा द्वादशानुप्रेक्षा, दशभक्ति और
समयसार सम्पूर्ण, हिन्दी अनुवाद सहित]

सम्पादक—

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री,

प्रधानाचार्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

वाराणसी।

वीर संवत् २४८६] मूल्य छै रुपये [१९६०

ग्रन्थमाला के सम्पादकों का वक्तव्य

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का जैन साहित्य में अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक तो इन रचनाओं में आध्यात्मिक तत्त्व का जैसा प्ररूपण पाया जाता है वैसा अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। (काल की दृष्टि से भी ये रचनाएँ डेढ़ हजार वर्ष से कम प्राचीन नहीं हैं।) इनकी प्राकृत भाषा व शैली भी अपना वैशिष्ट्य रखती है। इनकी उपलब्ध रचनाओं की संख्या भी १०–१२ है। दिगम्बर सम्प्रदाय में इन आचार्य की प्रतिष्ठा इतनी है कि वे तीर्थंकर महावीर और उनके प्रमुख गणधर गौतम स्वामी के पश्चात् ही मंगल रूप से स्मरण किये जाते हैं।

कुन्दकुन्द की रचनाओं में जैन धर्म व सिद्धान्त की सभी प्रमुख बातों का समावेश हो गया है। किन्तु ये सब विषय वहाँ बिखरे हुए पड़े हैं। किसी प्रस्तुत विषय पर उन्होंने कहाँ क्या अभिमत व्यक्त किया है इसका पता लगाना सहज नहीं है। इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक व विषयात्मक परिचय इस ग्रन्थमाला के सम्पादकों में से एक (डा० ए० एन० उपाध्ये) द्वारा प्रवचनसार की प्रस्तावना में विस्तार से कराया जा चुका है। किन्तु समस्त वस्तु का विषय-वार वर्गीकरण का कार्य शेष रहा था। इसकी प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्ति करने का प्रथम बार प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयास के गुण भी हैं और दोष भी। एक बड़ा गुण तो यह है कि इसमें एक-एक विषय पर कर्ता के समस्त विचार पाठक को एकत्र प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इसमें दोष यह है कि कर्ता ने जिस किसी बात को जिस प्रसंग में कहा है उसे उस प्रसंग से निकाल कर भिन्न प्रसंग में जोड़ने से कुछ भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। जिन गाथाओं को नियत विषयों में से कहीं भी संगृहीत नहीं किया जा सका और छोड़ दिया गया उसके कारण भी ऐसे संकलनों पर से यह दावा करना कठिन है कि यहाँ कर्ता द्वारा प्रतिपादित समस्त सिद्धान्त का विधिवत् वर्गीकरण हो गया। इसका प्रमाण स्वयं इस संकलन में ही वर्तमान है। अन्य ग्रन्थों में से तो काट-छाँट करके उद्धरणों का चुनाव किया गया है किन्तु समयसार को यहाँ अविकल रूप से जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया गया है, क्योंकि इसमें क्रम भेदों व प्रकरणों के स्थानान्तरण से अनर्थ उत्पन्न होने की सम्भावना का निवारण नहीं किया जा सकता था।

किन्तु इस सब के होते हुए भी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं का यह विषयवार संकलन, सुबोध हिन्दी अनुवाद सहित, एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करेगा ऐसी हमें आशा है। (कर्ता और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य विषयों का पंडित जी ने अपनी प्रस्तावना में विस्तार से विवेचन किया है जिससे उन पाठकों को विशेष रूप से लाभ होगा जो प्रवचनसार की उक्त अंग्रेजी प्रस्तावना का उपयोग नहीं कर सकते। प्रवचनसार का वह संस्करण अब दुष्प्राप्य भी हो गया है और इस कारण भी प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना का स्वागत करने योग्य है।) यहाँ विषय का विवेचन भी पण्डित जी ने अधिक विस्तार से किया है जो बड़ा महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य के सिद्धान्तों के अध्ययन की एक नई सुविधा उत्पन्न हुई है। इसके लिये हम विद्वान सम्पादक के बहुत कृतज्ञ हैं तथा जीवराज ग्रन्थमाला समिति ने जो इसे प्रकाशित करना स्वीकार किया इसके लिये उसे भी धन्यवाद है।

मुजफ्फरपुर—१६।३।६० ही० ला० जैन
कोल्हापुर —२४।३।६० आ० ने० उपाध्ये
ग्रन्थमाला सम्पादक

सम्पादक के दो शब्द

१९५३ की बात है। पूज्य क्षुल्लक श्री पं० गणेश प्रसाद जी वर्णी श्री सम्मेद शिखर की ओर पैदल विहार करते हुए मार्ग में डालमियानगर ठहरे हुए थे। उस अवसर पर दानवीर साहू शान्ति प्रसाद जी भी वहाँ धार्मिक चर्चा में निमग्न थे। प्रति दिन कुन्दकुन्दाचार्य के षट् प्राभृत का वाचन चलता था, और साहू जी बिना किसी विस्तार के मूल गाथा का अर्थ मात्र श्रवण करते थे। उसमें उनका अभिप्राय ग्रन्थकार का मात्र हार्द समझना था।

वहीं से मेरे चित्त में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मूलानुगामी अनुवाद मात्र करने का विचार उत्पन्न हुआ, और जहाँ तक भी शक्य हो उनके कथन के सम्बन्ध में अपनी ओर से विशेष कुछ लिखना उचित नहीं समझा, जिससे पाठक अनुवादक के द्वारा किये गये विवरणों के बोझ से बोझिल न होकर स्वतंत्र रूप से कुन्दकुन्द के कथनों के सम्बन्ध में ऊहापोह कर सकें।

इसके पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जैन सिद्धान्त, जैन आचार के किन किन विषयों पर क्या क्या कहा है, यह मेरी जिज्ञासा हुई, क्योंकि कुन्दकुन्द जैन परम्परा के एक महान और प्राचीन ग्रन्थकार हैं। अतः जैन तत्त्वज्ञान का और जैनाचार के क्रमिक विकास के अध्येता के लिये उनके मन्तव्यों को जानना आवश्यक है।

इसलिये मैंने जो ग्रन्थ निर्विवाद रूप से कुन्दकुन्दकृत माने जाते हैं, उनमें प्रतिपादित विषयों का विषयवार संकलन करके तब अपना अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया। इसके लिए मैंने कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार नियमसार, बारह अनुप्रेक्षा, दशभक्ति, और षट्प्राभृतों (दर्शन प्राभृत, चारित्र प्राभृत, सूत्र प्राभृत बोध प्राभृत, भाव प्राभृत और मोक्ष प्राभृत) को चुना। और समयसार को मैंने अन्त में अविकल ही देना उचित समझा क्योंकि वह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काट छाँट करने से अर्थ का अनर्थ होना भी संभव है। दूसरे इस संकलन का मेरा एक उद्देश्य मात्र समयसार प्रेमियों के सामने कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों को रखना भी है। आजकल ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाई समयसार का तो स्वाध्याय करते हैं किन्तु कुन्दकुन्द के ही अन्य ग्रन्थों की ओर ध्यान नहीं देते। एक ही ग्रन्थकार के

द्वारा-विभिन्न ग्रन्थों में किये गये कथनों को न देखने से और मात्र समयसार का ही अवलोकन करने से स्वय कुन्दकुन्दाचार्य के भी अभिप्राय को समझने में भ्रम होने की सभावना रहती है और उससे अर्थ का अनर्थ भी होना सम्भव है।

अत समयसार का प्रत्येक प्रेमी पाठक एक बार कुन्दकुन्द के ही अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित वस्तु तत्त्वकी झलक ले सके, इस दृष्टि से भी समयसार को अन्त में अविकल देकर उससे पहले सकलित भाग को दिया है।

जो गाथा कुन्दकुन्द के जिस ग्रन्थ से ली गई है, उसके नीचे उसकी क्रमसख्या के साथ उस ग्रन्थ का सक्षिप्त नाम भी साथ में दे दिया गया है। इससे पाठक को उसे मूलग्रन्थ में देखने में कठिनाई नही होगी।

सशोधन—सकलन करते समय पञ्चास्तिकाय, आदि मुद्रित ग्रन्थों का ही उपयोग किया गया है। समयसार का जो मूल पाठ जयसेनाचार्य के सामने था, उसके पाठों में अमृतचन्द्र की टीकावाली प्रतियों में पाये जाने वाले पाठ से अन्तर है। अत जयसेन की टीका तात्पर्यवृत्ति के विशेष पाठों को पाद टिप्पण में 'ता० वृ०' के सकेत के साथ दे दिया है।

षट् प्राभृतों का सशोधन नीचे लिखी प्रतियों के आधार से किया गया है। दि० जैन पचायती मन्दिर देहली से प्राप्त प्रति न० ऊ ३, ऊ ४ (ख) और ऊ ४ (ग)।

१—प्रति न० ऊ ३ का सकेत 'ऊ' है। यह मूल प्रति शुद्ध है। यह वि० सं० १५८१ की लिखी हुई है। इसके अन्त की लेख प्रशस्ति इस प्रकार है—

'अथ सवत्सरेऽस्मिन् श्री विक्रमादित्य राज्ये सवत् १५८१ वर्षे मार्गसिर शुदी ११ शुभदिने मगलवासरे हिसार पेरोजाकोट्टे सुरित्राण इब्राहिम साहिराज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासघे ब्रह्म जू लिखापित इद शास्त्र।'

२—प्रति ऊ ४ (ख) और ऊ ४ (ग) का सकेत 'ग' है। ये दोनों प्रतिया समान हैं। दोनों में मूल गाथाओं का संस्कृत में शब्दार्थ मात्र दिया है। ऊ ४ (ग) सम्वत् १७४८ में उग्रसेनपुर में लिखी गई है।

यथा—सम्वत् १७४८ वर्षे जेष्ठ शुदि ६ तिथीन्दुवारे लिखी श्री उग्रसेनपुरे विजयगच्छे मुनिश्री ५ गोवर्द्धन जीका सा शिष्य खेमचन्द्रेण स्ववाचनाय। और प्रति ऊ ४ (ख) स० १७५३ में लिखी गई है।

३ 'आ' प्रति श्रीमहावीर जी की है। इसमें जो स० टीका है, यद्यपि वह

श्रुतसागर की टीका का ही संक्षिप्त रूप है। किन्तु कहीं कहीं, जहाँ श्रुतसागर की टीका मूल के अनुरूप नहीं है वहाँ उससे इसमें अन्तर भी है।

देहलीके दि० जैन पचायती मन्दिरकी प्रतियाँ लाला पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीके द्वारा प्राप्त हुई थीं। तथा श्री महावीरजीकी प्रति भारतीय ज्ञानपीठ काशी के व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्ल के द्वारा प्राप्त हुई थी। इनके लिए मैं इन दोनों महाशयों तथा उक्त भण्डारों के व्यवस्थापकों का आभारी हूं।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला के मान्त्री डा० ए० एन० उपाध्ये तथा उनके सहयोगी डा० हीरालालजी जैन के प्रयत्न से श्री जीवराज जैनग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार किया इसके लिए मैं प्रबन्ध समिति का तथा डा० उपाध्ये तथा डा० हीरालालजी का आभारी हूं। डा० उपाध्ये ने इसका अन्तिम प्रूफ देखकर ग्रन्थ के मूल प्राकृत भाग का संशोधन करने का भी कष्ट उठाया है तथा प्रवचनसार की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना का उपयोग करने की स्वीकृति दी। इसके लिये मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ।

जीवराज ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक श्री कुमारचन्द्र जैनी तथा नया संसार प्रेस वाराणसी के संचालक पं० शिवनारायण उपाध्याय ने भी ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण आदि की व्यवस्था में पूर्ण सहयोग किया है अतएव उनका भी आभारी हूँ।

और इस प्रयत्न के फलस्वरूप यदि स्वाध्याय प्रेमियों ने कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार की ही तरह उनके अन्य ग्रन्थों का भी अनुशीलन करने की ओर लक्ष्य दिया तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

चैत्र कृष्णा त्रयोदशी
वी० नि० सं० २४८६, वि० सं० २०१६
भदैनी, वाराणसी।

कुन्दकुन्दाचार्य के चरणारविन्द का चञ्चरीक
कैलाशचन्द्र शास्त्री

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यकी अमृतमयी वाणीका

रसपान करनेमें निमग्न

मुमुक्षुजनोंके कर-कमलोंमें

सादर समर्पित—

ऐतिहासिक[1] परिशीलन

कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धमें उनके ग्रन्थों, टीकाकारों, ऐतिहासिक लेखों तथा परम्परागत कथाओंसे जो जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

१ आचार्य कुन्दकुन्दने बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा) के सिवाय अन्य किसी ग्रंथमें अपना नाम तक नहीं दिया। केवल बोधप्राभृतके[2] अन्तमें अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है।

२ कुन्दकुन्दके प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र सूरिने भी अपनी टीकाओंमें ग्रन्थकर्ताके नाम तकका भी निर्देश नहीं किया। हां, जयसेनाचार्यने, जिनका समय ईसाकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है, पञ्चास्तिकायकी[4] टीकाके आरम्भमें लिखा है कि, कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्त देवके शिष्य थे। उनके दूसरे नाम पद्मनन्दि आदि थे। प्रसिद्ध कथाके अनुसार उन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर श्रीमंदर स्वामी तीर्थङ्करके मुखसे निकली हुई दिव्यध्वनिको सुनकर शुद्ध आत्मतत्त्वके साररूप अर्थको ग्रहण किया था। और वहांसे लौटकर शिवकुमार महाराज आदिके प्रतिबोधके लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृतकी रचना की थी।

जयसेनने समयसारकी टीकाके अन्तमें भी दो गाथाओंके द्वारा पद्मनन्दिका गुणगान किया है।

३ इन्द्रनन्दिने, जिन्हें विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणका विद्वान् माना जाता है, अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि षट्खण्डागम और

१—इस ऐतिहासिक परिशीलनमें प्रवचनसारकी डा० ए० एन० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी प्रस्तावनासे साहाय्य लिया गया है।

२—इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंद मुणिणाहे। जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥६१॥

३—'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं। सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥ बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं। सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥" -बो० प्रा०।

४—'अथ श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवशिष्यैः। प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामितीर्थङ्करपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचितपञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे'।

को जैन तत्त्व ज्ञानके सम्बन्धमें कोई शङ्का उत्पन्न हुई । एक दिन ध्यान करते समय उन्होंने शुद्ध मन वचन कायसे श्रीमन्दरस्वामीको नमस्कार किया । उन्हें सुनाई दिया कि समवसरणमें विराजमान श्रीमदर स्वामीने उन्हे आशीर्वाद दिया 'सद्धर्म वृद्धिरस्तु' । समवसरणमें उपस्थित श्रोताओंको बडा अचरज हुआ कि इन्होंने किसको आशिर्वाद दिया है क्यो कि यहा उन्हे नमस्कार करने वाला तो कोई दिखाई नही देता । श्रीमदर स्वामीने बतलाया कि उन्होंने भारत वर्षके कुन्दकुन्द मुनिको आशिर्वाद दिया है । दो चारण मुनि जो पूर्व जन्ममें कुन्दकुन्दके मित्र थे, कुन्दकुन्दको श्रीमन्दरस्वामीके समवसरणमे ले गये । जब वे उन्हे आकाश मार्गसे ले जारहे थे तो कुन्दकुन्दकी मयूर पिच्छिका गिर गई । तब कुन्दकुन्दने गृद्धके पखोंसे काम चलाया । कुन्दकुन्द वहा एक सप्ताह रहे और उनकी शकाए दूर हो गईं । लौटते समय वह अपने साथ एक पुस्तक लाये थे किन्तु वह समुद्रमें गिर गई । बहुतसे तीर्थोंकी यात्रा करते हुए वे भारत वर्ष लौट आये और उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया और सात सौ स्त्री पुरुषोंने उनसे दीक्षा ली ।

कुछ समय पश्चात् गिरनार पर्वत पर उनका श्वेताम्बरोंसे विवाद हो गया । तब ब्राह्मी देवी ने यह स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है । अन्तमें अपने शिष्य उमास्वातिको आचार्य पद प्रदान करके वे स्वर्गवासी हुए ।'

एक कथा डा० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी प्रस्तावनामें दी है— डा० चक्रवर्तीके लेखानुसार कुन्दकुन्दाचार्यकी यह कथा पुण्यास्रवकथा नामक ग्रन्थमें शास्त्र दानके फलके उदाहरणके रूपमें दी गई है । कथा इस प्रकार है—

भारत खण्डके दक्षिण देशमें 'पिडथनाडू' नामका प्रदेश है । इस प्रदेशके अन्तर्गत कुरुमरई नामके ग्राममें करमण्डु नामका धनिक वैश्य रहता था । उसकी पत्नीका नाम श्रीमती था । उनके यहा एक ग्वाला रहता था जो उनके पशु चराया करता था । उस ग्वालेका नाम मथिवरन था । एक दिन जब वह अपने पशुओंको एक जगलमें लेजा रहा था, उसने बड़े आश्चर्यसे देखा कि सारा जगल दावाग्निसे जल कर भस्म होगया है किन्तु मध्यके कुछ वृक्ष हरे भरे हैं । उसे उसका कारण जाननेकी बड़ी उत्सुकता हुई । वह उस स्थानपर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराजका निवास स्थान है और वहाँ एक पेटीमें आगम ग्रन्थ रखे हैं । वह पढ़ा लिखा नहीं था । उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थके कारण ही यह स्थान आगसे बच गया है । अत वह उन्हें

बड़े आदरसे घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिकके घरमें एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रति दिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनोंके पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठने उन्हें बड़े भक्तिभावसे आहार दिया। उसी समय उस ग्वालेने वह आगम उन मुनिको प्रदान किया। उस दानसे मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनोंको आशिर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठके घरमें उसके पुत्र रूपमें जन्म लेगा। तब तक सेठके कोई पुत्र नहीं था। मुनिके आशिर्वादके अनुसार उस ग्वालेने सेठके घरमें पुत्र रूपसे जन्म लिया। और बड़ा होने पर वह एक महान् मुनि और तत्त्व ज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था। उनके चारणोंके साथ पूर्व विदेह जानेकी कथा पूर्ववत् वर्णित है।

एक कथा शास्त्र दानके फलके उदाहरण रूपमें ब्रह्मनेमिदत्तके आराधना कथा कोशमें है, जो प्रो० चक्रवर्ती वाली कथासे मिलती हुई है। कथा इस प्रकार है—

'भरतक्षेत्रमें कुरुमरई गावमें गोविन्द नामका एक ग्वाला रहता था। एक बार उसने एक जगलकी गुफामें एक जैन शास्त्र रखा देखा। उसने उस शास्त्रको उठा लिया और पद्मनन्दी नामके मुनिको भेंट कर दिया। उस शास्त्रकी विशेषता यह थी कि अनेक महान् आचार्योंने उसे देखा था और इसकी व्याख्या लिखी थी और फिर उसे गुफामें रख दिया था। इसीलिए पद्म नन्दि मुनिने भी उसे उसी गुफामें रख दिया। ग्वाला गोविन्द बराबर उसकी पूजा करता रहा। एक दिन उसे व्यालने खा डाला। मर कर वह ग्वाला निदानवश ग्रामपतिके घरमें उत्पन्न हुआ। बड़ा होनेपर एक बार उसने पद्म नन्दि मुनिके दर्शन किये और उसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया। उसने जिन दीक्षा धारण कर ली और समाधि पूर्वक मरण करके राजा कौण्डेश हुआ। वहाँ भी सब सुखोंका परित्याग करके उसने दीक्षा ले ली। उसने जिनदेवकी पूजा की थी और गुरुओंकी सेवा की थी अत वह श्रुत-केवली हुआ।

रत्न करंड श्रावकाचार (श्लो० ११८) में शास्त्रदानमें 'कौण्डेशका नाम दिया है। और उसकी संस्कृत टीका में उक्त कथा दी है।

प० आशाधरजीने (वि० स० १३००) अपने सागार[1] धर्मामृतमें

१—'कौंडेश पुस्तकार्चावितरणविधिनाप्यागमाम्भोधिपारम्॥

शास्त्रदानका फल बतलाते हुए कौण्डेशका उदाहरण दिया है और अपनी टीकामें उसे पूर्व जन्ममें गोविन्द नामका ग्वाला बतलाया है।

इस कथाके सम्बन्धमें डा० उपाध्येने लिखा है कि नामोंकी समानताके कारण गलतीसे इसे कुन्दकुन्दकी कथा समझ लिया गया है। किन्तु यथार्थमें यह कथा भी कुन्दकुन्दसे ही सम्बद्ध होनी चाहिये, यह बात 'कौण्डेश' नामसे व्यक्त होती है। किन्तु ये सब कथाएँ पीछेकी उपज जान पड़ती है। हरिषेणके बृहत्कथा कोशमें जो शक सं०८५३ (वि० सं० ६८६) में रचकर पूर्ण हुआ था, कुन्दकुन्दका नाम तक भी नहीं है। फिर भी इन कथाओंसे उस कालमें कुन्दकुन्दाचार्यकी बढ़ती हुई लोकप्रियता और महानताका आभास मिलता है। उनके सम्बन्धमें प्रचलित कुछ घटनाओंके आधारपर ही उक्त कथाओंका शरीर निर्मित हुआ जान पड़ता है। इसलिये उन्हे एक दम मनघड़न्त नहीं कहा जा सकता। अस्तु,

अब हम साहित्यिक अभिलेखोंसे ज्ञात उक्त पाँच बातोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे।

कुन्दकुन्दके नाम

पञ्चास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्यके पद्मनन्दी आदि नाम थे। और षट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागर सूरिने (*विक्रमकी १६ वीं शती*) अपनी टीकाके अन्त[1]में उनके पाच नाम बतलाये हैं—पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य। शिला लेखोंसे भी इन नामोंका समर्थन होता है। नन्दिसंघसे सम्बद्ध विजय नगरके शिलालेखमें जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाच नाम बतलाये है। तथा नन्दिसंघकी एक पट्टावलीमें[2] भी उक्त पाच नाम बतलाये है। किन्तु

१—श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य-गृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे ।'

२—'श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्य । तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥३॥ आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनि । एलाचार्यो गृद्धपिच्छो इति तन्नाम पंचधा ॥४॥' जै०सि० भा० भा०१, कि० ४ पृ० ६० ।

अन्य शिला लेखोंमें उनके दो ही नाम मिलते हैं—पद्मनदी और कुदकुद या कोण्डकुन्द। उनमें भी उनका प्रथम नाम पद्मनदि था। वि० स० ६६० में रचे गये दर्शन सारमें देवसेनने इसी नामसे उनका उल्लेख किया है। और जिस नामसे वह ख्यात हैं वह नाम उनके जन्म स्थानसे सम्बद्ध है। शेष तीनों नामों की स्थिति चिन्त्य है। उनके सम्बधमें डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें अन्वेषणात्मक दृष्टिसे विचार किया है। उनका मन्तव्य है कि जिन शिलालेखोंमें वक्रग्रीवका नाम आया है उनमें प्रथम तो यह नहीं कहा गया कि यह कुन्दकुन्दका नाम है। दूसरे जिन शिला लेखोंमें वक्रग्रीवके साथ सघ गण गच्छका उल्लेख है, उनमें द्रविड़ संघ, नन्दिगण और अरुङ्गलान्वयका उल्लेख है। अत वक्रग्रीवाचार्य कुन्दकुन्दसे भिन्न थे। इसी तरह एलाचार्य नामका समर्थन भी अन्यत्रसे नहीं होता। रहा गृद्धपिच्छाचार्य नाम। सो श्रवणवेल गोलाके अनेक शिलालेखोंमें उमास्वातिको गृद्धपिच्छाचार्य कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रके अन्तमें पाये जाने वाले एक श्लोकमें भी गृद्धपिच्छसे युक्त उमास्वामीको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा है। किन्तु वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें गृद्धपिच्छाचार्यको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता कहा है। उन्होंने उमास्वाति या उमास्वामीका नाम ही नहीं लिया। ज्ञान प्रबोधमें पाई जाने वाली कथामें यह अवश्य लिखा है कि जब कुन्दकुन्द विदेह गये तो मार्गमें उनकी मयूर पिच्छिका गिर गई तब उन्होंने गृद्धके पखोंकी पिच्छिकासे काम चलाया। सभवतया इसी घटनासे गृद्धपिच्छचार्य ये नाम प्रवर्तित हुआ या नामकी सगति बैठानेके लिये उक्त घटनाकी प्रवृत्ति हुई यह कहना शक्य नहीं है। उमास्वातिके सम्बन्धमें भी श्रवण वेलगोलाके एक शिलालेखमें ऐसा पाया जाता है कि मयूर पिच्छ गिर जाने पर उन्होंने गृद्धपिच्छसे काम लिया। अत कुन्दकुन्द गिद्धपिच्छाचार्य थे या उमास्वाति गृद्धपिच्छाचार्य थे, अथवा गृद्धपिच्छाचार्य इन दोनोंसे अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति थे, यह अनुसन्धेय है।

कुन्दकुन्दका जन्मस्थान

इन्द्रनन्दिने आचार्य पद्म नन्दिको कुण्डकुन्दपुरका बतलाया है। फलत श्रवणबेलगोलाके कतिपय शिलालेखोंमें उनका नाम कोण्डकुन्द लिखा है। श्री पी० बी० देसाईने 'जैनिज्म' इन साउथ इण्डिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेल्वे स्टेशनसे दक्षिणकी ओर लगभग चार मील पर एक कोन कोण्डल नामका

---

१ पृ० १५२–१५७।

गांव है जो अनन्तपुर जिलेके गुटी तालुकेमें स्थित है। शिलालेखोंमें इसका प्राचीन नाम कोण्ड कुन्दे मिलता है। इस प्रान्तके अधिवासी आज भी इसे कोण्टकुन्दि कहते हैं। कनड में कुण्ड और कोण्ड शब्द का अर्थ पहाड़ी होता है। किन्तु जब ये शब्द किसी स्थान के नाम के साथ सम्बद्ध होते हैं तो उनका अर्थ होता है—पहाड़ी पर या उसके निकट बसा हुआ स्थान। यह अर्थ प्रकृत स्थानके साथ पूरा संघटित होता है। वर्तमानमें भी यह गांव एक पहाड़ी के बिलकुल निकट है। श्री देसाई इस स्थान पर स्वयं गये थे और उन्होंने पूरी छान-बीन की थी। उन्होंने लिखा है प्राचीनताकी दृष्टिसे इस स्थानका महत्त्व अनुपम है। यहां से अनेक शिला लेख प्राप्त हुए हैं। एक शिला लेख त्रुटित है। पंक्ति ३-१० में स्थान का वर्णन प्रतीत होता है। इसमें पद्म-नन्दि नाम दो बार आया है और उसके साथ में चारण भी है जो अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उससे कुन्दकुन्दका ग्रहण होता है। बाद को उसमें कुन्दकुन्दान्वयका भी उल्लेख है। श्री देसाईका कथन है कि कुन्दकुन्दका जन्म स्थान यही है। किन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि किस प्राचीन शिलालेखमें उक्त स्थानका नाम कोण्डकुन्दे लिखा हुआ है। यह बात सामने आने पर प्रकृत विषयमें एक निश्चय पर पहुंचनेमें विशेष मदद मिल सकती है।

कुन्दकुन्दके गुरु

जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें कुन्दकुन्दको कुमारनन्दि सिद्धान्त-देवका शिष्य बतलाया है और नन्दि संघकी पट्टावलीमें उन्हें जिनचन्द्रका शिष्य बतलाया है।

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० २२७ में कुमारनन्दि भट्टारकका नाम आता है। विद्यानन्दिने भी अपनी प्रमाण परीक्षामें कुमार नन्दिके नामसे एक कारिका उद्‌धृत की है। किंतु यह कुमारनन्दि दार्शनिक थे और इनका समय भी उतना प्राचीन नहीं है। तथा इनके साथ सिद्धान्तदेवका विशेषण भी नहीं मिलता। इनके सिवाय अन्य किसी कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवका पता नहीं चलता। तथा सिद्धान्त देव उपाधि भी विशेष प्राचीन नहीं है। श्रवण बेलगोलाके शिलालेखोंमें कई विद्वानोंके नामोंके साथ इसका उपयोग हुआ मिलता है। यथा, प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव, देवेन्द्र सिद्धान्त देव, शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव। ये सभी दसवीं शताब्दीके लगभग हुए हैं। अत जयसेनका उक्त कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके सिवाय नन्दिसंघकी पट्टावलीमें

जिनचन्द्रको कुन्दकुन्दका गुरु बतलाया है और वे जिनचन्द्र माघनन्दिके शिष्य हैं। जिनचन्द्रके गुरुत्वका भी अन्यत्रसे समर्थन नहीं होता। फिर भी पट्टावलीके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे कुन्दकुन्दके गुरु थे।

किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने अपने बोध पाहुड़के अन्तमें अपने गुरुके रूपमें भद्रबाहुका स्मरण किया है और अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोध पाहुड़के अन्तकी दो गाथाएं इस प्रकार हैं:—

> सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
> बारसअंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
> सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

पहली गाथामें कहा है कि 'जिनेन्द्रने-भगवान महावीरने—अर्थ रूपसे जो कथन किया है वह भाषा सूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूंथा गया है। भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उसको उसी रूपमें जाना है और कथन किया है। दूसरी गाथामें कहा है—'बारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमकगुरु भगवान श्रुतज्ञानी—श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवन्त हों।

ये दोनों गाथाएं परस्परमें सम्बद्ध हैं। पहली गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको जिस भद्रबाहुका शिष्य कहा है दूसरी गाथामें उन्हींका जयकार किया है। और वे भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे नहीं हैं, यह दूसरी गाथासे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। और इसका समर्थन कुन्दकुन्दके समयप्राभृतकी प्रथम[1] गाथासे भी होता है। उसके उत्तरार्धमें उन्होंने कहा है कि 'श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समय प्राभृतको कहूँगा।' यह श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे नहीं हो सकते। श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखों[2] में यह बात अंकित है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ भद्रबाहु वहाँ पधारे थे और वहीं एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ था। इस घटनाको अनेक विद्वानोंने ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार किया है। और

---

१ वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते। वोच्छामि समय-पाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

२ शिला लेख संग्रह भा. १, में लेख नं० १, १७-१८, ४०, ५४, १०८॥

प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उनको अनुपम औषध ऋद्धि प्राप्त थी, विदेह क्षेत्रमें स्थित जिनदेवके दर्शनसे उनका शरीर पवित्र हो गया था तथा उनके चरणोंके धोये हुए जलके स्पर्शसे उस समय लोहा सोना हो गया था।

उमा स्वाति और पूज्यपाद विषयक उक्त उल्लेख दर्शनसारसे बहुत अर्वाचीन है। पूज्यपाद विषयक उक्त शिला लेख तो विक्रम सं० १४९० का है अर्थात् दर्शनसारसे ५०० वर्ष पश्चात्का है। इसलिये प्राचीनतम कथन तो कुन्द-कुन्दके विषयमें ही पाया जाता है। तथापि अभी उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके लिये अभी और भी अनुसंधानकी आवश्यकता है।

कुन्द-कुन्दका समय

आचार्य श्रीकुन्दकुन्दके समयके विषयमें प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० उपाध्येने अपनेसे पूर्वके मतोंका दिग्दर्शन कराते हुए विस्तारसे विचार किया है।

परम्परागत मत—नन्दीसंघकी पट्टावलीके अनुसार विक्रम सम्वत् ४९ में कुन्दकुन्द स्वामी पट्ट पर बैठे। पट्टावलीकी विभिन्न प्रतियोंमें अंतर भी पाया जाता है। डा० हार्नले के द्वारा इण्डियन ऐण्टीक्वेरी जि० २१ में प्रकाशित तीन दिगम्बर पट्टावलियोंमें से 'इ' पट्टावलीमें कुन्दकुन्दके पट्टाभिषेकका समय वि० सं० १४९ दिया है। अर्थात् दोनोंमें एकसौ वर्षोंका अंतर है।

विद्वज्जन बोधकमें एक श्लोक उद्धृत है जिसमें कुन्दकुन्द और उमास्वामीको समकालीन बतलाया है और उनका समय वीर निर्वाण सम्वत् ७७० (विक्रम सं० ३००) बतलाया है। इनमेंसे वि० सं० ४९ वाली मान्यता ही जैन परम्परामें विशेष रूपसे प्रचलित है। इस तरह यह कुन्दकुन्दके समयके विषयमें परम्परागत मत है।

श्रीप्रेमीजीका मत—जैनहितैषी भाग १० में आजसे कई दशक पूर्व श्री युत प्रेमीजीने आचार्य कुन्दकुन्दके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर उनका समय निर्धारण करते हुए लिखा था कि वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक अंग ज्ञानकी परम्परा चालू रही। इसके पश्चात् श्रुतावतारके अनुसार चार आचार्य हुए जो अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता थे। उनके पश्चात् क्रमसे अर्हद्वली, माघनन्दि और धरसेन हुए। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृतके ज्ञाता थे। उन्होंने भूतबली

शिलालेखोंमें[1] उन्हें चारण ऋद्धिका धारी बतलाया है। जैन शास्त्रोंमें जो ऋद्धियाँ बतलाई हैं उनमें चारणऋद्धि भी है और उसके अनेक भेद हैं। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें सैकड़ों योजन तक गमन करनेको चारण ऋद्धि कहते हैं। और पालथी लगाकर या कायोत्सर्गसे स्थित होकर, पैर संचालनके बिना आकाशमें गमन करनेको आकाशगामी ऋद्धि कहते हैं। पुरातन इस तरहकी ऋद्धिके धारी मुनियोंकी कथाएं आती हैं। किन्तु यदि कुन्दकुन्दने सीमन्धर स्वामीकी वाणी सुन करके ग्रंथ रचना की होती तो वे अपने समयप्राभृतको श्रुतकेवलीभणित न कहते, और श्रुतकेवलीको अपना गुरु न कहकर सीमन्धर स्वामीको या केवली भगवानको अपना गुरु कहते। अतः इस विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि यह किंवदन्ती एकदम आधुनिक नहीं है, प्राचीन है, तथापि कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंसे इस तरहका कोई आभास नहीं मिलता।

हाँ, अपने प्रवचनसारकी तीसरी गाथामें[2] कुन्दकुन्दने मनुष्यक्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में वर्तमान अरहन्तोंको नमस्कार किया है। उसका उल्लेख करते हुए डा० उपाध्येने लिखा[3] है कि इस गाथाको उक्त किंवदन्तीके प्रादुर्भाव अथवा सबल करनेके रूपमें बतलानेका मुझे लोभ होता है। चूँकि कुन्दकुन्दने यहाँसे विदेह क्षेत्रमें वर्तमान सीमन्धर स्वामीको नमस्कार किया है इसलिये वे विदेह क्षेत्र गये थे।'

इस विषयमें एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि विदेह जानेकी किंवदन्ती उमास्वामी और पूज्यपादके विषयमें भी प्रचलित है। बम्बईसे प्रकाशित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी प्रस्तावनामें लिखा है कि अपनी तत्त्व शंकाका समाधान करनेके लिये उमास्वामी विदेह क्षेत्र गये थे। उनकी मयूर पिच्छी मार्गमें गिर गई। तब उन्होंने गृद्धके पिच्छसे काम चलाया। इसीसे गृद्धपिच्छाचार्य कहलाये। राजावलिकथेमें लिखा है कि पूज्यपाद पैरोंमें औषधिका लेप करके उसके प्रभावसे विदेह गये थे। श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेख[4] में पूज्यपादकी

---

१ 'तत्संयमादुद्गत चारणर्द्धि' शि० ले० ४०। 'चारित्रसंजात सुचारणर्द्धिः' शि० ले० नं० ४२। २ 'वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥'— प्र० सा०। ३ प्र० सार० प्रस्ता० पृ० ६।

४—श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि र्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।

यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥१७॥

—शि० सं०, भा० १, पृ० २११।

प्रशसा करते हुए लिखा है कि उनको अनुपम औषध ऋद्धि प्राप्त थी, विदेह क्षेत्रमें स्थित जिनदेवके दर्शनसे उनका शरीर पवित्र हो गया था तथा उनके चरणोंके धोये हुए जलके स्पर्शसे उस समय लोहा सोना हो गया था।

उमा स्वामि और पूज्यपाद विषयक उक्त उल्लेख दर्शनसारसे बहुत अर्वाचीन है। पूज्यपाद विषयक उक्त शिला लेख तो विक्रम स० १४१० का है अर्थात् दर्शनसारसे ५०० वर्ष पश्चात्का है। इसलिये प्राचीनतम कथन तो कुन्द-कुन्दके विषयमें ही पाया जाता है। तथापि अभी उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार नही किया जा सकता। उसके लिये अभी और भी अनुसधानकी आवश्यकता है।

कुन्द-कुन्दका समय

आचार्य श्रीकुदकुदके समयके विषयमें प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० उपाध्येने अपनेसे पूर्वके मतोंका दिग्दर्शन कराते हुए विस्तारसे विचार किया है।

परम्परागत मत—नदीसघकी पट्टावलीके अनुसार विक्रम सम्वत् ४९ में कुदकुद स्वामी पट्ट पर बैठे। पट्टावलीकी विभिन्न प्रतियोंमें अतर भी पाया जाता है। डा० हार्नले के द्वारा इण्डियन ऐण्टीक्वेरी जि० २१ में प्रकाशित तीन दिगम्बर पट्टावलियोंमें से 'इ' पट्टावलीमें कुदकुदके पट्टाभिषेकका समय वि० स० १४९ दिया है। अर्थात् दोनोंमें एकसौ वर्षोंका अतर है।

(विद्वज्जन बोधकमें एक श्लोक उद्धृत है जिसमें कुदकुद और उमास्वामीको समकालीन बतलाया है और उनका समय वीर निर्वाण सम्वत् ७७० (विक्रम स० ३००) बतलाया है।) इनमेंसे वि० स० ४९ वाली मान्यता ही जैन परम्परामें विशेष रूपसे प्रचलित है। इस तरह यह कुदकुदके समयके विषयमें परम्परागत मत है।)

श्रीप्रेमीजीका मत—जैनहितैषी भाग १० में आजसे कई दशक पूर्व श्री युत प्रेमीजीने आचार्य कुदकुदके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर उनका समय निर्धारण करते हुए लिखा था कि वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक अग ज्ञानकी परम्परा चालू रही। उसके पश्चात् श्रुतावतारके अनुसार चार आचार्य हुए जो अगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता थे। उनके पश्चात् क्रमसे अर्हद्बली, माघनन्दि और धरसेन हुए। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृतके ज्ञाता थे। उन्होंने भूतबली

और पुष्पदन्तको महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढ़ाया और उन दोनोंने षट्खण्डागमके सूत्रोंकी रचनाकी और उन्हें लिपिबद्ध कर लिया।

उधर गुणधर आचार्यने कसाय पाहुडको गाथा सूत्रोंमें निबद्ध किया और आर्यमंक्षु तथा नागहस्तीको पढ़ाया। उनसे उन गाथासूत्रोंको पढ़कर यतिवृषभने उनपर छ हजार प्रमाण चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। उच्चारणाचार्यने उन्हें पढ़कर उनपर १२ हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणा वृत्ति रची।

ये दोनों सिद्धान्त ग्रंथ कुन्दकुन्दपुरवासी पद्मनन्दिको प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची।

(इससे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद हुए। अत ६८३ वर्षके पश्चात होने वाले धरसेन आदि आचार्योंका अनुमानित रूपमें थोड़ा सा समय निर्धारित करके प्रेमी जी इस परिणाम पर पहुँचे है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए होंगे।)

प्रेमी जीके निर्णयका दूसरा आधार यह किंवदन्ती है जिसके अनुसार उर्जयन्त गिरिपर कुन्दकुन्दका श्वेताम्बरोंके साथ विवाद हुआ था।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे, विशेषतया सुत्तपाहुडसे यह ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द-के समय में जैन परम्परामें श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद हो गया था।

(देवसेन के दर्शन सारके अनुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद हुआ था। प्रेमी जीने दर्शनसारमें प्रदत्त कालको शालिवाहन शक समझकर श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय १३६+१३५=२७१ विक्रम सम्वत् निर्धारित किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि कुंदकुंद अवश्य ही इस समयके पश्चात् हुए है। अत इस हिसाब से भी कुंदकुंद का समय विक्रम सम्वत की तीसरी शताब्दीका अन्तिम चरण होता है। यह प्रेमी जीके मतका[१] सार है। उनके मतानुसार कुन्दकुन्द किसी भी तरह वीर निर्वाण ६८३ से पूर्व नहीं हो सकते)

डा० पाठकका[२] मत — जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थासे प्रकाशित समय-

---

१ नये तथ्योंके प्रकाशमें आनेसे प्रेमीजीका उक्त मत परिवर्तित हो गया था यह उनके षट्प्राभृतादि संग्रह की भूमिका से प्रकट होता है। प्रेमी जी के उक्त मतको हमने प्रवचनसारकी डा० उपाध्ये लिखित प्रस्तावना से दिया है।

२ यह मत षट्प्राभृतादि संग्रह (मा० ग्र० मा० बम्बई) की प्रेमी जी लिखित भूमिका से उद्धृत किया गया है।

प्राभृतकी भूमिकामें स्व० डा० के० बी० पाठकका यह मत प्रकाशित हुआ था कि कुन्दकुन्दाचार्य वि० स० ५८५ के लगभग हुए हैं। अपने मतकी पुष्टिमें उन्होंने लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूटवंशी राजा तृतीय गोविन्द राज्य करता था उस समयका शक सम्वत् ७२४ का लिखा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें निम्नलिखित पद्य दिये हैं—

कोण्डकोन्दान्वयोदारो गणोऽभूद् भुवनस्तुत ।
तदेतद् विषयविख्यात शाल्मलीग्राममावसन् ॥
आसीद (?) तोरणाचार्यस्तप फलपरिग्रहः ।
तत्रोपशमसभूतभावनाऽपास्तकल्मश ॥
पण्डित पुष्पनन्दीति वभूव भुवि विश्रुत' ।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चद्रमा इव ॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिर्निरस्तदोषो व्यपेतहृदयमल ।
परिभूतचन्द्रविम्बस्तच्छिष्योऽभूत्प्रभाचन्द्रः ॥

उक्त तृतीय गोविन्द महाराजके ही समयका शक सं० ७१९ का एक और ताम्रपत्र मिला है जिसमें नीचे लिखे पद्य है—

आसीद (? तोरणाचार्यः काण्डकुन्दान्वयोद्भव ।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मलीग्राममाश्रित ॥
निराकृततमोऽराति स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोद्योतितक्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो वभौ ॥
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणी ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥

इन दोनों लेखोंका अभिप्राय यह है कि कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य नामके मुनी इस देशमें शाल्मली नामक ग्राममें आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनन्दि और पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

(पाठकजीका कहना है कि पिछला ताम्रपत्र जब शक सम्वत् ७१९ का है तो प्रभाचन्द्रके दादागुरु तोरणाचार्य शक स० ६०० के लगभग रहे होंगे। और तोरणाचार्य कुंदकुंदान्वयमें हुए हैं। अतएव कुंदकुंदका समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक स० ४५० के लगभग माननेमें कोई हानि नहीं।)

(चालुक्यवंशी कीर्ति महाराजने वादामी नगरमें शक सम्वत् ५०० में प्राचीन कदम्बवंशका नाश किया था। और इसलिये इससे लगभग ५० वर्ष पूर्व

कदम्बवंशी महाराज शिवमृगेशवर्मा राज्य करते थे ऐसा निश्चित होता है। पञ्चास्तिकायके कनडी टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधके लिये रचा था और ये शिवकुमार शिवमृगेशवर्मा ही जान पड़ते हैं। अतएव भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका समय शक सम्वत् ४५० (वि० सं० ५८५) सिद्ध होता है। यह स्व० डा० के० बी० पाठकका मत है।

डा० ए० चक्रवर्तीका मत—प्रो० ए० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी प्रस्तावनामें प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दि संघकी पट्टावलियों के आधार पर कुन्दकुन्दको पहली शताब्दीका विद्वान माना है और यह सूचित किया है कि कुन्दकुन्द वि० स० ४९ में आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्यपद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन थी।

अपने इस मतके समर्थनका प्रयत्न करते हुए प्रो० चक्रवर्तीने इस बातपर जोर दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविड संघके थे। उन्होंने मल्लिषेण नामक एक पुस्तकसे नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है—

> दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
> एलाचार्यो नाम्ना द्रविलगणाधीशो धीमान्॥

प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि श्लोकमें कथित प्रदेश द्रविड देशमें खोजे जा सकते हैं। और कुन्दकुन्द द्रविड देशके वासी थे तथा उनका एक नाम एलाचार्य था। जैन परम्पराके अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध तमिलग्रन्थ कुरलके रचयिता थे। एलाचार्यने कुरलको रचा और अपने शिष्य तिरुवल्लुवरको दे दिया और उसने उसे मदुरासंघको भेंट कर दिया। एलाचार्यका दूसरा नाम एलालसिंघ था। एलालसिंह तिरुवल्लुवरका साहित्यिक संरक्षक माना जाता है। कुरलका जैनगुरु एलाचार्यके द्वारा रचित होना अन्य तथ्योंसे भी समुचित प्रतीत होता है। यथा—कुरलका नैतिकस्वर, सर्वोत्तम धन्धेके रूपमें कृषिकी पल्लव लोगोंसे जिनसे द्रविड देशमें जैन धर्मके प्राथमिक अनुयायी बनाये, प्रशंसा।

कुरलके कर्ताके साथ एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्दकी एकरूपता कुरलको ईस्वीकी प्रथम शताब्दिमें ला रखती है। किन्तु यह सर्वथा असंभव नहीं है। कुरल शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलासे प्राचीन है। 'शिलप्पदिकारम्' की रचना वञ्जीके चेरवंशी राजा सेंगुत्तुवन् सेयके छोटे भाईने की थी और मणिमेखले

की रचना उसीके समकालीन मित्र कुल वनिकन् सत्तनर ने की थी। देवी मन्दिर (शिलप्पदिकारम्) की प्रतिष्ठाके समय श्रीलकाका गजबाहु उपस्थित था। अत कुरल उससे भी प्राचीन है। इसलिये इससे भी कुन्दकुन्दके पट्टावली प्रतिपादित समयका ही समर्थन होता है।

आगे प्रो० चक्रवर्तीने डा० पाठकके मतका निराकरण किया है। डा० पाठकने प्राचीन कदम्ब नरेश श्री विजय शिव मृगेश महाराजको पचास्तिकायमें निर्दिष्ट शिवकुमार महाराज बतलाया है, क्योंकि उसके समयमें जैनधर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर रूपमें विभाजित हो गया था और कुन्दकुन्दने स्त्री मुक्तिका निषेध करके श्वेताम्बर मान्यतापर प्रहार किया है।

प्रो० चक्रवर्तीने डा० पाठककी इस बातको तो मान्य किया है कि कुन्दकुन्द श्वेताम्बर दिगम्बर भेदके पश्चात् हुए हैं। किन्तु प्राचीन कदम्बनरेश शिवमृगेश महाराजको शिवकुमार महाराज माननेसे इकार किया है क्योंकि कुन्दकुन्दके समयसे कदम्बराजवशका समय बहुत बादका है। प्रो० चक्रवर्तीने पल्लववशके शिवस्कन्दको शिवकुमार महाराज बतलाया है, क्योंकि स्कन्द और कुमार शब्द एकार्थक हैं। तथा उसे युव महाराज भी कहते थे जो कुमार महाराजका ही समानार्थक है।

पल्लव नरेश थोण्डमण्डलम् पर राज्य करते थे। उनकी राजधानी काञ्जीपुरम् थी। काञ्जीपुरम्के राजा शिक्षा प्रेमी थे। तथा थोण्डमण्डलम् विद्वानों की भूमि था। अनेक महान् द्रविड विद्वान, जैसे कुरलके कर्ता आदि थोण्डमण्डलम्के थे। ईस्वी सन्की दूसरी शताब्दीमें काञ्जीपुरम्की बड़ी ख्याति भी थी। उसके आस पास जैनधर्मका फैलाव था। अत यदि ईसाकी प्रथम शताब्दीमें काञ्जीपुरम्के पल्लव नरेश जैनधर्मके सरक्षक रहे हों अथवा स्वय जैनधर्मके पालक रहे हों तो यह असभव नहीं है, इसके सिवाय मयिदावोल दान पत्रकी भाषा प्राकृत है और वह दान काञ्जीपुरम्के शिवस्कन्दवर्माने दिया था। इस दान पत्रका आरम्भ 'सिद्धाण' से होता है। तथा मथुराके शिलालेखोंसे इसकी गहरी समानता है। ये बातें दाता नरेशके जैनधर्मकी और झुकावकी सूचक हैं। अन्य भी अनेक शिला लेखोंसे स्पष्ट है कि पल्लव नरेशोंके राज्यकी भाषा प्राकृत थी। और कुन्दकुन्दने अपने ग्रथ प्राकृतमें ही रचे थे। अतः प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कुदकुदने जिस शिव कुमार महाराजके लिये प्राभृत रचे थे वह पल्लव नरेश शिवस्कंद थे यह बहुत कुछ संभाव्य है।

(पं० जुगल किशोर जी मुख्तारका मत—श्री पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने 'समन्तभद्र'[1] नामक अपने निबन्धमें समन्तभद्रके काल निर्णयके प्रसंगसे कुन्दकुन्द स्वामीके काल पर भी विस्तारसे विचार किया है। सबसे प्रथम उन्होंने विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत श्लोककी चर्चा की है जिसमें लिखा है कि वीर निर्वाणसे ७७० वर्ष बाद उमास्वाति तथा कुन्दकुन्द हुए। और अनेक विप्रतिपत्तियाँ दिखाते हुए नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दिये काल वि० सं० ४९-१०१ को भी पट्टावलीकी हालत देखते हुए सहसा विश्वसनीय नहीं माना है। और इस लिये इन आधारोंको उन्होंने प्रकृत विषयके निर्णयार्थ उपयोगी नहीं स्वीकार किया है। ऐसी दशामें दूसरे किसी मार्गसे कुन्दकुन्दका ठीक समय उपलब्ध करनेके लिये उन्होंने भी इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारको आधार बनाया है तथा प्रेमी जीकी तरह वह भी इसी निष्कर्षपर पहुंचे हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ से पहले नहीं हुए, पीछे हुए हैं। किंतु कितने पीछे हुए हैं यह स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने लिखा है कि यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यके बाद होनेवाले चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाये तो यह सहजमें ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर निर्वाणसे ७६३ (६८३+२०+६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समयके करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत पद्यमें दिया है। और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।)

(इसके बाद मुख्तार साहबने नन्दिसंघकी पट्टावलीकी चर्चा उठाई है और लिखा है कि उसमें वीरनिर्वाणसे भूतबलि पर्यन्त ६८३ वर्षकी गणना की है। यदि इसे ठीक मान लिया जाये और यह स्वीकार कर लिया जाये कि भूतबलिका अस्तित्व वीरनिर्वाण सम्वत् ६८३ तक रहा है तो भूतबलिके बाद कुन्दकुन्दकी प्रादुर्भूतिके लिए कमसे कम २०-३० वर्षकी कल्पना और भी करनी होगी क्योंकि कुन्दकुन्दको दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरुपरिपाटीके द्वारा प्राप्त हुआ था। इस तरहसे कुन्दकुन्दके समयका प्रारम्भ वीर निर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है। परन्तु यदि यही मान लिया जाये कि वीर

---

१ मा० ग्रं० माला बम्बईसे प्रकाशित रत्नकरंड श्रावकाचारके आदिमें 'समन्तभद्र' नामक निबन्ध, पृ० १५८ आदि।

निर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्द हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम सम्वत् २१३ के बाद हुए है, उससे पहले नहीं। यही प० नाथूराम जी प्रेमी आदि अधिकाश जैन विद्वानोंका मत है। इसमें मुख्तार सा० ने इतना और जोड़ दिया है कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका देह जन्म मानते हुए, उसका विक्रम सवत् यदि राज्य सम्वत् है तो उससे १६५ वर्ष बाद और यदि मृत्यु सम्वत् है तो उससे १३३ वर्ष बाद कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं।

आगे मुख्तार साहबने डा० पाठकके मतकी समीक्षा करते हुए पञ्चास्तिकायके शिवकुमार महाराज विषयक उल्लेखको बहुत कुछ आधुनिक बतलाया है क्योंकि मूल ग्रन्थमें उसका कोई उल्लेख नहीं है और न अमृतचन्द्राचार्यकी टीका परसे ही उसका समर्थन होता है। फिर भी मुख्तार साहबने शिवमृगेश वर्माके साथ शिवकुमार महाराजके समीकरणकी अपेक्षा पल्लव नरेश शिवस्कन्द वर्माके साथ उनके समीकरणको अच्छा बतलाया है। किन्तु कुन्दकुन्दका एलाचार्य नाम था इस बातको अमान्य किया है। तथा पट्टावलिके आधार पर प्रो० चक्रवर्ती द्वारा निर्धारित किये गये समय ईसाकी प्रथम शताब्दीमें भी अनेक अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं। और अन्तमें कुन्दकुन्द कृत बोध पाहुडकी ६१ वीं गाथाके आधार पर कुन्दकुन्दको द्वितीय भद्रबाहुका शिष्य स्वीकार किया है। किन्तु पट्टावलीमें जो द्वितीय भद्रबाहुका समय वि० स० ४ दिया है उसे युक्तियुक्त नहीं माना।

डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें उक्त सब मत देकर उसके आधार पर कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें नीचे लिखे मुद्दे विचारणीय रखे हैं। हम भी यहाँ उनपर अपने ढगसे विचार करेंगे।

१—श्वे० दि० सघ भेद हो जानेके पश्चात् कुन्दकुन्द हुए।

२—कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य है।

३—इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका ज्ञान गुरु परम्परासे कुन्दकुन्द पुरमें पद्मनन्दिको प्राप्त हुआ और उन्होंने पट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंपर टीका ग्रन्थ लिखा।

४—जयसेन और बालचन्द्रकी टीकाओंके उल्लेखके अनुसार कुन्दकुन्द शिवकुमार महाराजके समकालीन थे।

५—कुन्दकुन्द तमिल ग्रन्थ कुरलके रचयिता है।

इन पाँचों मुद्दोंको दो भागोंमें रखा जा सकता है। पहले भागमें प्रारम्भके दो मुद्दोंको रखा जा सकता है क्योंकि उन दोनोंका आधार स्वयं कुन्दकुन्दका साहित्य है। और शेष तीन मुद्दोंको दूसरे भागमें रखना उचित होगा क्योंकि उनका आधार अन्यकृत उल्लेखादि हैं।

संघभेद के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए

पहले लिख आये हैं कि कुन्दकुन्दने अपने बोधप्राभृतकी अन्तिम गाथामें श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयकार किया है और उससे पहली गाथामें अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। अतः यह निर्विवाद है कि कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका ही शिष्य बतलाया है। और श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ ही दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी घटनाका घनिष्ट सम्बन्ध है।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् तीन केवली हुए गौतम गणधर, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी। तथा केवल ज्ञानियोंके पश्चात पाँच श्रुतकेवली हुए। जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भगवान महावीरके संघमें हुए आरातीय पुरुषोंमें भद्रबाहु श्रुतकेवली ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों अपना धर्मगुरु मानते हैं। किन्तु श्वेताम्बर अपनी स्थविर परम्पराको भद्रबाहुके नामसे न चलाकर भद्रबाहुके गुरुभाई संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे चलाते हैं। और उनकी गणना भी श्रुतकेवलियोंमें करते हैं।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका भयकर दुर्भिक्ष पड़नेकी घटनासे श्वेताम्बर साहित्य भी सहमत है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार भद्रबाहु मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्तके साथ अपने संघको लेकर दक्षिण भारत को चले गये थे। और वहाँ कटवप्र नामक पहाड़ पर, जो वर्तमानमें चन्द्रगिरि कहलाता है और मैसूर प्रदेशके श्रवण बेलगोला नामक स्थानमें स्थित है, उनका स्वर्गवास हुआ था। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वे नैपाल देशकी ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो पाटलीपुत्रमें साधुसंघ एकत्र हुआ और सबकी स्मृतिके आधारपर ग्यारह अंगोंका संकलन किया गया। किन्तु बारहवें दृष्टिवाद अंगका संकलन न हो सका, क्योंकि उसका ज्ञाता भद्रबाहुके सिवाय कोई दूसरा न था।

तब संघने भद्रबाहु को बुलानेके लिये दो मुनियोंको भेजा। उन्होंने कहला दिया कि मैंने महा प्राण नामक ध्यानका आरम्भ किया है। उसकी साधना में बारह वर्ष लगेंगे। अतः मैं नहीं आ सकता। इस उत्तरसे रुष्ट

होकर संघने पुन दो मुनियोंको उनके पास भेजा और उनसे कहा कि वह जाकर भद्रबाहुसे पूछना कि जो मुनि संघके शासनको न माने तो उसे क्या दण्ड देना चाहिये। यदि वह कहें कि उसे संघबाह्य कर देना-चाहिये तो उनसे कहना कि आप भी इसी दण्डके योग्य हैं। दोनों मुनियोंने जाकर भद्रबाहुसे वही प्रश्न किया और उन्होंने वही उत्तर दिया। 'तित्थोगाली पइन्नय' में लिखा है कि भद्रबाहु के उत्तरसे नाराज होकर स्थविरों ने कहा—संघकी प्रार्थना का अनादर करनेसे तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा इसका विचार करो। भद्रबाहुने कहा—मैं जानता हूँ कि संघ इस प्रकार वचन बोलनेवालेका बहिष्कार कर सकता है। स्थविर बोले—तुम संघकी प्रार्थनाका अनादर करते हो इसलिये श्रमण संघ आजसे तुम्हारे साथ बारहों प्रकारका व्यवहार बन्द करता है।'

अत यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि भद्रबाहु श्रुत केवलीके समयमें अवश्य ही ऐसी घटना घटी जिसने अखण्ड जैन परम्परामें भेद पैदा कर दिया। और उस भेदका मुख्य कारण साधुओंके द्वारा वस्त्र धारण किया जाना था। यह बात दिगम्बर तथा श्वेताम्बर नामसे ही स्पष्ट होजाती है। स्त्रीकी मुक्ति होने न होने का प्रश्न भी उसीसे सम्बद्ध है। प्रारम्भमें ये ही दो प्रश्न मुख्य रूपसे संघभेदके कारण हुए। और कुन्दकुन्दने अपने प्राभृतोंमें इन्हीं दोनों पर जोर दिया है। उदाहरणके लिये सूत्र प्राभृतको उठाकर देखें। उसमें कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंङ्कर भी हो तो जिन शासनमें उसे मुक्ति नहीं कही है। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं ॥ २३ ॥ स्त्रियोंकी योनि नाभि, काँख और स्तनोंके मध्यमें सूक्ष्म जीव आगममें कहे हैं उनको प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) कैसे दी जा सकती है ॥ २४ ॥ अत यह निश्चित है कि कुन्दकुन्द संघ भेदके पश्चात् हुए हैं।

दर्शन[1] सारमें लिखा है कि विक्रमराजाकी मृत्युसे १३६ वर्ष बीतने पर सौराष्ट्रकी वलभी नगरीमें श्वेतपट संघ उत्पन्न हुआ और श्वेताम्बरोंके अनुसार वीर निर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत १३९ में बोटिकों की उत्पत्ति हुई। चूँकि जैन ग्रन्थोंमें विक्रम संवत्को विक्रमकी मृत्युसे प्रवर्तित बतलाया है और श्वेताम्बर साहित्यमें वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम

---

१ छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥—दर्शनसार।

सम्वत् की उत्पत्ति बतलाई है। अत: दोनों कालोंमें केवल ३ वर्षका अन्तर है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि संघभेद विक्रम संवत् १३६ या १३६ में ही हुआ। संघ भेदका सूत्रपात तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें ही हो चुका था। फिर वह धीरे धीरे बढ़ता चला गया। संघभे'के उक्त निर्दिष्टकाल और भद्रबाहुके बीचमें लगभग ४०० वर्षका अन्तर है। इतने सुदीर्घकालमें पनपते पनपते वि०सं० १३६ में उसने स्पष्ट और दृढ़ रूप लेलिया।

दर्शनसारमें लिखा है कि वि० स० २०५ में यापनीय संघ स्थापित हुआ। यह संघ, जैसा कि इसके नामसे प्रकट होता है, एक निर्वाह परक संघ था जो कुछ बातोंमें दिगम्बर परम्पराका अनुयायी था और कुछ बातोंमें श्वेताम्बर परम्पराका। इसके मुनि नग्न रहते थे मगर यह सम्प्रदाय स्त्री मुक्ति मानता था। उधर कुन्दकुन्दने जहाँ नग्नताका समर्थन किया वहाँ स्त्री को प्रव्रज्या तकका निषेध किया। अतः विक्रम की दूसरी शताब्दीमें अवश्य ही ऐसी स्थिति हो गई थी जब उक्त दोनों विषयों पर खुलकर चर्चा होने लगी थी, इसीसे कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोंमें उनकी चर्चा की है। अत कुन्दकुन्दका ऐसे समयके लगभग होना ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

अब हम दूसरे भागके प्रथम मुद्दे पर विचार करेंगे, जिसे श्री प्रेमीजी और मुख्तार साहब जैसे जैन इतिहासज्ञोंने कुन्दकुन्दके समय निर्णयके लिये आधार भूत माना है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि दोनों सिद्धान्तोंकी प्राप्ति कुन्दकुन्द पुरके पद्मनन्दिको हुई। यह कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि वही हैं जिनके सम्बन्धमें यहाँ विचार किया जा रहा है, क्योंकि कुन्दकुन्दपुरके साथ सम्बद्ध दूसरे पद्मनन्दि नहीं है। कुन्दकुन्दपुरके कारण ही पद्मनन्दि कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। अत. इन्द्रनन्दिने द्विविध सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्राप्ति होनेका उल्लेख उन्हींके सम्बन्धमें किया है और लिखा है कि उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ (ग्रन्थ-परिकर्मकर्ता) रचा। चूँ कि वह परिकर्म नामका ग्रन्थ आदिके तीन खण्डों पर रचा गया था इस लिये उसे टीका समझा गया है। मगर इन्द्रनन्दिने उसका निर्देश टीका या व्याख्या शब्दसे नहीं किया, जब कि शामकुण्डाचार्य-की कृतिको पद्धति, तुम्बूलूराचार्यकी कृतिको व्याख्या और समन्तभद्रकी कृतिको टीका स्पष्ट रूपसे कहा है। अस्तु

अब हम देखेंगे कि क्या कोई परिकर्म नामक ग्रन्थ षट्खण्डागमके तीन खण्डोंपर रचा गया था और क्या उसके कर्ता कुन्दकुन्द थे।

परिकर्म और उसके कर्तृत्व पर विचार

धवला टीकामें परिकर्म नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है, और उससे अनेक उद्धरण भी लिए गये हैं। यह परिकर्म किसके द्वारा रचा गया था इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है, और न उसे षट्खण्डागमका व्याख्या ग्रन्थ ही कहा है। किन्तु धवला टीकामें उसके उद्धरणोंका बाहुल्य देखकर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि यह परिकर्म इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट परिकर्म ग्रन्थ तो नहीं है ? इसके लिये धवलामें प्रदत्त परिकर्म सम्बन्धी उद्धरणोंका पर्यवेक्षण करना उचित होगा। उससे पहले यह बता देना उचित है कि परिकर्मका उल्लेख प्रथम खण्ड जीवट्ठाणकी धवला टीकामें विशेष रूपसे पाया जाता है। इस खण्डके द्रव्य प्रमाणानुगम नामक अनुयोग द्वारमें जीवोंकी संख्याका कथन है। और उसके समर्थनमें परिकर्मके उद्धरण विशेष दिये गये हैं। उद्धरणोंके देखनेसे ऐसा प्रतिभास होता है कि परिकर्मका मुख्य विषय शायद गणित है जैसा कि उसके 'परिकर्म' नामसे प्रकट भी होता है। अस्तु, कुछ उद्धरण इस प्रकार है -

१ 'ण च एध वक्खाणं 'जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणित्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झदि त्ति'—पु० ३, पृ० ३६। 'और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने छेद हैं उतने राजुके अर्धच्छेद हैं, इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता।'

२ 'जं तं गणणासंखेज्जं तं परियम्मे वुत्तं'—पु० ३, पृ० १२४। 'वह जो गणना संख्यात है उसका कथन परिकर्ममें है।'

३ 'रज्जू सत्त गुणिदा जगसेढि, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिद-जगपदरं घणलोगो होदिति' परियम्मसुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसंगादो च।—पु० ४, पृ० १८४। 'रज्जुको सातसे गुणा करनेपर जगश्रेणी होती है। जगश्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगत्प्रतर होता है और जगत्प्रतरको जगत्प्रतरसे गुणा करनेपर घन लोक होता है' इस सर्व आचार्योंसे सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका प्रसंग भी आता है।'

४ 'जदि सुदणाणिस्स विसओ अणंतसंखा होदि तो जमुक्कस्ससंखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्सेत्ति परियम्मे वुत्तं तं कधं घडदे ?'—पु० ६, पृ० ५६।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त संख्या है तो चौदह पूर्वोंका विषय उत्कृष्ट संख्यात है ऐसा जो परिकर्ममें कहा है वह कैसे घटित होता है ?

५. एदे जोगाविभागिपडिच्छेदा य परियम्मे वग्गसमुट्ठिदा त्ति परूविदा—पु० १०, पृ० ४८३।

परिकर्ममें इन योगोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्ग समुत्थित बतलाया है।

६. 'अपदेस णेव इंदिए गेज्झं' इति परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासंकणिज्जं, पदेसो णाम परमाणू, सो जम्हि परमाणुम्हि समवेद-भावेण णत्थि सो परमाणु अपदेसओत्ति परियम्मे वुत्तो। तेण ण णिरवयवत्तं तत्तो गम्मदे—पु० १३, पृ० १८।

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता' इस प्रकार परमाणुओंका निरवयवपना परिकर्ममें कहा है।' ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्यों कि प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नहीं है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है। अतः परमाणु निरवयव है यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती।

उक्त उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय शायद सैद्धान्तिक गणित है क्योंकि ऊपर जितने भी उद्धरण हैं वे सब क्षेत्रादि विषयक गणनासे सम्बद्ध हैं। उसीके प्रसगमें ज्ञानोंकी भी उसमें चर्चा है और वह महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्ममें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रमाणोंका वर्णन है।

'अपदेस णेव इंदिए गेज्झं' से द्रव्य विषयक चर्चाका सकेत मिलता है। तथा उससे ऐसा भी आभास होता है कि परिकर्ममें गाथायें भी होनी चाहिये क्योंकि यह गाथाका अंश प्रतीत होता है।

वीरसेन स्वामीने उसे सर्वाचार्य सम्मत बतलाया है। इसका मतलब यह है कि अन्य ग्रन्थोंमें भी उसके उद्धरण प्रमाण रूपसे उद्धृत किये गये होंगे। किन्तु उपलब्ध साहित्यमें धवलाके सिवाय अन्यत्र परिकर्मका नाम तक नहीं है। हो सकता है कि वीरसेन स्वामीके सन्मुख षट्खण्डागमकी जो टीकाएं वर्तमान थीं, उन सबमें परिकर्मको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया होगा। शायद इसीसे उसे 'सर्वाचार्य सम्मत' कहा है।

किन्तु परिकर्म षट्खण्डागमका टीका ग्रन्थ है इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है। बल्कि कई उद्धरणोंमें उसका उल्लेख 'परिकर्म सूत्र' नामसे किया

है। जिससे यही आभास होता है कि वह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते हैं जिनसे इसके विपरीत भावना व्यक्त होती है। इसके लिये वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकारके सूत्र नम्बर २०८ की धवला द्रष्टव्य है। सूत्रमें कहा गया है कि 'एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिमें संख्यात भाग वृद्धि होती है'। इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असंख्यात कहनेसे उत्कृष्ट संख्यातका ग्रहण करना चाहिए। इसपर शंका की गई है कि सीधेमें उत्कृष्ट संख्यात न कहकर और सूत्रको बड़ा करके 'एक कम जघन्य असंख्यात' क्यों कहा? तो उत्तर दिया गया है कि उत्कृष्ट संख्यातके प्रमाणके साथ संख्यात भागवृद्धिका प्रमाण बतलानेके लिए वैसा कहा गया है। इससे आगे धवलाकारने लिखा है—

'परिकम्मादो उक्कस्ससंखेज्जयस्स पमाणमवगदमिदि ण पच्चवट्ठाणं काढुं जुत्तं तस्स सुत्तत्ताभावादो। एदस्स णिस्सेसस्स आइरियाणुग्गहेण पदविणिग्गयस्स एदम्हादो पुधत्तविरोहादो वा ण तदो उक्कस्ससंखेज्जयस्स पमाणसिद्धी—(पु० १२, पृ० १५४)।

अर्थात् 'यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण परिकर्मसे ज्ञात है तो ऐसा प्रत्यवस्थान करना भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें सूत्रताका अभाव है। अथवा आचार्यके अनुग्रहसे पदरूपसे निकले हुए इस समस्त परिकर्मके चूंकि उससे पृथक् होनेका विरोध है इसलिए भी उससे उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण सिद्ध नहीं होता'।

उक्त कथनमें प्रथम तो परिकर्मके सूत्र होनेका निषेध किया है। दूसरे इसके उससे (षट्खण्डागमसे) भिन्न होनेका विरोध किया है। किन्तु परिकर्म उससे भिन्न क्यों नहीं है, इसका स्पष्टीकरण उक्त कथनसे नहीं होता। वे कौन आचार्य थे जिनके अनुग्रहसे परिकर्मकी निष्पत्ति हुई, तथा 'पदविनिर्गत' शब्दसे धवलाकारका क्या अभिप्राय है इत्यादि बातें अस्पष्ट ही रह जाती हैं। किन्तु फिर भी इतना तो उक्त कथनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परिकर्मका षट्खण्डागमके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो सूत्र २०८ की उक्त धवलामें यह क्यों कहा जाता कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण तो परिकर्मसे अवगत है तब यहाँ उत्कृष्ट संख्यात न कहकर एक कम जघन्य असंख्यात क्यों कहा? और क्यों उसका इससे भिन्न होनेका विरोध किया।

इसी तरहकी एक चर्चा जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ५२ की धवला टीकामें भी है। सूत्रमें लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण क्षेत्रकी

अपेक्षा जगत श्रेणीके असख्यातवें भाग बतलाकर यह भी बतलाया है कि जगतश्रेणिके असख्यातवें भागरूप श्रेणी असख्यात करोड़ योजन प्रमाण होती है। इसपर धवलामें यह शका की गई है कि इसके कहनेकी क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर दिया गया है कि इस सूत्रसे इस बातका ज्ञान नहीं हो सकता था कि जगश्रेणिके असख्यातवें भागरूप श्रेणीका प्रमाण असख्यात करोड योजन है। इसपर पुन शका की गई है कि परिकर्मसे इस बातका ज्ञान हो जाता है। तब फिर सूत्रमें ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी। इसके उत्तरमें कहा गया है कि इस सूत्रके बलसे परिकर्मकी प्रवृत्ति हुई है।'

इस उद्धरणसे बराबर ऐसा लगता है कि परिकर्म षट्खण्डागम का व्याख्या ग्रन्थ है। और भी देखिये —

खुदाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें बादर पृथिवी कायिक आदि जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति बतलानेके लिये एक सूत्र आता है—'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' अर्थात् अधिकसे अधिक कर्मस्थिति प्रमाण कालतक एक जीव बादर पृथिवी कायिक आदिमें रहता है-।

इस सूत्रकी धवलामें लिखा है - 'सूत्रमें जो 'कम्मट्ठिदी' शब्द आया है उससे सत्तर कोड़ा कोडी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये। फिर लिखा है—किन्हीं आचार्योंका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोड़ा-कोड़ीको आवलीके असख्यातवें भागसे गुणा करनेपर बादर पृथिवी कायिक आदि जीवोंकी कायस्थितिका प्रमाण होता है किन्तु उनकी 'कर्मस्थिति' यह सज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है। आगे लिखा है—

'एद वक्खाण मत्थित्ति कध णव्वदे ? कम्मट्ठिदिमावलियाए असंखेज्जदि-भागेण गुणिदे बादरट्ठिदि होदित्ति परियम्मवयणण्णहाणुववत्तीदो। तत्थ सामण्णेण बादरट्ठिदि होदित्ति जदिवि उत्तं तो वि पुढविकायादीणं बादराणं पत्तेयकायट्ठिदी घेतव्वा, असखेज्जासखेज्जाओ ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्हि बादरट्ठिदी परूवणादो"—पु. ७ पृ १४५।

'शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—'कर्मस्थितिको आवलीके असख्यातवें भागसे गुणित करने-पर बादरस्थिति होती है' परिकर्मके ऐसे बचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती है। वहा (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'बादरस्थिति होती है' ऐसा कहा है तथापि प्रत्येक बादर पृथिवीकायादिकी कायस्थिति ग्रहण करना

चाहिये। क्योंकि सूत्रमें (षट्खं०) बादरस्थितिका कथन असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।'

उक्त उद्धरणमें जो क्षुद्राबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शङ्का की गई है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा गया है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन बन नहीं सकता था, उससे भी हमारे उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है।

जीवट्ठाणके कालानुगमकी धवला टीकामें (पु० ३, पृ० ४०३) भी उक्त चर्चा प्रकारान्तरसे आई है। उसमें लिखा है—

'कोई आचार्य 'कर्मस्थितिसे बादरस्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है' इसलिये कार्यमें कारणका उपचार करके बादरस्थितिकी ही कर्मस्थिति संज्ञा मानते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता क्योंकि गौण और मुख्यमें से मुख्यका ही ज्ञान होता है, ऐसा न्याय है।'

खुद्दाबन्धमें भी उक्त चर्चा 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' सूत्र की व्याख्या में आई है और जीवट्ठाणके कालानुगममें भी उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥१४४॥ सूत्र की व्याख्यामें आई है। इस चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित बादरस्थिति कर्मस्थिति से उत्पन्न हुई है। अर्थात् षट्खण्डागम के उक्त दोनों खण्डोंमें आगत सूत्रके 'कर्मस्थिति' पदसे ही परिकर्मगत बादरस्थिति उत्पन्न हुई है। अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि षट्खण्डागमके सूत्रोंके आधार पर ही परिकर्मकी रचना हुई है। किन्तु एक उद्धरणसे षट्खण्डागमसे परिकर्म-में कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है।

उक्त चर्चा जीवट्ठाण के कालानुगम में एक जीवकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय-की उत्कृष्ट स्थिति बतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आई है। लिखा है—

'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणाकरने पर बादरस्थिति उत्पन्न हुई है' परिकर्मके इस वचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पड़ता है इसलिये इस सूत्रको अवसिद्धताका प्रसंग नहीं आता। किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रा-नुसारी नहीं है इसलिये परिकर्मको ही अवसिद्धताका प्रसंग आता है।' (पु० ४, पृ० ३९०)। किन्तु यहा जो परिकर्मके वचनको सूत्रानुसारी नहीं होनेके कारण अवसिद्धताका प्रसंग दिया है उसका परिहार खुद्दाबन्धकी धवला-के उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेन स्वामीने स्वयं कर दिया है। उन्होंने लिखा है—

'यहाँ (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'कायस्थिति' होती है ऐसा कहा है। तथापि पृथिवीकायादि बादरोंमें से प्रत्येककी कायस्थिति लेनी चाहिये क्योंकि सूत्र (षट्ख०) में असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण बादर कायस्थिति कही है। अर्थात् परिकर्ममें जो कायस्थिति कही है वह पृथिवी कायिक आदि प्रत्येक बादरकायिक जीव की है। और जीवट्ठाणके काला-नुगम अनुयोग द्वारके सूत्र ११० में जो बादर स्थिति कही है वह बादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है।'

धवलामें परिकर्मके एक उद्धरणको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

शंका—'जितनी द्वीप और सागरों की संख्या है तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्द्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजुके अर्द्धच्छेद होते हैं।' परिकर्मके इस कथनके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होता ?

समाधान—उक्त व्याख्यान भले ही परिकर्मके साथ विरोध को प्राप्त होता हो किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता। इस कारणसे इस व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिये, परिकर्मको नहीं, क्योंकि वह सूत्र-विरुद्ध है। और जो सूत्रविरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता अन्यथा अति प्रसंग दोष आता है।' (पु० ४, पृ० १५६)।

उक्त उदाहरणमें जो परिकर्मको सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है उससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोंका व्याख्यान रूप होनेका समर्थन होता है। प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है। किन्तु जीवट्ठाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोग द्वारकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है। लिखा है—

'यह व्याख्यान' जितनी द्वीपों और सागरों की संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्द्धच्छेद हैं' इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यहाँ रूपाधिकका अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नहीं लिया किन्तु रूपोंसे अधिक रूपाधिक लिया है। (पु० ३, पृ० ३६१)

उक्त उद्धरणोंसे बराबर यह प्रकट होता है कि षट्खण्डागमके सूत्र परिकर्मके आधार थे। किन्तु वह उनका केवल व्याख्यात्मक ग्रन्थ ही नहीं था। यही बात इन्द्रनन्दिने भी कही है। उन्होंने लिखा है कि षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। ऊपर जो व्याख्या विषयक उद्धरण दिये हैं वे प्राय. जीवट्ठाण और खुद्दाबन्ध की धवलाके हैं, और ये दोनों

षट्खण्डागमके प्रथम दो खण्ड हैं। अतः इन्द्रनन्दिका उक्त कथन बिल्कुल प्रामाणिक प्रतीत होता है। पुनः धवलामें परिकर्म विषयक २६ उल्लेख हैं जिनमें से १८ उल्लेख जीवट्ठाणमें और तीन उल्लेख खुद्दाबन्धमें हैं। प्रश्न शेष रहता है उसके कर्तृत्वका।

वीरसेन स्वामीने तो इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। केवल इन्द्रनन्दिके कथनानुसार कुण्डकुन्द पुरके पद्मनन्दि उसके रचयिता थे। हम देख चुके हैं कि इन्द्रनन्दिने परिकर्मके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका समर्थन परिकर्मके उद्धरणोंसे भी होता है, अतः परिकर्मके कर्तृत्वके विषयमें भी इन्द्रनन्दिका कथन यथार्थ ही होना चाहिये। समयसार और प्रवचनसारके रचयिता कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्यके द्वारा परिकर्म जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका रचा जाना सर्वथा उचित है। क्योंकि कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोंसे तो उनके द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग विषयक पाण्डित्यका ही बोध होता है। करणानुयोगका विषय छूटसा ही जाता है। और कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्य करणानुयोगके विषयमें मूक रहे यह कैसे संभव हो सकता है। अतः परिकर्म कुन्दकुन्दकी ही कृति होना चाहिये। परिकर्मके एक उद्धरणसे भी इसके समर्थनमें साहाय्य मिलता है। वह उद्धरण इस प्रकार है—

'अपदेस णेव इंदिए गेज्झं' इति परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे भणिद-मिदि।' उक्त उद्धरणमें 'अपदेस णेव इंदिए गेज्झं' किसी गाथाके पूर्वार्द्धका भाग होना चाहिए। 'अपदेस' से पहलेका पद उद्धरणमें छोड़ दिया गया है। उक्त गाथांशका 'णेव इंदिए गेज्झं' पद कुन्दकुन्दके नियमसारकी २६ वीं गाथामें भी इसी प्रकार पाया जाता है।

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणीहि॥

परिकर्ममें भी परमाणुके स्वरूप वर्णनमें उक्त अंश आया है और नियम-सारमें भी। अन्तर इतना ही है कि 'अन्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं' पद उसमें नहीं है केवल 'अपदेस' है और अपदेससे पहलेका कुछ भाग छोड़ दिया गया है, पूरा उद्धृत नहीं किया गया। इससे परिकर्म गत उक्त गाथा कुन्दकुन्दकी ही कृति प्रतीत होती है। अपने पक्षके समर्थनमें हम एक और भी प्रमाण उपस्थित करते हैं।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थसे परिचित विद्वानोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि तिलोयपण्णत्तिमें कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारकी अनेकों गाथाएँ ज्योंकी त्यों अपना ली गई हैं। ये गाथायें तिलोयपण्णत्तिसे उक्त ग्रन्थोंमें नहीं ली गई किन्तु उक्त ग्रन्थोंसे ही तिलोयपण्णत्तिमें ली गई हैं। यह बात जयधवलाकी तथा तिलोयपण्णत्तिकी प्रस्तावनामें तथा अनेकान्त वर्ष २ कि० १ में प्रकाशित 'कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक मुख्तार साहबके लेखमें युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है।

(ति० प० के प्रथम अधिकारकी गाथा ९५ से १०१ में परमाणुका स्वरूप बतलाया है। उन गाथाओंके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको परमाणुके सम्बन्धमें जो भी गाथायें ग्रन्थान्तरोंमें मिली उन सबको उन्होंने एकत्र कर दिया है। उनमेंसे गाथा ९५, ९७ और १०१, क्रमसे पञ्चास्तिकायकी ७५ वीं ८१ वीं और ७८ वीं गाथा हैं। अन्तिम चरणमें मामूली पाठ भेद है। शेष गाथाओंमेंसे एक गाथा इस प्रकार है—

अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणु कहंति जिणा॥ ९८॥

इस गाथाके पूर्वार्द्धका अन्तिम भाग परिकर्मवाले उद्धरणसे मिलता है। ति० प० में अन्य ग्रथोंसे ली गई गाथाओंमें मामूली पाठभेद प्राय पाया जाता है। अत इसमें भी 'णेव इंदिए गेज्झं' के स्थानमें 'इंदिएहि ण हु गेज्झ' पाठ पाया जाता है। न उसके शब्दोंमें अन्तर है और न अर्थमें, अन्तर है शब्दोंके हेरफेर मात्रका, जो महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है उसके पहले 'अपदेस' पदका पाया जाना, जो परिकर्मवाले गाथांशमें है। उस गाथांशके पहले 'अतादिमज्झहीणं' पद जोड़ दीजिये, गाथाका पूर्वार्द्ध पूरा हो जाता है। इसमें नियमसारवाली गाथाका 'अत्तादि अंतमज्झं अत्तंतं' को संक्षिप्त करके 'अतादिमज्झहीणं' बना दिया गया है और 'अपदेसं' उसमें और रख दिया गया है। हमें लगता है कि ति० प० में यह गाथा परिकर्मसे उसी प्रकार ली गई होनी चाहिये जिस प्रकार पञ्चास्तिकायसे ३ गाथायें ली गई हैं। और पञ्चास्तिकायकी तरह ही परिकर्म भी कुन्दकुन्दकी ही कृति होना चाहिये यह बात नियमसारकी गाथाके साथ परिकर्मोक्त गाथांशके मिलानसे प्रमाणित होती है।

अत परिकर्मके अस्तित्व, और षट्खण्डागमके आद्य भाग पर उसके रचे जानेकी तरह ही उसके कुन्दकुन्दकृत होनेका इन्द्रनन्दिका कथन बिल्कुल

यथार्थ प्रतीत होता है। और इसलिए कुन्दकुन्दके समय निर्धारणका वह एक प्रमाणिक आधार हो सकता है।

शेष दो मुद्दे

शेष दोनों मुद्दे तो ऐसी स्थितिमें नहीं है जिनके आधार पर कुन्दकुन्दके समयका निर्धारण किया जा सके, क्योंकि कुन्दकुन्दके किसी ग्रन्थसे इस प्रकारका कोई सकेत नहीं मिलता कि वह किसी राजाको लक्ष्य करके रचा गया है। कुन्दकुन्दके पूर्व टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि भी इस विषयमें मूक हैं। १२ वीं शताब्दीके टीकाकार जयसेन जिस पञ्चास्तिकायको शिवकुमार महाराजके लिए बनाया कहते हैं, उसीके अन्तमें कुन्दकुन्द कहते है कि प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये मैंने पञ्चास्तिकायको रचा। अत शिवकुमार महाराज विषयक उल्लेख ऐसी स्थितिमें नहीं है जिसके आधारपर कुन्दकुन्दका समय निर्णय किया जा सके।

इसी तरह कुरलके कर्तृत्वकी बात भी सन्देहास्पद है। कुरलके कर्ता एलाचार्य हो सकते हैं। मगर कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था यह सिद्ध नहीं होता। और जब प्रो० चक्रवर्ती कुन्दकुन्दके कर्तृत्वको आधार बनाकर कुरलको ईसाकी प्रथम शताब्दीमें ला रखनेकी बात कहते हैं तब तो कुरलके आधारपर कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके बजाय कुन्दकुन्दके आधारपर कुरलका समय निर्धारित करनेकी बात आ जाती है। अत दोनों मुद्दे विशेष कार्यकर नहीं हैं। इन सबमें कुन्दकुन्दके समयका निर्णय करनेमें श्रुतावतार विषयक परिकर्म ही एक ठोस आधार प्रतीत होता है।

किन्तु डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके इस कथनको कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डागमके एक भाग पर टीका लिखी थी, कई कारणोंसे मान्य नहीं किया है। उन्होंने उसके जो कारण बतलाये वह इस प्रकार हैं—

१ इस प्रकारकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

२ धवला जयधवलामें भी उसका कोई सकेत मुझे प्राप्त नहीं हो सका।

३ उत्तर कालीन साहित्यमें भी इस टीकाका कोई उल्लेख प्रकाशमें नहीं आया।

४ अनेक ग्रन्थोंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं है कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी। इससे प्रतीत होता है कि यह बात आम तौरसे प्रसिद्ध नहीं थी।

५ तथा विबुध श्रीधर तकने अपने श्रुतावतारमें इन्द्रनन्दिके कथनको स्वीकार नहीं किया। उसने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ परम्परासे कुन्दकुन्दको प्राप्त हुए और उनसे पढ़कर कुन्दकीर्तिने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। इस तरहसे बात दोनोंके बीचमें रह जाती है और इसका निर्णय होना कठिन है, क्योंकि अन्यत्रसे इसका समर्थन नहीं होता। जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है मुझे (उपाध्येको) उसमें सन्देह है, क्योंकि मैंने उन्हें एक व्याख्याकारकी अपेक्षा सिद्धान्त विवेचक ही अधिक पाया है।' इन कारणोंसे डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके कथनको मान्य नहीं किया। किंतु उक्त कारण विशेष जोरदार नहीं हैं।

प्रथम तो इन्द्रनन्दिने यह नहीं लिखा कि कुन्दकुन्दने कोई टीका लिखी थी। प्रत्युत परिकर्म नामका ग्रंथ लिखा, और यह षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर लिखा। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी धवलामें परिकर्म विषयक उल्लेखोंकी बहुतायत है, और खुद्दाबन्धकी धवलामें भी उसके उल्लेख मिलते हैं। उन उल्लेखोंसे यह भी प्रकट होता है कि परिकर्मका आधार षट्खण्डागमके सूत्र हैं। किन्तु जैसा कि डा० उपाध्येका कुन्दकुन्दके विषयमें अभिमत है, परिकर्म मात्र टीका ग्रन्थ नहीं है। ग्रन्थकार कुन्दकुन्दके कर्तृत्वकी छाप उसके पद‌पद पर अंकित है।

विबुध श्रीधरने इन्द्रनन्दिका अनुसरण करते हुए भी जो बीचमें एक कुन्दकीर्तिकी कल्पना कर डाली है वह एकदम निराधार है, क्योंकि कुन्दकुन्दके शिष्य किसी कुन्दकीर्तिका कहीं संकेत तक भी नहीं है। विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें इस तरहकी इतिहासविरुद्ध अनेक बातें हैं। जब कि इन्द्रनन्दिका कथन बहुत कुछ सन्तुलित और साधार है। जैसा कि परिकर्म विषयक उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। डा० उपाध्येके पत्रसे हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि उन्होंने जब अपनी उक्त प्रस्तावना लिखी थी तब धवलाका प्रकाशन नहीं हुआ था। उसके प्रकाशमें आने पर उनके उक्त मतमें परिवर्तन हो गया है।

प्रो० हीरालालजीने भी इन्द्रनन्दिके उल्लेखको साधार माना है उन्होंने षट्खण्डागम पु० १ की प्रस्तावनामें लिखा है—

'षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धसे भी पड़ता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत दोनों पुस्तकारूढ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने,

जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरुपरिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख होनेसे इसमें सन्देह नहीं रहता कि यहाँ उन्हींसे अभिप्राय है।'

अब हम देखेंगे कि श्रुतावतार विषयक उक्त उल्लेखके आधारपर कुन्दकुन्द का कौनसा समय निर्धारित होता है।

तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदि पुराण, उत्तर पुराण, श्रुतावतार और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें भगवान् महावीरके पश्चात् हुए अग पूर्ववेत्ता आचार्योंकी तालिका काल गणनाके साथ दी है। तदनुसार भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए, फिर सौ वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली हुए, फिर एकसौ तिरासी वर्षोंमें ग्यारह एकादशाग और दस पूर्वोंके धारी हुए। फिर २२० वर्षोंमें पाँच एकादशागके वेत्ता हुए। फिर ११ वर्षोंमें चार आचारागधारि क्रमसे हुए। इस तरह ६८३ वर्ष तककी आचार्य परम्परा दी है जिसमें अन्तिम व्यक्ति लोहाचार्य हुए।

किन्तु नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीमें जो महावीर भगवानके पश्चात् हुए अगविदाचार्योंकी काल गणना दी है, वह ऊपर्युक्त काल गणनासे विशिष्टता को लिये हुए है। प्रथम तो उसमें प्रत्येक आचार्यका काल पृथक् २ बतलाया है। दूसरे, पाँच एकादशाग धारियों और ४ आचारागधारियोंका काल २२० वर्ष बतलाया है। तदनुसार भगवान महावीरके निर्वाणसे लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष ही होता है। अत शेष ११८ वर्षोंमें अर्हद्‌बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलीको गिनाया है। इस तरहसे इस पट्टावलीमें भी भगवान महावीरके पश्चात्‌से ६८३ वर्ष पर्यन्तकी गुरू परम्परा दी है किन्तु उनमें धरसेन और पुष्पदन्त भूतबलीको भी सम्मिलित कर लिया है। यह पुष्पदन्त भूतबली वही हैं जिन्होंने षट्खण्डागमकी रचना की थी।

इस पट्टावलीमें पुष्पदन्त और भूतबलिका समय ३०+२०=५० वर्ष बतलाया है तदनुसार वीरनिर्वाण स० ६८३ (वि० स० २१३) के लगभग षट्खण्डागमकी रचना हो चुकी थी। अत षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्मकी रचना करनेवाले कुन्दकुन्द अवश्य ही इससे पहले नहीं हो सकते। अतः उनके समयकी पूर्वावधि वि० स० २१३ निर्धारित होती है।

श्रुतावतारके अनुसार कुन्दकुन्द षट्खण्डागम पर ग्रन्थ लिखनेवाले प्रथम व्यक्ति थे। उनके पश्चात् ही शामकुण्ड, आदिने अपनी टीकाएँ लिखीं थी। अत: कुन्दकुन्द उक्त पूर्वावधिसे अधिक समय पश्चात् नहीं होने चाहिये। इस प्रसगमें विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत उस श्लोकको नहीं भुलाया जा सकता जिसमें वीर निर्वाणसे ७७० वर्षोंके पश्चात् उमास्वामी और कुन्दकुन्दका होना लिखा है। श्लोक इस प्रकार है—

> वर्षे सप्त शते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
> उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

इस श्लोकमें मुख्य रूपसे उमास्वामीका समय बतलाया है। अत वीर निर्वाण ७७० में (वि० स० ३००) उमास्वामी हुए। कुन्दकुन्द चूँकि उमास्वामीके समकालीन थे इस लिये पीछे उनका नाम भी जोड़ दिया गया है। किंतु शिलालेखोंसे यह प्रमाणित है कुंदकुंद उमास्वामीसे पहले हुए है और कुंदकुंदके अन्वय या वशमें उमास्वामी हुए हैं। किंतु कुंदकुंद और उमास्वामीके मध्यमें किसी अन्य आचार्यका नाम नहीं है। अतः दोनोंके बीचमें अधिक समयका अंतराल सभव प्रतीत नहीं होता। तथा नदिसघकी पट्टावलीमें तो कुंदकुंदके पश्चात् ही उमास्वामीका आचार्य पदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वामी कुंदकुंदके शिष्य थे। किन्तु यदि शिष्य न भी हों तो भी दोनोंके बीचमें अधिक समयका अन्तराल होना सभव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब कुन्दकुन्द वि० स० २१३ से पूर्व नहीं हुए और उक्त श्लोकके अनुसार उमास्वामी वि० सं० ३०० में हुए तो दोनोंको लगभग समकालीन ही समझना चाहिये। क्योंकि वि० सं० २१३ से ३०० तकके ८७ वर्षके समयमें दोनों हुए हैं। उक्त श्लोकमें जिस ढङ्गसे उमास्वामीका समय बतलाया गया है उसे देखते हुए तथा उसके साथ ही अन्य बातोंको भी दृष्टिमें रखनेसे वि० स० ३००, या वी० नि० सं० ७७० उमास्वामीके समयकी अन्तिम मर्यादा ही समुचित प्रतीत होती है। मुख्तार साहबने इसीकी पुष्टिकी है।

ऐसी स्थितिमें यही मानना उचित प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द वी० नि० सं० ६८३ के पश्चात् तुरन्त ही हुए हैं। अत उनका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका पूर्वार्ध अथवा ईसाकी दूसरी शताब्दीका उत्तरार्ध ही समुचित प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजी मुख्तार साहब तथा प्रो० हीरालालजी

यथार्थ प्रतीत होता है। और इसलिए कुन्दकुन्दके समय निर्धारणका वह एक प्रमाणिक आधार हो सकता है।

शेष दो मुद्दे

शेष दोनों मुद्दे तो ऐसी स्थितिमें नहीं है जिनके आधार पर कुन्दकुन्दके समयका निर्धारण किया जा सके, क्योंकि कुन्दकुन्दके किसी ग्रन्थसे इस प्रकारका कोई संकेत नहीं मिलता कि वह किसी राजाको लक्ष्य करके रचा गया है। कुन्दकुन्दके पूर्व टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि भी इस विषयमें मूक है। १२ वीं शताब्दीके टीकाकार जयसेन जिस पञ्चास्तिकायको शिवकुमार महाराजके लिए बनाया कहते है, उसीके अन्तमें कुन्दकुन्द कहते है कि प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये मैंने पञ्चास्तिकायको रचा। अत शिव-कुमार महाराज विषयक उल्लेख ऐसी स्थितिमें नहीं है जिसके आधारपर कुन्द-कुन्दका समय निर्णय किया जा सके।

इसी तरह कुरलके कर्तृत्वकी बात भी सन्देहास्पद है। कुरलके कर्ता एलाचार्य हो सकते हैं। मगर कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था यह सिद्ध नहीं होता। और जब प्रो० चक्रवर्ती कुन्दकुन्दके कर्तृत्वको आधार बनाकर कुरलको ईसाकी प्रथम शताब्दीमें ला रखनेकी बात कहते हैं तब तो कुरलके आधारपर कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके बजाय कुन्दकुन्दके आधारपर कुरलका समय निर्धारित करनेकी बात आ जाती है। अत दोनों मुद्दे विशेष कार्यकर नहीं हैं। इन सबमें कुन्दकुन्दके समयका निर्णय करनेमें श्रुतावतार विषयक परिकर्म ही एक ठोस आधार प्रतीत होता है।

किन्तु डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके इस कथनको कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डा-गमके एक भाग पर टीका लिखी थी, कई कारणोंसे मान्य नहीं किया है। उन्होंने उसके जो कारण बतलाये वह इस प्रकार हैं—

१ इस प्रकारकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

२ धवला जयधवलामें भी उसका कोई संकेत मुझे प्राप्त नहीं हो सका।

३ उत्तर कालीन साहित्यमें भी इस टीकाका कोई उल्लेख प्रकाशमें नहीं आया।

४ अनेक ग्रन्थोंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं है कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी। इससे प्रतीत होता है कि यह बात आम तौरसे प्रसिद्ध नहीं थी।

तथा विबुध श्रीधर तकने अपने श्रुतावतारमें इन्द्रनन्दिके कथनको स्वीकार नहीं किया। उसने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ परम्परासे कुन्दकुन्दको प्राप्त हुए और उनसे पढ़कर कुन्दकीर्तिने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। इस तरहसे बात दोनोंके बीचमें रह जाती है और इसका निर्णय होना कठिन है; क्योंकि अन्यत्रसे इसका समर्थन नहीं होता। जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है मुझे (उपाध्येको) उसमें सन्देह है, क्योंकि मैंने उन्हें एक व्याख्याकारकी अपेक्षा सिद्धान्त विवेचक ही अधिक पाया है।' [इन कारणोंसे डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके कथनको मान्य नहीं किया। किन्तु उक्त कारण विशेष जोरदार नहीं हैं।]

प्रथम तो इन्द्रनन्दिने यह नहीं लिखा कि कुन्दकुन्दने कोई टीका लिखी थी। प्रत्युत परिकर्म नामका ग्रंथ लिखा, और यह षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर लिखा। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि षट्खण्डागमकी टीका धवलामें परिकर्म विषयक उल्लेखोंकी बहुतायत है, और गुणधर-कृत कषायप्राभृतकी टीका जयधवलामें भी उसके उल्लेख मिलते हैं। उन उल्लेखोंसे यह भी प्रकट होता है कि परिकर्मका आधार षट्खण्डागमके सूत्र हैं। किन्तु जैसा कि डा० उपाध्येका कुन्दकुन्दके विषयमें अभिमत है, परिकर्म मात्र टीका ग्रन्थ नहीं है। ग्रन्थकार कुन्दकुन्दके कर्तृत्वकी छाप उसके पदपद पर अंकित है।

[विबुध श्रीधरने इन्द्रनन्दिका अनुसरण करते हुए भी जो बीचमें एक कुन्दकीर्तिकी कल्पना कर डाली है वह एकदम निराधार है; क्योंकि कुन्दकुन्दके शिष्य किसी कुन्दकीर्तिका कहीं संकेत तक भी नहीं है। विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें इस तरहकी इतिहासविरुद्ध अनेक बातें हैं। जब कि इन्द्रनन्दिका कथन बहुत कुछ सन्तुलित और साधार है। जैसा कि परिकर्म विषयक उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। डा० उपाध्येके पत्रसे हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि उन्होंने जब अपनी उक्त प्रस्तावना लिखी थी तब धवलाका प्रकाशन नहीं हुआ था। उसके प्रकाशमें आने पर उनके उक्त मतमें परिवर्तन हो गया है।]

प्रो० हीरालालजीने भी इन्द्रनन्दिके उल्लेखको साधार माना है उन्होंने षट्खण्डागम पु० १ की प्रस्तावनामें लिखा है—

['षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धसे भी पड़ता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत दोनों पुस्तकारूढ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने,

जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरुपरिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ रचा। पद्मनंदि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख होनेसे इसमें सन्देह नहीं रहता कि यहाँ उन्हींसे अभिप्राय है।'

अब हम देखेंगे कि श्रुतावतार विषयक उक्त उल्लेखके आधारपर कुन्दकुन्द का कौनसा समय निर्धारित होता है।

तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदि पुराण, उत्तर पुराण, श्रुतावतार और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें भगवान् महावीरके पश्चात् हुए अग पूर्ववेता आचार्योंकी तालिका काल गणनाके साथ दी है। तदनुसार भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए, फिर सौ वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली हुए, फिर एकसौ तिरासी वर्षोंमें ग्यारह एकादशांग और दस पूर्वोंके धारी हुए। फिर २२० वर्षोंमें पाँच एकादशांगके वेत्ता हुए। फिर ११ वर्षोंमें चार आचारांगधारि क्रमसे हुए। इस तरह ६८३ वर्ष तककी आचार्य परम्परा दी है जिसमें अन्तिम व्यक्ति लोहाचार्य हुए।

किन्तु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें जो महावीर भगवानके पश्चात् हुए अंगविदाचार्योंकी काल गणना दी है, वह ऊपर्युक्त काल गणनासे विशिष्टता को लिये हुए है। प्रथम तो उसमें प्रत्येक आचार्यका काल पृथक् २ बतलाया है। दूसरे, पाँच एकादशांग धारियों और ४ आचारांगधारियोंका काल २२० वर्ष बतलाया है। तदनुसार भगवान महावीरके निर्वाणसे लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष ही होता है। अत शेष ११८ वर्षोंमें अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलीको गिनाया है। इस तरहसे इस पट्टावलीमें भी भगवान महावीरके पश्चात्से ६८३ वर्ष पर्यन्तकी गुरू परम्परा दी है किन्तु उनमें धरसेन और पुष्पदन्त भूतबलीको भी सम्मिलित कर लिया है। यह पुष्पदन्त भूतबली वही हैं जिन्होंने षट्खण्डागमकी रचना की थी।

इस पट्टावलीमें पुष्पदन्त और भूतबलिका समय ३० + २० = ५० वर्ष बतलाया है तदनुसार वीरनिर्वाण स० ६८३ (वि० स० २१३) के लगभग षट्खण्डागमकी रचना हो चुकी थी। अत षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्मकी रचना करनेवाले कुन्दकुन्द अवश्य ही इससे पहले नहीं हो सकते। अतः उनके समयकी पूर्वावधि वि० स० २१३ निर्धारित होती है।

श्रुतावतारके अनुसार कुन्दकुन्द षट्खण्डागम पर ग्रन्थ लिखनेवाले प्रथम व्यक्ति थे। उनके पश्चात् ही शामकुण्ड, आदिने अपनी टीकाएँ लिखी थी। अतः कुन्दकुन्द उस पूर्वावधिसे अधिक समय पश्चात् नहीं होने चाहिये। इस प्रसंगमें विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत उस श्लोकको नहीं भुलाया जा सकता जिसमें वीर निर्वाणसे ७०० वर्षोंके पश्चात् उमास्वामी और कुन्दकुन्दका होना लिखा है। श्लोक इस प्रकार है—

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

इस श्लोकमें मुख्य रूपसे उमास्वामीका समय बतलाया है। अतः वीर निर्वाण ७७० में (वि० सं० ३००) उमास्वामी हुए। कुन्दकुन्द चूँकि उमास्वामीके समकालीन थे इस लिये पीछे उनका नाम भी जोड़ दिया गया है। किंतु शिलालेखोंसे यह प्रमाणित है कुंदकुंद उमास्वामीसे पहले हुए हैं और कुंदकुंदके अन्वय या वंशमें उमास्वामी हुए हैं। किंतु कुंदकुंद और उमास्वामीके मध्यमें किसी अन्य आचार्यका नाम नहीं है। अतः दोनोंके बीचमें अधिक समयका अंतराल संभव प्रतीत नहीं होता। तथा नन्दिसंघकी पट्टावलीमें तो कुंदकुंदके पश्चात् ही उमास्वामीको आचार्य पदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वामी कुंदकुंदके शिष्य थे। किन्तु यदि शिष्य न भी हों तो भी दोनोंके बीचमें अधिक समयका अन्तराल होना संभव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब कुन्दकुन्द वि० सं० २१३ से पूर्व नहीं हुए और उक्त श्लोकके अनुसार उमास्वामी वि० सं० ३०० में हुए तो दोनोंको लगभग समकालीन ही समझना चाहिये। क्योंकि वि० सं० २१३ से ३०० तकके ८७ वर्षके समयमें दोनों हुए हैं। उक्त श्लोकमें जिस ढङ्गसे उमास्वामीका समय बतलाया गया है उसे देखते हुए तथा उसके साथ ही अन्य बातोंको भी दृष्टिमें रखनेसे वि० सं० ३०० या वी० नि० सं० ७७० उमास्वामीके समयकी अन्तिम मर्यादा ही समुचित प्रतीत होती है। मुख्तार साहबने इसीकी पुष्टिकी है।

ऐसी स्थितिमें यही मानना उचित प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द वी० नि० सं० ६८३ के पश्चात् तुरन्त ही हुए हैं। अतः उनका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका पूर्वार्ध अथवा ईसाकी दूसरी शताब्दीका उत्तरार्ध ही समुचित प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजी मुख्तार साहब तथा प्रो० हीरालालजी

आदिको भी यही समय मान्य है और डा० उपाध्ये भी इससे सहमत प्रतीत होते हैं। डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दका समय ईस्वीका प्रारम्भकाल माना है। प्रो० हीरालालजी इस प्रारम्भ कालकी व्याख्या लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय करते हैं, जो उक्त समयके ही अनुकूल है।

कुन्दकुन्द और यतिवृषभ—उक्त प्रकारसे इन्द्रनन्दिके कथनका एक अंश तो ठीक प्रमाणित होता है क्योंकि कुन्दकुन्दको षट्खण्डागमकी प्राप्ति होने और उस पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचनेकी बात सिद्ध होती है। और जहाँ तक गुणधरकृत कसाय पाहुडकी गाथाओंके कुन्दकुन्दको प्राप्त होनेकी बात है वहाँ तक भी ठीक है क्योंकि गुणधराचार्य इनसे धरसेनसे अर्वाचीन प्रतीत नहीं होते। किन्तु गुणधराचार्यके गाथासूत्रों पर रचित यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंके भी कुन्दकुन्दको प्राप्त होनेकी बात विचारणीय है।

---

१ डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दके विषयमें ऊहापोह करनेके पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है। वह लिखते हैं—'कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें की गई इस लम्बी चर्चाके प्रकाशमें, जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओंकी पूरी तरहसे छान बीन करने तथा विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उनका मूल्य आँकनेके पश्चात् केवल सम्भावनाओंको समझनेका प्रयत्न किया है—हमने देखा कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीका उत्तरार्ध और ईस्वी सन्‌की प्रथम शताब्दीका पूर्वार्ध बतलाती है। कुन्दकुन्दसे पूर्व षट्खण्डागमकी समाप्तिकी सम्भावना उन्हें ईसाकी दूसरी शताब्दीके मध्यके पश्चात् रखती है। मर्कराके ताम्रपत्रसे उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दीका मध्य होना चाहिये। चर्चित मर्यादाओंके प्रकाशमें, ये सम्भावनाएँ—कि कुन्दकुन्द पल्लववंशी राजा शिवस्कन्दके समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारों पर यह प्रमाणित हो जाये कि वही एलाचार्य थे तो उन्होंने कुरलको रचा था, सूचित करती हैं कि ऊपर बतलाये गये विस्तृत प्रमाणोंके प्रकाशमें कुन्दकुन्दके समयकी मर्यादा ईसाकी प्रथम दो शताब्दियाँ होनी चाहिये। उपलब्ध सामग्रीके इस विस्तृत पर्यवेक्षणके पश्चात् मैं विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्दका समय ईस्वी सन्‌का प्रारम्भ है।'—प्रव० प्रस्ता० पृ० २२।

२—षट्ख०, पु०१, प्रस्ता० पृ० ३१।

वर्तमान तिलोय पण्णत्ति इसमें दी गई राज्य काल गणनाके आधारसे विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वकी रचना प्रमाणित नहीं होती। यदि उसका यह वर्तमान रूप यतिवृषभकृत ही है तो यतिवृषभ विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान सिद्ध होते हैं और इस तरह वे कुन्दकुन्दसे तीन शताब्दी पश्चात् हुए हैं।[1]

किन्तु जयधवलामें[2] और श्रुतावतारमें यतिवृषभको आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्य बतलाया है। उन्होंने गुणधररचित गाथा सूत्रोंको पढ़कर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र रचे थे। दिगम्बर परम्परामें इस नामके आचार्यका अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें आर्यमंगु और आर्य नागहस्तिका नाम मिलता है। किन्तु उसके अनुसार वे दोनों समकालीन नहीं थे। उनके बीचमें लगभग दो शताब्दियोंका अन्तर था। श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार आर्यमंगु वी० नि० स० ४७० में और नागहस्ति वी० नि० सं० ६२०–६८० में हुए। किन्तु मथुरासे प्राप्त कुषाण कालीन शिलालेख नं० ५४ में आर्य नागहस्ति और मगुहस्तिका उल्लेख है और उस पर कुषाण सम्वत् ५४ अङ्कित है जो वीरनि सं० ६५९ होता है। यह समय पट्टावलीसे भी मिल जाता है। अतः नागहस्ति ६५९–४७०=१८९ वि० स०में विद्यमान थे। इसी समयके लगभग षट्खण्डागमकी रचना हुई। उस समय तक महाकर्म प्रकृति प्राभृत वर्तमान था। उसीके लोपके भयसे धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त भूतबलिको बुलवाकर उसे पढ़ाया था। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तिको भी 'कम्मपयडिप्रधान' लिखा है। और यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर उसी महाकर्म प्रकृति प्राभृतका निर्देश किया है जो बतलाता है कि यतिवृषभ भी उससे परिचित थे। अतः चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ विक्रमकी दूसरी शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए इन्हीं नागहस्तिके

१—देखो, जयधवला भा० १, की प्रस्तावना, तिलोयपण्णत्ति भा० २, में उसकी प्रस्तावना तथा 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' में 'तिलोयपण्णत्ति और यतिवृषभ' शीर्षक लेख तथा 'जैन साहित्य और इतिहासमें-लोक विभाग और तिलोयपण्णत्ति' शीर्षक लेख।

२—'पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णीसुत्त कय।' कसायपाहुड भा० १, पृ० ८८। श्रुतावतार श्लो० १५५-१५६।

शिष्य होने चाहिये। ऐसी अवस्थामें कुन्दकुन्द उनके लघु समकालीन ठहरते हैं। अत उन्हें चूर्णिसूत्रोंकी प्राप्ति होना सभव है।

किन्तु चूर्णिसूत्रोंपर रचित उच्चारणा वृत्तिका कुन्दकुन्दके सामने उपस्थित होना सभव नहीं है। फिर भी इन्द्रनन्दिके उक्त उल्लेखका कुन्दकुन्दके उक्त निर्धारित समय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि कुन्दकुन्दके द्वारा उस पर कोई ग्रथ रचना करनेका उल्लेख नहीं है।

मूलसघ और कुन्दकुन्दान्वय—भगवान महावीरके समयमें जैनसाधु सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध था। इसीसे बौद्ध त्रिपिटकोंमें महावीर को 'निगठ नाट पुत्त' लिखा मिलता है। अशोकके शिलालेखोंमें भी 'निगठ' शब्दसे ही उसका निर्देश किया गया है।

किन्तु धारवाड जिलेसे प्राप्त कदम्बवर्मी नरेश शिवमृगेशवर्माके शिला-लेख (६८) में श्वेत पट महाश्रमण सघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघका पृथक् पृथक् निर्देश है। इससे प्रकट है कि ईसाकी ४-५वीं शताब्दीमें मूल निर्ग्रन्थ नाम दिगम्बर सम्प्रदायको प्राप्त हो चुका था।

इसके साथ ही गगवशी नरेश माधव वर्मा द्वितीय (ई० सन् ४०० के लगभग) और उसके पुत्र अविनीतके शिलालेखों (न० ९० और ९४) में मूल-सघका उल्लेख मिलता है। चूँकि जैन परम्पराका प्राचीन मूल नाम 'निर्ग्रन्थ' दिगम्बर परम्पराको प्राप्त हुआ था इसलिये वही मूल सघके नामसे अभिहित किया गया।

वट्टकेराचार्य रचित मूलाचार भी मूल सघसे सम्बद्ध है। अत मूलाचार की रचनासे पूर्व मूलसघ शब्दका व्यवहार प्रवर्तित हो चुका था। तभी तो उसका आचार मूलाचार कहा गया। मूलाचारका निर्देश यतिवृषभकी तिलोय-पण्णत्तिमें है। और तिलोयपण्णत्ति चूँकि ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम चरणके लगभग निष्पन्न हो चुकी थी। अत मूलाचार चौथी शताब्दीके अन्त तकमें अवश्य रचा जा चुका होगा और मूल सघ नामका व्यवहार उससे भी पहले प्रवर्तित हो चुका था।

इस तरह हम देखते है कि कुन्दकुन्दसे दो शताब्दी पश्चात्के उल्लेख मूलसघ सम्बन्धी मिलते हैं। अत इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि ईसाकी चतुर्थ शताब्दीमें मूल सघ नामकी स्थापना अवश्य हो चुकी थी। इसकी स्थापनामें कुन्दकुन्दका प्रत्यक्ष हाथ भले ही न रहा हो किंतु उसकी

नींव इन्हें उन्हींके हाथोंके द्वारा रखी प्रतीत होती है क्योंकि वे ही प्रथम दिगम्बराचार्य हैं जिन्होंने अपने प्राभृतोंमें स्पष्ट रूपसे वस्त्र और स्त्री मुक्तिका निषेध किया है और ये ही दो बातें मूल हैं जिन्हें अपनानेके कारण दिगम्बर परम्पराको मूलसंघ नाम दिया गया।

कुन्दकुन्दान्वयका प्राचीन उल्लेख मर्कराके जिस ताम्रपत्रमें है डा० गुलाब चन्द्र जीने उसके जाली होनेकी बात कही है। इसीसे हमने उसकी चर्चा ही नहीं की। किन्तु मर्कराका यह ताम्रपत्र शिला लेख नं० ६४ से बिल्कुल मिलता हुआ है। शिला लेख ६४ में कोङ्गणि वर्मा ने जिस मूल संघके प्रमुख चन्द्रनन्दि आचार्यको भूमिदान दिया है उसीको दान देनेका उल्लेख मर्कराके ताम्रपत्रमें भी है। किन्तु इसमें चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा भी दी है और उन्हें देशीयगण कुन्दकुन्दान्वयका बतलाया है। नं० ६४ लेखका अनुमानित समय ईस्वी पाँचवीं शताब्दीका प्रथम चरण है और मर्कराके ताम्रपत्रमें अंकित समयके अनुसार उसका समय ई० ४६६ होता है। कोंगुणि वर्माके पुत्र दुर्विनीतका समय ४८० ई० से ५२० ई० के बीच घटता है। अतः मर्कराके ताम्रपत्रमें अंकित समयमें कोंगुणिवर्मा वर्तमान था। और उन्होंने जिस चन्द्रनन्दिको दान दिया, वे भी वर्तमान होना चाहिये। ताम्रपत्रमें अंकित तिथि वर्तानेमें भूल हो सकती है और कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगणका प्रयोग भी पीछेका हो सकता है किन्तु ताम्रपत्रमें दत्त चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा जाली प्रतीत नहीं होती उसका आधार अवश्य ही कोई पूर्व उल्लेख होना चाहिये।

चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—गुणचन्द्र-अभयनन्दि-शील-भद्र-जयनन्दि-गुणनन्दि-चन्द्रनन्दि। इसमें नन्द्यन्त नाम ही अधिक हैं और कुन्दकुन्दका मूल नाम भी पद्मनन्दि था। अतः यदि उक्त गुरु परम्पराके साथ कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख भी रहा हो तो असंभव नहीं है। हाँ, जैसा कि डा० गुलाबचन्द जी ने लिखा है, यह ताम्रपत्र पीछेसे पुनः अंकित किया गया है। यदि यह ठीक हो तो उस समय कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगण जोड़ दिया गया हो यह संभव हो सकता है।[1]

कुन्दकुन्दके उत्तर कालीन प्रभावको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रारम्भसे ही दि० जैन परम्परा पर प्रभाव रहा है। और इसलिये यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दान्वयकी स्थापना

---

१ जैन शिला लेख संग्रह भाग ३ की प्रस्तावनामें।

इसलिये कुन्दकुन्द नाम परसे हुई हो, इसमें स्थानका नाम तो आ ही जाता है।

कोंगुणिवर्मा अविनीतका पुत्र दुर्विनीत पूज्यपाद स्वामीका शिष्य था और पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें कुन्दकुन्दकी बारस अणुवेक्खासे कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं। इस अनुप्रेक्षाके अन्तमें ग्रन्थकारने अपना नाम कुंदकुन्द दिया है। कुन्दकुन्दके पश्चात् पूज्यपाद आचार्यकी सर्वार्थसिद्धिमें ही श्वेताम्बरीय मान्यताओंपर आक्रमण किया गया मिलता है। कुन्दकुन्दने तो केवल साधुओंके वस्त्रधारण और स्त्री मुक्तिके विरोधमें ही लिखा है किन्तु पूज्यपादने केवलीके कवलाहारवाली तीसरी बातको भी इसमें सम्मिलित कर लिया है।

अतः पूज्यपादके शिष्य दुर्विनीतके पिता कोंगुणि वर्माके शिला लेखमें कुंदकुंदान्वयका उल्लेख होना संभव है। ऐसी स्थितिमें यदि ताम्रपत्रमें अंकित कुंदकुंदान्वयके छै आचार्योंका समय सौ वर्ष भी मान लिया जावे तो कहना होगा कि ईसाकी चौथी शताब्दीके मध्यमें कुंदकुंदान्वय प्रवर्तित हो चुका था। यह हम पीछे देख चुके हैं कि ऐतिहासिक आधारों पर मूल संघकी स्थापनाका उद्गम भी ईसाकी चतुर्थ शताब्दीमें पहुँचता है। और इस तरह मूल संघ तथा कुंदकुंदान्वयकी प्रवृत्ति लगभग समकालीन ही प्रमाणित होती है। और इन दोनोंके उद्गमके मूलमें आचार्य कुन्दकुन्द ही परिलक्षित होते हैं। इस पृष्ठभूमिमें उत्तर कालमें कुंदकुंदको जो महत्त्व मिला उसका कारण स्पष्ट हो जाता है।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थ

महत्ता—उपलब्ध दि० जैनसाहित्यमें कालक्रमकी दृष्टिसे कसायपाहुड और षट्खण्डागम सूत्रोंके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य रचित साहित्यका ही नम्बर आता है। इस दृष्टिसे उक्त दोनों आगमिक सूत्र ग्रन्थोंको बाद कर दिया जावे तो दि० जैन परम्परामें कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य ही आद्य साहित्य ठहरता है। फिर कसायपाहुड और षट्खण्डागममें उन विषयोंकी कोई चर्चा नहीं है जिन विषयोंकी चर्चा कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित उपलब्ध साहित्यमें है। अतः उनके साहित्यका महत्त्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि वह जैन परम्पराका एतद् विषयक आद्य साहित्य ठहरता है। उत्तर कालमें जैन परम्परामें द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व और आचार विषयक जो विचारधारा प्रवाहित हुई और ग्रन्थकारोंने अनेक ग्रन्थोंमें जो इन विषयोंको पल्लवित

और पुष्पित किया उनका मूल कुन्दकुन्द रचित साहित्य ही है। अतः वैदिक धर्ममें उपनिषदोंको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान दि० जैन परम्परामें कुन्दकुन्दके साहित्यका है। उनके प्राभृतोंको यदि जैन उपनिषद् कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

डा० उपाध्येने लिखा[1] है कि शायद वेदान्तियोंके प्रस्थानत्रयीकी समानताके आधार पर कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारको नाटकत्रय या प्राभृतत्रय कहते हैं। यह बतलाता है कि ये तीनों ग्रन्थ जैनोंके लिये उतने ही पवित्र और मान्य हैं जितने वेदान्तियोंके लिये उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता हैं।'

अध्यात्मके तो कुन्दकुन्द एकमात्र पुरस्कर्ता हैं। समयसारके द्वारा उन्होंने आत्मतत्त्वका जो निरूपण किया है वह समस्त जैन वाङ्मयमें अनुपम है। उसके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। इसीसे अध्यात्म प्रेमी, जैन साम्प्रदायिक भेद-भावको छोड़कर समयसारके अध्यात्मरसका पान करते आते हैं।

अतः कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान जैन तत्त्वज्ञानके अभ्यासियोंके लिये खास तौरसे पठनीय और मननीय हैं।

भगवान् महावीरके उपदेशका माध्यम अर्धमागधी भाषा थी। अर्धमागधी प्राकृत भाषाका ही एक रूप है। कसायपाहुडके गाथा सूत्र और षट्खण्डागमके सूत्र भी प्राकृत भाषामें हैं। कुन्दकुन्दने भी प्राकृत भाषामें ही अपने ग्रन्थ रचे हैं। तबतक जैन वाङ्मयमें संस्कृत भाषाका प्रवेश नहीं हुआ था।

कुन्दकुन्दके प्राय सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहे जाते हैं। कुछको उन्होंने स्वयं इस नामसे अभिहित किया है यथा—समयपाहुड, चरित्तपाहुड, भाव पाहुड। पाहुडका संस्कृत रूप 'प्राभृत' होता है। प्राभृतका अर्थ है—भेंट। इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर जयसेनने अपनी टीकामें समय प्राभृतका अर्थ इस प्रकार किया है—'जैसे देवदत्त नामका कोई व्यक्ति राजाका दर्शन करनेके लिए कोई सारभूत वस्तु राजाको देता है उसे प्राभृत (भेंट) कहते हैं। वैसे ही परमात्माके आराधक पुरुषके लिए निर्दोष परमात्मा रूपी राजाका दर्शन करनेके लिए यह शास्त्र भी 'प्राभृत' है। किन्तु यह अर्थ तो लौकिक अर्थ है।

---

१ प्रवचनसारकी प्रस्ता०, पृ० १।

२ 'यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किञ्चित् सारभूत वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृत भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्।'—समय प्राभृत टी०

प्राभृतका आगमिक अर्थ यतिवृषभने अपने चूर्णि सूत्रोंमें इस प्रकार किया है—'जम्हा पदेहि पुदं (फुड) तम्हा पाहुडं' (कसायपाहुड भा १ पृ० ३८६)। जो पदोंसे स्फुट हो उसे पाहुड कहते हैं। जयधवलामें वीरसेन स्वामीने प्राभृतका अर्थ इस प्रकार किया है—'जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थङ्करके द्वारा 'प्राभृत' अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परा रूपसे लाया गया है वह प्राभृत'[1] है।

अत. 'प्राभृत' शब्द इस बातका सूचक है कि जिस ग्रन्थके साथ वह संयुक्त है वह ग्रन्थ द्वादशांगवाणीसे सम्बद्ध है, क्योंकि गणधरके द्वारा रचित अंगों और पूर्वोंमेंसे पूर्वोंमें प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार होते थे। बारह अंगोंमें सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण अंग दृष्टिवाद था। दृष्टिवाद अंगके ही अन्तर्गत चौदह पूर्व थे। पूर्वोंका महत्त्व सर्वोपरि था। पूर्वविद् कहनेसे अंगोंका ज्ञान उनमें समाविष्ट माना जाता था किन्तु अंगविद् कहनेसे पूर्वोंका ज्ञान समाविष्ट नहीं माना जाता था। अत पूर्वविद् और श्रुतकेवली शब्द एकार्थवाची थे। वेदना खण्डके कृति अनुयोगद्वारके आदिमें जो मंगल सूत्र है उनमें दस पूर्वियों तकको नमस्कार किया है किन्तु अंगविद्को नमस्कार नहीं किया। उनही पूर्वोंके अन्तिमवेत्ता श्रुतकेवलि भद्रबाहु थे जो दक्षिणापथको चले गये थे। उनके अभावमें पाटली पुत्रमें जो प्रथमवाचना हुई उसमें ग्यारह अंग तो संकलित हो सके किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय बारहवें अंगका कोई जानकार दूसरा था ही नहीं। इसलिए वह संकलित ही नहीं हो सका। फलत. श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोंका लोप होगया।

श्वेताम्बरोंकी तरह दिगम्बरोंने कभी भी अंगोंको संकलित करनेका प्रयत्न नहीं किया। इसका एक विशिष्ट कारण है। दिगम्बर परम्परामें अंगज्ञानका उत्तराधिकार गुरु शिष्यके रूपमें प्रवाहित होता रहा। गुरु अपना उत्तराधिकार जिसको सौंप जाता था वही उस ज्ञानका अधिकारी व्यक्ति माना जाता था।

---

१ 'प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृत प्रस्थापित इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैं विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारित व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।'—कसा० पा०, भा० १, पृ० ३२५।

६८३ वर्षकी अंगविदोंकी परम्परा यही बतलाती है। अतः मुनियोंके संघको एकत्र करके वाचना करनेका प्रश्न ही दिगम्बर परम्परामें नहीं उठा। इसीसे क्रमसे ज्ञानका लोप होता चला गया। और अंग ज्ञान अन्त तक रहा जबकि पूर्वोंका ज्ञान बहुत पहले लुप्त होगया। फिर भी अन्तमें जो बचा वह पूर्वोंका ही अवशेष बचा। कषायपाहुड और षट्खण्डागम दोनों क्रमसे पञ्चम और दूसरे पूर्वसे सम्बद्ध हैं।

उन्हीं पूर्वोंका यत्किञ्चित् अवशिष्टांश कुन्दकुन्दको भी अवश्य प्राप्त हुआ जो समय पाहुडके रूपमें निबद्ध हुआ। समय पाहुडमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन है वह जैन वाङ्मयमें अन्यत्र कहीं मिलता ही नहीं। उसे कुन्दकुन्दने श्रुतकेवली कथित कहा है और वह श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं जिनका जयकार कुन्दकुन्दने बोधप्राभृतके अन्तमें किया है। अतः कुन्दकुन्दकी रचनाएँ भी एक तरहसे उतनी ही मान्य और प्रामाणिक हैं जितने उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ हैं।

किन्तु कुन्दकुन्दका साहित्य जैन तत्त्वज्ञानके प्राथमिक अभ्यासियोंके लिये उपयोगी नहीं है। ऐसे उच्चकोटिके साहित्यमें पारिभाषिक शब्दोंकी बहुतायत होना स्वाभाविक है और पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषाओंका न होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि उनकी रचना प्राथमिक अभ्यासियोंके लिये नहीं, अपितु अभ्यस्तोंके लिए की गई है।

फिर कुन्दकुन्दने अपने उपदेश प्रधान षट्प्राभृतोंमें जो उपदेश दिया है उस उपदेशके प्रधान लक्ष्य हैं श्रमण-जैनसाधु। भावप्राभृत, लिंगप्राभृत, सूत्रप्राभृत और मोक्षप्राभृत तो उन्हींसे सम्बद्ध चर्चाओंसे भरे हुए हैं। प्रवचनसार नियमसार और समयसारकी रचना भी प्रधानरूपसे श्रमणों और श्रामण्यपदके अभिलाषियोंको ही लक्ष्यमें रखकर की गई है। अतः जिनकी दृष्टि सम्यक् है वे ही कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका ठीक रहस्य समझनेके अधिकारी हैं। उनके कथनमें जो नय दृष्टियाँ हैं उनको समझे बिना उनके कथनको नहीं समझा जा सकता। और उभय नयदृष्टियोंको समझकर भी उभयनय दृष्टियोंके पारस्परिक विरोधको मिटानेवाले स्याद्वादको लक्ष्यमें रखे बिना ज्ञाता अपनेको मध्यस्थ नहीं रख सकता। अतः कुन्दकुन्दके ग्रन्थ रचनाशैली और वस्तुप्रतिपादन शैलीकी दृष्टिसे सरल और सुगम होते हुए भी गहन हैं। आगे उनके ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है।

कहा जाता है कि कुन्दकुन्दने ८४ पाहुडोंकी रचना की थी। कुछके नाम भी सुने जाते हैं किन्तु इस कथनमें वास्तविक तथ्य कितना है यह कहना

शक्य नहीं है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमेंसे कुछको तो निश्चित रूपसे कुन्द-कुन्द कृत माना जाता है किन्तु कुछके सम्बन्धमें विवाद है। जिन ग्रन्थोंको निश्चित रूपसे कुन्दकुन्दकृत माना जाता है उनको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। एक भागमें पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार आते हैं और दूसरे भागमें अन्य प्राभृतादि आते हैं। पहला भाग कुन्दकुन्दके जैन-तत्त्वज्ञान विषयक प्रौढ़ पाण्डित्यसे परिपूर्ण है और दूसरा भाग सरल एवं उपदेश प्रधान आचरणमूलक तत्त्वचिन्तनको लिए हुए हैं। पहले भागमें दार्शनिक एवं तत्त्वचिन्तक कुन्दकुन्दाचार्यके दर्शन होते हैं और दूसरे भागमें श्रमणाधिपति आचार्य कुन्दकुन्दके दर्शन होते हैं।

उनकी शैली प्रसन्न सरल एवं गम्भीर है। उनकी एक एक गाथा एक एक अनमोल रत्न है। गम्भीरसे गम्भीर विषयका प्रतिपादन वे इतनी सरलतासे करते हैं कि पाठकको उसे हृदयंगम करनेमें कठिनाई नहीं होती। उनके उपदेश माताके दूधके समान पवित्र एवं निर्दोष हैं और आलोचना परमहितोपदेशी गुरुकी शिक्षा है। पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धिको प्रारम्भ करते हुए एक निर्ग्रन्थाचार्यके जो विशेषण दिये हैं—'परहितप्रतिपादनैककार्य और युक्त्यागम कुशल, वे दोनों विशेषण कुंदकुंदमें पूरी तरहसे घटित होते हैं। पहला भाग उनकी युक्ति और आगममें कुशलताकी छापसे अंकित है दूसरा भाग परहितप्रतिपादनतासे। किन्तु समयसारमें तो उनकी दोनों विशेषताएँ पद-पद पर छाई हुई हैं। कुन्दकुन्दके दोनों गुणोंका निखार समयप्राभृतमें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। निश्चय और व्यवहारका जो सामञ्जस्य उसमें बतलाया गया है वह उनकी युक्ति और आगमकी कुशलताका अपूर्व उदाहरण है तथा उसके द्वारा जो परमार्थकी सिद्धि बतलाई गई है वह उनके परहित प्रतिपादनके कार्यका ही चमत्कार है। उस अपूर्व तत्त्वके दर्शन अन्यत्र नहीं होते।

सचमुचमें कुंदकुंदका साहित्य हमारे लिए उतना ही महान् है जितना भगवान महावीरकी दिव्यवाणी और गौतम गणधरके द्वारा रचित द्वादशांग।

सबसे प्रथम हम उनके उस साहित्यका परिचय कराते हैं जिसके कुन्दकुन्द रचित होनेमें सन्देह अथवा विवाद है।

१ परिकर्म—इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लिखा है कि कुंदकुंदपुरके पद्मनन्दि ने षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्म नामका ग्रंथ रचा। धवला टीकामें

परिकर्मके अनेक उद्धरण मिलते हैं। कुंदकुंदके समयकी चर्चा करते हुए उसके कतिपय उद्धरण पीछे उद्धृत किये गये हैं और यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि परिकर्म कुन्दकुन्द रचित होना चाहिये। यह ग्रन्थ करणानुयोगका एक अपूर्व ग्रन्थ होना चाहिये। वीरसेन स्वामीके सन्मुख यह उपस्थित था और सभवतया इन्द्रनन्दिने भी इसे देखा था। इस तरह विक्रमकी १०-११वीं शताब्दी तक उसके अस्तित्वका पता चलता है। उसके प्रकाशमें आनेपर कुन्दकुन्दकी युक्त्यागम कुशलतामें चार चाँद लग जायेंगे।

२ मूलाचार—मूलाचार नामक ग्रन्थ वसुनन्दि विरचित संस्कृत टीकाके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला बम्बईसे दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है। टीकाकारने इसे वट्टकेराचार्यकी कृति बतलाया है। किन्तु ग्रथकी अन्तिम पुष्पिकामें उसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत लिखा है। यथा —"इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्याय। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृति। कृतिरिय वसुनन्दिन. श्री श्रमणस्य।"

डा० उपाध्येने प्र० सा० की अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि मुझे दक्षिण भारतसे मूलाचारकी कुछ प्रतियाँ देखनेको मिली है जो बिना किसी मिलावटके असली प्रतीत होती है, उनमें ग्रन्थ कर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया है। श्री जुगल किशोरजी मुख्तारका भी झुकाव इसी ओर है। उन्होंने लिखा[२] है कि सम्भव है कुन्दकुन्दके प्रवर्तकत्व गुणको लेकर ही उनके लिए 'वट्टकेर' जैसे शब्दका प्रयोग किया गया हो।' प० हीरालाल[३]जी सिद्धान्त शास्त्रीने भी 'वट्टकएराचार्य' का 'वर्तकएलाचार्य' अर्थ कल्पना करते हुए मूलाचारको कुन्दकुन्दकी कृति बतलाया है। पं० [४]परमानन्दजीने भी मूलाचारकी गाथाओंका मिलान कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ करके यही निष्कर्ष निकाला है।

किन्तु श्री नाथूरामजी[१] प्रेमी वट्टकेरिको मूलाचारका कर्ता मानते है। उनका कहना है कि वेट्टगेरि या वेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं। मूलाचारके कर्ता उन्हींमेंसे किसी वट्टगेरि या वट्टकेरि ग्रामके रहने वाले होंगे और उसपरसे कोण्डकुन्दादिकी तरह वेट्टकेरि कहलाने लगे होंगे।

इस तरह इसके सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। वट्टकेराचार्य नामके किसी आचार्य

१—जै० सा० और इति० पर वि० प्र०, पृ० १००। २—अनेकान्त, वर्ष १२ कि० ११, पृ० ३३२। ३—अनेकान्त ३ वर्ष, कि० ३। ४—जैन सि० भास्कर, भाग १२, कि० १।

का कहींसे कोई पता नहीं चलता। साथ ही कुदकुदके लिये उनके प्रसिद्ध नामों को छोड़कर इस प्रकारके नये नामका प्रयोग किया जाना भी बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। किन्तु मूलाचार एक प्राचीन ग्रथ है। तिलोयपण्णत्तिमें उसका उल्लेख मिलता है। तथा जैसे कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसारकी अनेक गाथाएँ ति० प० में सगृहीत है वैसे ही मूलाचारकी भी कतिपय गाथाएँ सगृहीत हैं। अत मूलाचार यदि कुन्दकुन्द कृत हो तो कोई आश्चर्य नहीं, बल्कि स्वाभाविक जैसा ही है, क्योंकि मूलसघके मूल आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा मूलाचार नामक ग्रन्थका रचा जाना उचित और सभव प्रतीत होता है। यदि टीकाकार वसुनन्दिने अपनी टीकामें उसके रचयिताका नाम वट्टकेराचार्य न दिया होता तो मूलाचारको कुन्दकुन्द कृत माननेमें शायद कोई विवाद ही पैदा न हुआ होता। किन्तु दूसरे नामके रहते हुए सबल प्रमाणोंके बिना मूलाचारको कुदकुदका नहीं कहा जा सकता।

३ रयणसार—मा० ग्र० माला बम्बईसे प्रकाशित षट्प्राभृतादि सग्रहमें यह ग्रन्थ मूल रूपमें प्रकाशित हो चुका है। इसके सम्बन्धमें डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें जो राय दी है वह इस प्रकार है—'रयणसार ग्रन्थका रूप हमें बहुत बुरी दशामें मिलता है। दो प्रतियोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि गाथाओंकी सख्या तथा क्रम निश्चित नहीं है। यदि अन्य प्रतियाँ एकत्र की जायें तो उनकी सख्या और क्रममें और भी भेद वृद्धि होना सभव है। उसमें विचारोंकी पुनरुक्ति है और व्यवस्थितपना सन्तोषजनक नहीं है। और इसका कारण उसमें अतिरिक्त गाथाओंकी मिलावट हो सकती है। उसके मध्यमें एक दोहा तथा लग भग आधा दर्जन पद्य अपभ्र श भाषामें हैं। कुन्दकुन्दके ग्रथोंमें ऐसा नहीं पाया जाता। अत जिस स्थितिमें रयणसार वर्तमान है, उसे कुन्दकुन्दका नहीं माना जा सकता। यह सभव है कि रयणसारका आधारभूत रूप कुन्दकुन्द रचित हो। फिर भी उस परिणामके पोषक कुछ प्रमाण तो उपस्थित करने ही होंगे। कुछ बातें उसमें ऐसी हैं जो कुन्दकुन्दके कर्तृत्वके बिलकुल अनुरूप नहीं हैं। पुष्पिकामें कुन्दकुन्दका नाम नहीं है। कुछ पद्य अपभ्र शमें हैं जो कुदकुदके ग्रथोंके लिये असाधारण बात है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें बहुतसे विचार कुदकुदके अनुरूप हैं किंतु उसमें कुछ सामाजिक तत्व भी है जो कुदकुदके ग्रथोंमें नहीं मिलते। उसमें गण, गच्छ, सघ वगैरहका उल्लेख है। कुदकुंदके ग्रथोंमें उपमा पाई जाती है किंतु रयणसारमें उनकी बहुतायत है। अत डा० उपाध्येने लिखा है कि

जब तक कुछ अधिक प्रमाण प्रकाशमें नहीं आते तब तक रयणसारका कुन्दकुन्द रचित माना जाना विचाराधीन ही रहेगा।

हमने भी उक्त कारणोंसे इस संग्रहमें रयणसारको सम्मिलित नहीं किया है।

४ दशभक्ति—[1]प्रभाचन्द्रने सिद्धभक्तिकी संस्कृत टीकामें लिखा है कि संस्कृतकी सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकृत हैं और प्राकृतकी सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य कृत हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल प्राकृत भक्तियोंसे हैं। ये भक्तियाँ पञ्च-नमस्कार मन्त्र और चत्तारि दण्डकसे प्रारम्भ होती है।

१ पहली भक्ति—सिद्ध भक्ति है। इसमें बारह गाथाओंके द्वारा सिद्धोंका स्तवन किया गया है। यों तो अपने शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा सब सिद्ध समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है तथापि जिस पर्यायसे उन्होंने सिद्ध दशाको प्राप्त किया उसकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद कल्पना करके उनका स्तवन किया गया है। यथा तीर्थङ्कर सिद्ध, अतीर्थङ्कर सिद्ध, जलसिद्ध, थलसिद्ध, आकाशसिद्ध, इत्यादि।

२ श्रुत भक्ति—इसमें ग्यारह गाथाओंके द्वारा द्वादशांगका स्तवन किया गया है। बारहवें अंगके अनेक भेद हैं जिनमें १४ पूर्व भी हैं। उन पूर्वोंमें वस्तु नामक अनेक अधिकार तथा प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार होते हैं। इसमें प्रत्येक पूर्वके अन्तर्गत वस्तु और प्राभृत नामक अधिकारोंकी संख्या भी बतलाई है। इस दृष्टिसे यह भक्ति महत्त्वपूर्ण है।

३ चारित्र भक्ति—इसमें अनुष्टुप् छन्दमें दस प्राकृत पद्य हैं। आरम्भ भगवान महावीरकी वन्दनासे होता है जिन्होंने सब जीवोंके लिये सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारके चारित्रका कथन किया है। आगे साधुओंके २८ मूल गुणों और उत्तर गुणोंको बतलाया है।

४ योगि भक्ति—इसमें २३ गाथाएँ हैं। उनके द्वारा निर्ग्रन्थ साधुओंका गुणकीर्तन बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया है। दो से लेकर चौदह तक संख्या-वाले गुणोंके द्वारा साधुसम्बन्धी सभी विशेषताएँ उससे ज्ञात हो जाती हैं। यथा, दो दोषोंसे रहित, तीन दण्डोंसे विरत, चार कषायोंका मथन करने-

---

[1] 'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपाद स्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।—दश भक्ति पृ० ६ (शोलापुर संस्करण)।

धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है अत: जो सम्यग्दर्शनसे हीन है उसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। गाथा तीनमें सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहा है और उसे मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया है। गाथा पाँचमें कहा है कि सम्यग्दर्शनसे रहित प्राणी लाखों करोड़ों वर्षों तक घोर तप भी करें, फिर भी उन्हें बोधि लाभ नहीं होता। इस तरह अनेक प्रकारोंसे सम्यग्दर्शनका महत्त्व और स्वरूप बतलाया है।

चरित्त पाहुड—इसमें ४४ गाथाओंके द्वारा चारित्रका कथन किया गया है। गाथा ५ में चारित्रके दो भेद किये हैं—सम्यक्त्व चरण और संयम चरण। नि शंकित आदि गुणोंसे विशिष्ट निर्दोष सम्यक्त्वके पालन करनेको सम्यक्त्व-चरण चारित्र कहते हैं (गा० ८)। संयम चरणके दो भेद किये हैं - सागार और अनगार। सागार अथवा श्रावक धर्मके भेद रूपसे ग्यारह प्रतिमाओंके नाम मात्र गिनाये हैं (गा० २१)। तथा आगे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको सागार संयम चरण बतलाया है। पाँच अणुव्रत तो प्रसिद्ध ही है। दिशा विदिशाका प्रमाण, अनर्थ दण्ड त्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं (गा० २४)। और सामयिक, प्रोषध, अतिथिपूजा तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं (गा० २५)। तत्त्वार्थ सूत्रमें भोगोपभोग परिमाणको शिक्षा व्रतोंमें गिनाया है और सलेखना-को पृथक् रखा है। तथा देशविरति नामका एक गुणव्रत बतलाया है। रत्न-करडश्रावकाचारमें गुणव्रत तो चरित्त पाहुड़की तरह ही बतलाये हैं। किन्तु शिक्षा व्रतोंमें देशव्रतको सम्मिलित करके सलेखना को तत्त्वार्थ सूत्र की तरह पृथक् रखा है। चरित्त पाहुडमें श्रावक धर्मका प्राचीन रूप मिलता है। यद्यपि वह अति संक्षिप्त है।

आगे अनगार धर्मका कथन है। गाथा ३१ से ३५ तक अहिंसादि पाँचों व्रतोंकी पांच पांच भावनाएँ बतलाई है जो तत्त्वार्थ सूत्रमें बतलाई गई भाव-नाओंका पूर्व रूप प्रतीत होती है।

सुत्त पाहुड—इसमें २७ गाथाएँ हैं। प्रारम्भमें बतलाया है कि जो अरहतके द्वारा अर्थ रूपसे भाषित और गणधरके द्वारा ग्रथित हो उसे सूत्र (द्वादशागवाणी) कहते हैं। सूत्रमें जो कुछ कहा गया है उसे आचार्य परम्परा-के द्वारा प्रवर्तित मार्गसे जानना चाहिये। जैसे सूत्र अर्थात् धागेसे रहित सुई खो जाती है वैसे ही सूत्रको न जाननेवाला भी नष्ट हो जाता है।

मोक्खपाहुड—इसकी गाथा सख्या १०६ है। इसका प्रारम्भ करते हुए कहा है कि जिसने परद्रव्यको त्यागकर और कर्मोंको नष्ट करके ज्ञानमय आत्माको पा लिया उस शुद्ध देवको नमस्कार करके परम योगियोंके उत्तम परमात्मापदको कहूँगा, जिसे जानकर योगी अनुपम निर्वाणको प्राप्त करते हैं (१-२) आत्माके तीन भेद हैं—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्माको छोड़कर परमात्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ४ ॥ जो पर द्रव्यमें रत है वह अनेक प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बद्ध होता है और जो उससे विरत है वह कर्मबन्धनोंसे छूट जाता है, यही सक्षेपमें बन्ध और मोक्षका उपदेश जिनेन्द्रदेवने दिया है ॥ १३ ॥ इस प्रकार इस पाहुडमें मोक्षके कारण रूपसे परमात्माके ध्यानकी आवश्यकता और महत्ता बतलाई है।

उक्त छै प्राभृतों पर ही श्रुतसागरने सस्कृत टीका रची है।

सीलपाहुड—इसमें ४० गाथाएँ हैं। जिनके द्वारा शीलका महत्त्व बतलाया है। लिखा है शीलका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है, परन्तु शीलके बिना विषयवासनासे ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥ जो ज्ञान पाकर भी विषयोंमें रत रहते हैं वे मूढ चारों गतियोंमें भटकते हैं और जो ज्ञानको पाकर विषयोंसे विरक्त रहते हैं वे उस भ्रमणको काट डालते हैं ॥ ८ ॥ जो शीलसे रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है ॥ १५ ॥ शील विषयोंका शत्रु है और मोक्षका सोपान है ॥ २० ॥ इस प्रकार सुन्दर शब्दोंमें शीलका माहात्म्य बतलाया है।

लिंगपाहुड—इसमें २२ गाथाएँ हैं। इसका पूरा नाम श्रमण लिंगपाहुड है जैसा कि इसकी प्रथम गाथामें कहा है। जैन श्रमणके लिंगको लक्ष्य करके इसमें उसके निषिद्ध आचरणोंपर आपत्ति की गई है। लिखा है—जो पापी जिनेन्द्रदेवोंके लिंगको धारण करके उसका उपहास कराता है वह लिंगियोंके लिंगको नष्ट करता है ॥ ३ ॥ जो भोजनका लिप्सु है वह श्रमण नहीं है ॥१२॥ जो महिला वर्ग पर राग करता है, गृहस्थ शिष्य पर अनुराग रखता है वह श्रमण नहीं है। जो दुराचारिणी स्त्रीके घर आहार करता है और शरीरका पोषण करता है वह श्रमण नहीं है ॥२१॥

ये पाहुड अष्टपाहुड[1] नामसे एक साथ प्रकाशित हुए हैं और चूँकि श्रुतसागरकी टीका प्रारम्भके छै पाहुडों पर ही है इसलिए वे षट्प्राभृत नामसे एक

---

१. अष्टपाहुड हिन्दी टीकाके साथ कई स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है।

इस प्रसंगमें दर्शन और ज्ञानकी महत्वपूर्ण चर्चा है। यथार्थमें नियमसारका वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पद्म प्रभदेवने इस ग्रन्थको १२ श्रुत स्कन्धोंमें विभक्त किया है। किन्तु यह विभाग ग्रन्थके अनुरूप नहीं है। ग्रन्थकारने ग्रन्थको एक रूपमें ही निमित किया है। मूल ग्रन्थको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट रूपसे प्रतीत होती है।

गाथा १७ के अन्तमें 'लोयविभागेसु णिद्दिट्ठ' पद आता है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि कुन्दकुन्दने सर्वनन्दिके लोक-विभागका निर्देश किया है। किन्तु सर्वनन्दिके लोकविभागका जो संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है उसमें वह चर्चा नहीं है। अत नियमसारका उक्त उल्लेख किसी ग्रन्थ विशेष परक नहीं है। मुख्तार[१] सा० तथा डा० उपाध्ये[२]का भी यही मत है।

पंचत्थिय[३] संगह या पञ्चास्तिकाय—इस ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने 'समय' को कहनेकी प्रतिज्ञा की है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके समवायको[४] 'समय' कहा है। इन पाँच द्रव्योंको पञ्चास्तिकाय कहते हैं। इन्हींका इसमें विशेष रूपसे कथन है। कथनका आरम्भ सत्ता और द्रव्यसे होता है। द्रव्य पर्याय और गुणका पारस्परिक सम्बन्ध (गा० १२–१३) बताते हुए सप्तभंगीका भी नाम निर्देश किया है (गा० १४)। आगे प्रत्येक द्रव्यका क्रमसे कथन है। छहों द्रव्योंके कथनके पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग बतलाते हुए सम्यग्दर्शनके प्रसंगसे सात तत्त्वोंका कथन है। अन्तमें निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग बड़ी सुन्दर रीतिसे बतलाया है।

पञ्चास्तिकायकी दो संस्कृत टीकाएँ हैं। एकके कर्ता अमृतचन्द्र हैं और दूसरीके कर्ता जयसेन। अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार पञ्चास्तिकायकी

१—जै० सा० इ०, पृ० ११। २—अनेकान्त वर्ष २, कि० १, पृ० ११।
३—प्रव० सा० प्रस्ता०, पृ० ४२।

४—इसका दूसरा संस्करण अमृतचन्द्र और जयसेनकी संस्कृत टीकाओं तथा एक भाषा टीकाके साथ रायचन्द शास्त्र माला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। प्रो० चक्रवर्तीके अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावनाके साथ मूल ग्रन्थ आरासे १९२० में प्रकाशित हुआ है। एक संस्करण सूरतसे प्रकाशित हुआ है जिसमें जयसेनकी टीकाका हिन्दी अनुवाद है। तथा एक संस्करण अमृतचन्द्रकी टीका और उसके हिन्दी अनुवादके साथ सेठी ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

गाथा सख्या १७३ है और जयसेनकी टीकाके अनुसार १८१ है। अमृतचन्द्रने ग्रन्थको दो श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित किया है, उनके पूर्वमें एक पीठिका भाग है और अन्तमें चूलिका है। यह विभाग ग्रन्थके अनुकूल है।

अमृतचन्द्रने कुछ गाथाओंको 'सिद्धान्तसूत्र' कहा है और ग्रन्थके नामके अन्तमें 'सग्रह' पद भी है। इस परसे डा० उपाध्येने यह सभावना की है कि कुन्दकुन्दने इस ग्रन्थमें परम्परागत गाथाओंका सग्रह किया है।

प्रवचनसार—अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा सख्या २७५ है और वह तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्धमें ज्ञानतत्त्वकी चर्चा है और उसमें ९२ गाथाएँ हैं। दूसरे श्रुतस्कन्धमें ज्ञेयतत्त्वकी चर्चा है और उसमें १०८ गाथाएँ हैं। तथा तीसरे श्रुतस्कन्धमें चारित्र तत्त्वका कथन है और उसमें ७५ गाथायें हैं। दूसरे टीकाकार जयसेनके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा सख्या ३११ है। तथा उसके अनुसार प्रथम अधिकारमें १०१, दूसरेमें ११३ और तीसरेमें ९७ गाथाऐं हैं।

कुन्दकुन्दकी यह कृति उनकी तत्वज्ञता, दार्शनिकता एव आचार प्रवणतासे ओत प्रोत है। इसकी स्वाध्यायसे उनकी विद्वत्ता, तार्किकता और आचारनिष्ठाका यथार्थरूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें जैन तत्त्वज्ञानका यथार्थरूप और यथार्थ उद्देश. बहुत ही सुन्दर रीतिसे प्रतिपादित किया गया है। यह सचमुचमें 'प्रवचन' का सारभूत ग्रन्थ है।

इसके प्रथम अधिकारमें इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुखको हेय बतलाकर अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुखको उपादेय बतलाया है और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुखकी सिद्धि करते हुए बडी ही सुदर और हृदयग्राही युक्तिके द्वारा आत्माकी सर्वज्ञताको सिद्ध किया है। इसी तरह दूसरे अधिकारमें जो द्रव्योंकी चर्चाकी है वह पञ्चास्तिकायसे विशिष्ट ही नहीं, मौलिक भी है। उसमें द्रव्यके सत्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक और गुणपर्यायात्मक रूप लक्षणोंका प्रतिपादन तथा समन्वय, आत्माके कर्तृत्वा-कर्तृत्वका विचार तथा कालाणुके अप्रदेशित्वका कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैन द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका 'मुकुटमणि' कहे जानेके योग्य यह ग्रन्थ है।

समयपाहुड—अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार समयपाहुडकी गाथा सख्या ४१५ है और जयसेनकी टीकाके अनुसार ४३९ है।

अमृतचन्द्रने पूरे ग्रन्थको नौ अंकोंमें विभाजित किया है। उनके पहले 'पूर्वरंग' है और अन्तमें 'परिशिष्ट' है। अमृतचन्द्रने समयसारको नाटकका रूप दिया है। उसके अनुसार यह संसार एक रंगमञ्च है और उसपर जीव तथा अजीव रूपी नट आस्रव आदिका पार्ट अदा करते हैं। ग्रन्थका अंकोंमें विभाजन, उसके पूर्वभागको पूर्वरंग नाम दिया जाना, संस्कृत नाटकोंकी तरह अंकोंके आदिमें 'प्रविशति' तथा अन्तमें 'निष्क्रान्त.' पदोंका प्रयोग आदि बातें समयसारको नाटकके रूपमें ही पाठकके सामने उपस्थित करती हैं। इससे पाठकको समयसारके समझनेमें पूरी सहायता मिलती है।

यह ग्रन्थ जैन अध्यात्मका मुकुटमणि है। इसके विषयका प्रतिपादक दूसरा ग्रन्थ अखिल जैन वाङ्मयमें नहीं है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। इसीसे इसके प्रारम्भमें सिद्धोंको नमस्कार किया गया है। आगे गा० २ में समयके दो भेद किये हैं—स्वसमय और परसमय। जो जीव अपने दर्शनज्ञान चारित्ररूप स्वभावमें स्थित हो वह स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मोंकी दशाको अपनी दशा माने हुए है वह परसमय है। तीसरी गाथा में कहा है कि एकत्वको प्राप्त वस्तु ही लोकमें सुन्दर होती है अतः जीवके बन्धकी कथामें विसंवाद पैदा होता है॥ चौथीमें कहा है कि काम भोग सम्बन्धी बन्धकी कथा तो सब लोगोंकी सुनी हुई है, परिचयमें आई हुई है अतएव अनुभूत है। किन्तु बन्धसे भिन्न आत्माका एकत्व न कभी सुना, न कभी परिचयमें आया और न अनुभूत है अतः वह सुलभ नहीं है। उसी एकत्व-विभक्त आत्माका कथन निश्चयनय और व्यवहारनयसे किया गया है किन्तु निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकारने उदाहरणोंका प्रयोग बहुतायतसे किया है और विषयको सरलतासे समझानेका पूरा प्रयत्न किया है।

इसमें जीवाजीवाधिकार १, कर्तृकर्माधिकार २, पुण्य-पापाधिकार ३, आस्रवाधिकार ४, संवर अधिकार ५, निर्जरा अधिकार ६, बन्ध अधिकार ७, मोक्ष अधिकार ८, और सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार नामक अधिकार हैं। गाथा १३ में कहा है कि—'भूतार्थनयसे जाने गये जीव अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, संवर निर्जरा बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। तदनुसार ही इस ग्रन्थमें भूतार्थनयसे उक्त तत्त्वोंका विवेचन किया गया है।

१—प्रथम जीवाजीवाधिकारमें जीव और अजीवके भेदको दर्शाते हुए दोनोंके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है। उसमें बतलाया है कि जीवके

अपने विकार सहित चैतन्य परिणामका कर्ता होता है और क्रोधादि उसका कर्म होता है। इस प्रकार अज्ञानसे कर्म होता है ॥९५॥ किन्तु जो इस भेदको जानकर क्रोधादिमें आत्मभाव नहीं करता वह पर द्रव्यका कर्ता नहीं होता।

३—तीसरे पुण्य-पापाधिकारमें पापकी तरह पुण्यको भी हेय बतलाया है। लिखा है—सोनेकी बेड़ी भी बाँधती है और लोहेकी बेड़ी भी बाँधती है। इसी तरह शुभकर्म भी जीवको बाँधता है और अशुभकर्म भी बाँधता है॥१४६॥ अत शुभाशुभ कर्मोंसे राग मत करो उनका ससर्ग मत करो ॥१४७॥ जैसे कोई पुरुष किसी पुरुषको कुशील जानकर उसका ससर्ग छोड़ देता है वैसे ही अपने स्वभावमें रत ज्ञानी कर्म प्रकृतियोंके बुरे स्वभावको जानकर उनका ससर्ग छोड़ देते हैं॥१४८–१४९॥ रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और विरागी कर्मोंसे छूट जाता है। अत चाहे शुभकर्म हो या अशुभ कर्म हो किसी कर्ममें राग मत करो ॥१५०॥ जो परमार्थभूत ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव नहीं करते, वे जीव अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं और संसारका कारण होते हुए भी उसे मोक्षका कारण मानते हैं ॥१५४॥

४—चौथे आस्रवाधिकारमें बतलाया है कि जीवके राग-द्वेष और मोहरूप भाव आस्रव भाव हैं। उनका निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्मण वर्गणाओंका जीवमें आस्रव होता है ॥१६४–१६५॥ रागादि अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीवके होते हैं। ज्ञानीके परिणाम ज्ञानमय होते हैं। ज्ञानमय परिणाम होने पर अज्ञानमय परिणाम रुक जाते हैं। अत ज्ञानी जीवके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। इसलिए बन्ध भी नहीं होता।

५—सवराधिकारमें संवर तत्त्वका कथन है। रागादि भावोंके निरोधको सवर कहते हैं। रागादि भावोंका निरोध होनेपर कर्मोंका आना भी रुक जाता है। सवरका उपाय भेद विज्ञान है। उपयोग तो ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भाव जड़ है। अत न उपयोगमें क्रोधादि भाव और कर्म नोकर्म हैं, और न क्रोधादि भावोंमें तथा कर्म नोकर्ममें उपयोग है। इस प्रकार इनमें परमार्थसे अत्यन्त भेद है। इस भेदको जानना ही भेद विज्ञान है ॥१८१–१८३॥ भेद विज्ञानसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है। शुद्धात्माकी उपलब्धिसे अध्यवसानोंका अभाव होता है। अध्यवसानोंका अभाव होनेसे आस्रवोंका निरोध होता है। और उसके होने पर कर्मोंका निरोध होता है। कर्मके अभावमें नोकर्मका भी निरोध होता है। और नोकर्मका निरोध होनेसे ससारका निरोध होता है ॥१९०–१९२॥

६—निर्जराधिकारमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंके द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सब निर्जराका कारण है ॥१९३॥ जैसे वैद्य विष खाकर भी नहीं मरता वैसे ही ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता है किन्तु कर्मोंसे नहीं बँधता ॥१९५॥ क्योंकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह राग पुद्गल कर्म हैं। मेरे अनुभवमें जो रागरूप आस्वाद होता है यह उसके विपाकका फल है। अत. वह मेरा भाव नहीं है। मैं तो शुद्ध ज्ञायक भाव रूप हूँ ॥१९९॥ इस तरह सम्यग्दृष्टि ज्ञायक स्वभाव आत्माको जानता हुआ कर्मके उदयको कर्मका विपाक जानकर छोड़ देता है। यह निर्जरा तत्त्वका निश्चयनयसे वेदन है।

७—बन्धाधिकारमें एक दृष्टान्तके द्वारा बन्धका कारण स्पष्ट किया है। लिखा है—जैसे कोई मल्ल शरीरमें तेल लगाकर धूल भरी भूमीमें खड़ा होकर तलवारसे केले आदिके पेड़ोंको काटता है तो उसका शरीर धूलसे लिप्त हो जाता है। यहाँ उसके शरीरमें जो स्नेह (तेल) लगा है उसीके कारण उसका शरीर धूलसे लिप्त हुआ है। इसी तरह अज्ञानी जीव जो रागादि करता हुआ कर्मोंसे बधता है सो उसके उपयोगमें जो रागभाव है वह कर्मबन्धका कारण है। जो ज्ञानी अपने ज्ञान स्वरूपमें ही मग्न रहता है वह कर्मसे नहीं बँधता।

८—मोक्षाधिकारमें बतलाया है कि जैसे कोई पुरुष चिरकालसे बन्धनमें पड़ा हुआ इस बातको जानता है कि मैं इतने समयसे बँधा पड़ा हू किन्तु उस बन्धनको काटनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। वैसेही कर्मके बन्धनके स्वरूपको जाननेसे कर्मसे छूटकारा नहीं होता। जो रागादिको दूर करके शुद्ध होता है वही मोक्ष प्राप्त करता है ॥२८८-२९०॥ जो कर्मबन्धनके स्वभाव और आत्म स्वभावको जानकर बन्धसे विरत होता है वही कर्मोसे मुक्त होता है ॥ २९३ ॥ अर्थात् आत्मा और बन्धके स्वभावको भिन्न भिन्न जानकर बन्धको छोड़ना और आत्माको ग्रहण करना ही मोक्षका उपाय है ॥ २९५ ॥ अब प्रश्न होता है कि आत्माको कैसे ग्रहण करना चाहिये ? तो इसका उत्तर प्रज्ञाद्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिये कि जो यह चेतन आत्मा है वही मैं हूँ। शेष सब भाव मुझसे पर हैं। इत्यादि कथन किया है।

९—सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारमें एक तरहसे उपसहार रूपमें पूर्वोक्त बातोंका ही कथन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विषय शुद्ध आत्म तत्त्व है। वह शुद्ध आत्म तत्त्व सर्वविशुद्ध ज्ञान स्वरूप है। न वह किसीका कार्य है और न वह किसीका कारण है। उसका पर द्रव्यके

साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीसे आत्मा और पर द्रव्यमें कर्ता-कर्म भाव भी नहीं है। इसी कारण आत्मा परद्रव्यका भोक्ता भी नहीं है। अज्ञानवश ही अज्ञानी जीव आत्माको परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता मानता है।

आगे कहा है कि ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जानना मात्र है। ज्ञेयको जानने मात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होता। ज्ञेयको जानकर उसे अच्छा बुरा मान जो आत्मा रागद्वेष करता है यह तो अज्ञान है। अन्तमें पन्द्रह गाथाओंके द्वारा (गा० ३९०-४०४) ज्ञेयसे ज्ञानको भिन्न बतलाते हुए अन्तमें कहा है कि यत जीव सदा जानता है अत वही ज्ञायक है और ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न होता है ॥४०३॥ तथा ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान ही द्वादशाग सूत्र रूप है और प्रव्रज्या भी ज्ञान ही है ॥ ४०४ ॥ अन्तमें कहा है कि लिंग भी मोक्षका मार्ग नहीं है। दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्षका मार्ग है। उसीमें अपनेको लगाना चाहिये ॥ ४११ ॥

—:❀:—

कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित
जैनतत्त्व-ज्ञान

१ सत्ता, द्रव्य-गुण-पर्याय

सत्ताका अर्थ है अस्तित्व-मौजूदगी। अस्तित्व ही सब विचारोंका मूल है। वस्तुके अस्तित्वका निश्चय हो जानेपर ही उसके सम्बन्धमें आगे विचार किया जाता है अत वस्तुविचारका प्रारम्भ सत्तासे किया जाता है।

जगतमें जो कुछ है, वह द्रव्य हो या गुण हो या पर्याय हो, सबसे पहले सत् है उसके पश्चात् ही वह अन्य कुछ है। जो सत् नहीं है वह कुछ भी नहीं है। अत प्रत्येक वस्तु सत् है। सत्के भावको ही सत्ता या अस्तित्व कहते हैं। सत्ताके दो रूप हैं—एक सत्ता सामान्य और एक सत्ता विशेष। सत्ता सामान्य को महासत्ता कहते हैं और सत्ताविशेषको अवान्तर सत्ता कहते हैं। महासत्ताको सादृश्यास्तित्व भी कहते हैं और अवान्तर सत्ताको स्वरूपास्तित्व भी कहते हैं। जैसे घट रूपसे सब घट समान हैं क्योंकि सभी घटोंमें घट घट इत्याकारक प्रत्यय और शब्दव्यवहार होता है वैसे ही सत्रूपसे सभी पदार्थ समान हैं। जब किसी विवक्षित वस्तुमें वर्तमान सत् या अस्तित्व धर्मको सामान्यरूपमें कहा या जाना जाता है तो उसे महासत्ता या सादृश्यास्तित्व कहते हैं और जब उसी

सत् धर्मको विवक्षित वस्तुके ही विशेष धर्मके रूपमें कहा या जाना जाता है तो उसे अवान्तर सत्ता या स्वरूपास्तित्व कहते हैं।

इसका आशय यह नहीं है कि एक वस्तुमें महासत्ता और अवान्तर सत्ता नामकी दो सत्ता होती हैं। प्रत्येक वस्तुकी सत्ता जुदी-जुदी है और प्रत्येक वस्तुमें एक ही सत्ता रहती है। द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको देखनेसे वही सत्ता महासत्ता के रूपमें दृष्टिगोचर होती है और पर्याय दृष्टिसे देखनेसे वही सत्ता अवान्तर सत्ताके रूपमें दृष्टिगोचर होती है। जैसे एक राजाको अपना काम करानेके लिए किसी एक आदमीकी आवश्यकता है। जो भी आदमी पहुँचता है उससे वह अपना काम करा लेता है। उसके बाद उसे देवदत्त नामके आदमीकी आवश्यकता होती है। उसके समयमें जब पहला काम करनेवाला आदमी पहुँचता है तो उससे काम कराना वह अस्वीकार कर देता है, क्योंकि वह आदमी भी आदमी तो अवश्य है मगर वह देवदत्त नामका आदमी नहीं है। अतः अवान्तर सत्ता महासत्ताकी प्रतिपक्षी है और महासत्ता अवान्तर सत्ताकी प्रतिपक्षी है। जब वस्तुको महासत्ताकी अपेक्षासे 'सत्' कहा जाता है उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वस्तु अभावरूप है और जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वस्तुको सत् कहा जाता है उस समय महासत्ताकी अपेक्षा वह अभावरूप है। अतः द्रव्यदृष्टिसे महासत्ता सत्ता है और अवान्तर सत्ता असत्ता है और पर्यायदृष्टिसे अवान्तर सत्ता सत्ता है और महासत्ता असत्ता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने सत्ताका यही स्वरूप पञ्चास्तिकायमें इस प्रकार बतलाया है।

सत्ता सव्वपदत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

अर्थ—सत्ता सब पदार्थोंमें रहती है, समस्त पदार्थोंके समस्त रूपोंमें रहती है, समस्त पदार्थोंकी अनन्तपर्यायोंमें रहती है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, एक है और सप्रतिपक्षा है।

सत्ताका प्रतिपक्षी तो असत्ता ही हो सकती है। किन्तु असत्ताका अर्थ तुच्छ अभाव नहीं लेना चाहिये। जैन सिद्धान्तमें जो सत् है वही दृष्टिभेदसे असत् कहा जाता है। अतः महासत्ताकी दृष्टिसे अवान्तर सत्ता असत्ता है। महासत्ता सर्वपदार्थस्थिता है तो अवान्तर सत्ता एक पदार्थस्थिता है क्योंकि प्रतिनियत पदार्थकी सत्ता प्रतिनियत पदार्थमें ही रहती है। महासत्ता विश्वरूपा है तो अवान्तर सत्ता एकरूपा है। महासत्ता अनन्तपर्याया है तो अवान्तर

सत्ता एक पर्याया है। महासत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक रूप त्रिलक्षणा हैं तो अवान्तर सत्ता अत्रिलक्षणा है। महासत्ता एक है तो अवान्तर सत्ता अनेक है।

इस तरह जगतमें जो कुछ सत् है वह किसी अपेक्षासे असत् भी है। न कोई वस्तु सर्वथा सत् है और न कोई वस्तु सर्वथा असत् है। किन्तु प्रत्येक वस्तु सदसदात्मक है। वस्तुका अस्तित्व केवल इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह अपने स्वरूपको अपनाये हुए है किन्तु इस बात पर भी निर्भर है कि अपने सिवाय वह संसारभरकी अन्य वस्तुओंके स्वरूपोंको नहीं अपनाये हुए है। यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी वस्तुका कोई प्रतिनियत स्वरूप नहीं रह सकता और ऐसा होने पर सब वस्तुएँ सबरूप हो जायेंगी।

आचार्य कुंदकुंदने सत्ताको सप्रतिपक्षा बतलाकर वस्तुविज्ञानका यही रहस्य उद्घाटित किया है। उसीका दार्शनिक दृष्टिसे उपपादन आचार्य श्री समन्तभद्रने आप्तमीमांसा कारिका ९ आदिसे किया है और उस पर अष्टसहस्रीके रचयिता विद्यानन्दने उसे स्पष्ट किया है।

पञ्चास्तिकायकी उक्त गाथाको लेकर ही प० राजमल्ल ने १६ वीं शताब्दीमें पञ्चाध्यायी ग्रंथ रचा है जिसमें सत्ता द्रव्यगुण पर्यायका विवेचन बहुत सुन्दर है।

द्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें गाथा संख्या तीनके द्वारा तथा पञ्चास्तिकायमें गाथा संख्या १० के द्वारा द्रव्यका लक्षण इस प्रकार कहा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥ पञ्चा०

जिसका लक्षण सत् है वह द्रव्य है। जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह द्रव्य है। तथा जो गुण और पर्यायका आश्रय है वह द्रव्य है।

तत्त्वार्थ सूत्रके पाचवे अध्यायमें उमास्वामी ने कुन्दकुन्दकी उक्त गाथाके अनुरूप ही द्रव्यका लक्षण किया है—सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥

उमास्वामीने उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्तको सत् कहा है और सत्को द्रव्य कहा है। कुन्दकुन्दने द्रव्यको ही सत् और उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक कहा है। इन दोनों कथनोंमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सत्ता और द्रव्य

भिन्न भिन्न नहीं है। इसलिये उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है ऐसा कहनेसे भी द्रव्य ही तद्रूप सिद्ध होता है।

पञ्चास्ति० गा० ६ में कुन्दकुन्दाचार्यने द्रव्यको सत्तासे अनन्यभूत लिखा है। तथा प्रवचनसार (गा०२।१३-१४) में लिखा है कि यदि द्रव्य सत्स्वरूप नहीं है और सत्तासे जुदा है तो वह नियमसे असत् ठहरता है। इसलिये द्रव्य स्वयं सत् है। जिनके प्रदेश भिन्न होते हैं वस्तुरूपसे उन्हें भिन्न कहते हैं। सत्ता और द्रव्यके प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीके प्रदेश जुदे जुदे नहीं होते। जैसे जो शुक्ल गुणके प्रदेश है वे ही प्रदेश वस्त्रके है इसलिये उन दोनोंमें प्रदेश भेद नहीं है। वैसे ही सत्ता गुणके जो प्रदेश हैं वे ही प्रदेश गुणी द्रव्यके है। इसलिये सत्ता और द्रव्यमें प्रदेश भेद नहीं है। किन्तु फिर भी सत्ता और द्रव्य सर्वथा एक नहीं है, उनमें कथञ्चित् भेद भी है। क्योंकि जो द्रव्यका स्वरूप है वही स्वरूप सत्ताका नहीं है और जो सत्ताका स्वरूप है वही द्रव्यका स्वरूप नहीं है। सत्ता चूँकि एक गुण है अत वह द्रव्यके आश्रित है और स्वय निर्गुण है। किन्तु द्रव्य किसीका आश्रित नहीं है वह तो सत्ता जैसे अनन्त गुणोंका आश्रय है। इस तरह गुण और गुणीके भेदसे दोनोंमें भेद है किन्तु उनमें प्रदेश भेद नहीं है। जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। अत द्रव्यका गुण रूप और गुणका द्रव्य रूप न होना ही उन दोनोंमें भेद व्यवहारका कारण है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि द्रव्यके अभावको गुण और गुणके अभावको द्रव्य कहते हैं, क्योंकि जैसे सोनेका विनाश होने पर सोनेके गुणोंका विनाश हो जाता है और सोनेके गुणोंका विनाश होने पर सोनेका विनाश हो जाता है वैसे ही द्रव्यके अभावमें गुणका अभाव हो जायेगा और गुणके अभावमें द्रव्यका अभाव हो जायेगा (प्रवचनसार, २।१७)।

द्रव्यके विना गुण नहीं रह सकते और गुणके विना द्रव्य नहीं रह सकता। अत नाम, लक्षण आदिके भेदसे द्रव्य और गुणमें भेद होने पर भी दोनोंका अस्तित्व एक ही है अत वस्तुत्वरूपसे दोनों अभिन्न हैं (पञ्चा० गा० १३)। साराश यह है कि द्रव्यसे भिन्न न गुणका कोई अस्तित्व है और न पर्यायका अस्तित्व है। जैसे सोनेसे भिन्न न पीलापना है और न कुण्डलादि हैं। अत द्रव्यसे उसका गुण और पर्याय भिन्न नहीं हैं। चूँकि सत्ता द्रव्यका स्वरूप भूत अस्तित्व नामक गुण है अत वह द्रव्यसे भिन्न कैसे हो सकती है। इसलिये द्रव्य स्वयं सत्स्वरूप है।

आशय यह है कि सब द्रव्य स्वत सिद्ध है क्योंकि वे अनादि और अनन्त है। जो अनादि और अनन्त होता है वह किसी साधनके द्वारा निष्पन्न नहीं किया जाता। अत गुण पर्यायरूप अपने स्वभावको ही मूल साधनके रूपमें लेकर द्रव्य स्वयं ही अनादि सिद्ध है। वह किसी अन्य द्रव्यसे उत्पन्न नहीं हुआ। जो द्रव्यसे उत्पन्न होता है वह द्रव्य नहीं होता, पर्याय होती है। जैसे मनुष्य पर्याय अथवा द्वयणुक आदि पर्याय। किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्त होता है (प्रव० सा० २६)। वह सदा अपने स्वभावमें स्थिर रहता है अत वह सदा सत है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य—किन्तु द्रव्यका स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। अर्थात् उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य वर्तमान रहता है। ये तीनों परस्पर में अविनाभावी हैं। व्यय अथवा विनाशके विना उत्पाद नहीं होता, उत्पादके विना व्यय नहीं होता, ध्रौव्यके विना उत्पाद व्यय नहीं होते और न उत्पाद व्ययके विना ध्रौव्य रहता है। इसलिये जो उत्तर पर्यायका उत्पाद है वही पूर्व पर्यायका व्यय है, जो पूर्व पर्यायका व्यय है वही उत्तर पर्यायका उत्पाद है। इसी तरह जो उत्पाद-व्यय है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है। इस सत्यको एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

कुम्भपर्यायकी उत्पत्ति ही मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश है क्योंकि कुम्भकी उत्पत्ति पिण्डरूपका विनाश हुए विना नहीं हो सकती। मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश ही कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति है। कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति और पिण्डपर्यायका विनाश ही मिट्टीकी स्थिति है। तथा मिट्टीकी स्थिति ही कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति और पिण्ड पर्यायका विनाश है।

यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य भिन्न भिन्न हो जायेंगे। और ऐसा होने पर बड़ी गड़बड़ उपस्थित होगी जिसका खुलासा इस प्रकार है—मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका नाश हुए बिना घड़ा उत्पन्न नहीं होता। यदि केवल उत्पाद ही माना जाये और व्यय को न माना जाये तो घड़ा उत्पन्न नहीं हो सकता। और जैसे विना व्ययके घड़ा उत्पन्न नहीं हो सका वैसे ही सभी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। यदि मिट्टीके विना भी घड़ा उत्पन्न होता है तो यह तो असत्का उत्पाद हुआ। यदि असत् भी उत्पन्न हो सकता है तो गधेकी सींग, आकाशके फूल जैसी असभव वस्तु भी उत्पन्न होने लगेंगी।

तथा यदि केवल व्यय ही माना जायेगा तो वस्तुका व्यय ही नहीं हो

किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। अत वस्तुको देखनेके लिए भी दो दृष्टियाँ आवश्यक हैं। उनमेंसे एक दृष्टिका नाम द्रव्यार्थिक है और दूसरी दृष्टिका नाम पर्यायार्थिक है। जो पर्यायार्थिकदृष्टिको बन्द करके केवल द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तुको देखता है उसे वस्तुके केवल एक अभेदरूप नित्य द्रव्यत्वका ही भान होता है। और जो द्रव्यार्थिक दृष्टिको बन्द करके पर्यायार्थिक दृष्टिसे वस्तुको देखता है उसे केवल प्रतिक्षण विनाशशील पर्यायका ही प्रतिभास होता है। किन्तु जो दोनों दृष्टियोंको खुली रखकर वस्तुको देखता है उसे वस्तुके उभयरूपों-का प्रतिभास होता है।

इस तरह द्रव्य सत् है, गुणपर्यायवाला है और उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक है। द्रव्यके इन तीनों लक्षणोंमेंसे एकके कहनेपर शेष दो उसीमें समाविष्ट हो जाते हैं। (अर्थात् यदि कहा जाये कि द्रव्य सत् होता है, तो सत् कहनेसे गुण-पर्यायवाला और 'उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक' दोनों ही लक्षण उसमें आ जाते हैं, क्योंकि सत् नित्यानित्यात्मक होता है अत नित्य भावमें ध्रौव्यका तथा अनित्य स्वभावमें उत्पादव्ययका समावेश होता है। तथा गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती है। अतः नित्य अथवा ध्रौव्यमें गुणोंका और अनित्य अथवा उत्पाद व्ययमें पर्यायका समावेश होता है।

इसी तरह द्रव्य गुणवाला है ऐसा कहनेसे द्रव्य ध्रौव्य युक्त है यह स्वयं व्यक्त हो जाता है क्योंकि गुण ध्रुव-स्थायी होते हैं। तथा द्रव्य पर्यायवाला है ऐसा कहनेसे द्रव्य उत्पाद व्ययशील है यह स्वय व्यक्त हो जाता है क्योंकि पर्याय उत्पाद विनाशशील होती है। अत तीनों लक्षण प्रकारान्तरसे द्रव्यके एक ही स्वरूपको बतलाते हैं। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन लक्षणोंके द्वारा द्रव्यके स्वरूपका विश्लेषण किया है, जो बतलाता है कि जैनदर्शनमें एक ही मूल पदार्थ है और वह है द्रव्य। वह अनन्त गुणोंका एक अखण्ड पिण्ड होनेसे गुणात्मक है। गुणोंसे भिन्न द्रव्यका और द्रव्यसे भिन्न गुणोंका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हैं। ये गुण परिणमनशील हैं। गुणोंका समूहरूप द्रव्य स्वयं एक गुणसे अन्य गुणरूप परिणमन करता है अत द्रव्य केवल गुणात्मक ही नहीं है पर्याय रूप भी है।

पर्यायके भेद—अमृतचन्द्र सूरिने (प्रव० सा० गा० २।१ की टीका में) पर्यायके दो भेद किये हैं—गुणपर्याय और द्रव्य पर्याय। अनेक द्रव्योंके मेलसे जो एक पर्याय निष्पन्न होती है वह द्रव्य पर्याय है। द्रव्य पर्यायके भी दो भेद हैं समान जातीय और असमान जातीय। परमाणुओंके मेलसे जो द्व्यणुक आदि पर्याय निष्पन्न होती है वह समान जातीय द्रव्य पर्याय है और जीव

तथा पुद्गलके मेलसे जो मनुष्यादि पर्याय निष्पन्न होती है वह असमान जातीय द्रव्य पर्याय है। गुण पर्यायके भी दो भेद हैं—स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय। प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले अगुरुलघुगुणके निमित्तसे जो उस द्रव्यमें षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन हुआ करता है वह स्वभाव गुण पर्याय है। और अन्य द्रव्यके संयोगसे जो गुणोंमें परिणमन होता है वह विभाव गुण पर्याय है। इस तरह पर्यायोंके भेदके कारण ही इस जगतमें वैचित्र्यके दर्शन होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा० १५) में पर्यायके दो भेद किये हैं—विभावपर्याय और स्वभाव पर्याय। अन्य निरपेक्ष परिणमनको स्वभाव पर्याय कहते हैं और अन्य सापेक्ष परिणमनको विभाव पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलके सिवाय अन्य चार द्रव्योंमें विभाव पर्याय नहीं है। तथा जीव और पुद्गलमें स्वभाव और विभाव दोनों हैं। उनमेंसे सिद्ध जीवोंमें तो स्वभाव पर्याय ही है और संसारी जीवोंमें विभावकी मुख्यता है। पुद्गल परमाणुमें स्वभाव पर्याय है तथा स्कन्धमें विभाव पर्याय ही है। क्योंकि परमाणुके गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्धके गुण वैभाविक हैं। परमाणुका परिणाम अन्य निरपेक्ष होता है और स्कन्धरूप परिणमन अन्य सापेक्ष होता है।

द्रव्यके भेद

द्रव्यके मूल भेद दो हैं—जीव और अजीव। चैतन्य उपयोगमय द्रव्यको जीव द्रव्य कहते हैं। और अचेतन—जड द्रव्योंको अजीव कहते हैं। (प्र० सा० गा० २।३५)। गुणोंके भेदसे ही द्रव्योंमें भेद होता है। गुण ही द्रव्यके लिङ्ग अथवा चिन्ह हैं। गुणोंसे ही द्रव्यका स्वरूप जाना जाता है। वे गुण दो प्रकारके हैं—मूर्तिक और अमूर्तिक। मूर्तिक द्रव्यके गुण मूर्तिक होते हैं और अमूर्तिक द्रव्योंके गुण अमूर्तिक होते हैं। मूर्तिक द्रव्य केवल एक है उसे पुद्गल कहते हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं (गा० ३६)।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण हैं जो सूक्ष्म परमाणुसे लेकर स्थूलसे स्थूल पृथिवी तकमें रहते हैं। ये इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं। शब्द गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय है। अत वह भी मूर्तिक है और इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है (गा० ४०)

अमूर्तिक द्रव्योंमें आकाश द्रव्यका विशेष गुण सब द्रव्योंको अवगाहदान है। धर्म द्रव्यका विशेषगुण गतिमान जीवों और पुद्गलोंको गमनमें कारण होना

है। अधर्म द्रव्यका विशेषगुण स्थितिमें सहकारिपना है। काल द्रव्यका विशेष गुण वर्तना है और आत्माका विशेषगुण उपयोग है। ये संक्षेपसे अमूर्त्ति द्रव्योंके गुण हैं (गा० ४१-४२)

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके प्रदेश संख्यातीत हैं। किन्तु काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है (गा० ४३)। आकाश तो लोक और अलोकमें व्याप्त है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य केवल लोकमें व्याप्त हैं, क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्य लोकमें ही रहते हैं। इसीसे काल द्रव्य भी लोकमें ही है। सारांश यह है कि अन्य कोई द्रव्य लोकसे बाहर नहीं है (गा० ४४)। परमाणु अप्रदेशी है उसके द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं किन्तु प्रदेशकी उत्पत्ति परमाणुके ही निमित्तसे होती है क्योंकि एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं (गा० ४५)। कालाणु भी अप्रदेशी है उसके भी द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है। कालाणु द्रव्यकी पर्यायका नाम समय है। मन्दगतिसे गमन करता हुआ पुद्गल परमाणु कालाणुसे व्याप्त एक आकाश प्रदेशको जितनी देरमें लाघता है उसे समय कहते हैं। वह समय कालाणुकी पर्याय है। कालाणु पुद्गल परमाणुके गमनमें सहकारी होता है। यदि काल द्रव्यको अणुरूप न माना जाये तो समयरूप पर्याय नहीं बन सकती (गा० ४६-४७)।

इस तरह द्रव्यके भेदोंका यह संक्षिप्त परिचय प्रवचनसारसे दिया गया है। इन छै द्रव्योंमेंसे आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल ये चार द्रव्य तो अवगाह, गति, स्थिति और परिवर्तन के सहायक मात्र होनेसे लोक व्यवस्थाके नियामक मात्र हैं। उनकी स्थिति मकान, मार्ग और दिन रात की तरह है। जो न किसीका स्वागत करते हैं और न अवरोध। फिर भी मानव जीवनकी व्यवस्थामें उनसे सहायता मिलती है।

इस संसाररूपी रङ्गमञ्चके सूत्रधार तो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं। इन्हींके क्रियाकलापोंने ससाररूपी रगमंच पर ऐसे अभिनयका विस्तार कर रखा है, जिसका न आदि है और न अन्त है। जो दर्शक उस अभिनयको देखते देखते थककर परेशान हो जाते हैं वे उसकी वास्तविकताकी खोजमें जुट जाते है और उसके रहस्यका भेदन करके अपनेको उससे मुक्त करनेके उपायोंमें सलग्न हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द उन्हीं मुमुक्षुओंमेंसे थे। अत उनके ग्रन्थोंमें जीव और पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वही मुख्य रूपसे पठन और मनन करनेके योग्य है। अत· उसीका यहाँ विवेचन करनेका प्रयत्न किया जाता है।

उनसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस तरह वह जीव संसारमें भटकता रहता है (पञ्चा० गा० १२८-१३०) ।

जीवके ससारमें भटकनेकी इस प्रक्रिया और उसकी समाप्तिके कारणोंकी खोजके फलस्वरूप जैन दर्शनमें सात तत्त्व माने गये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें पुण्य पापको सम्मिलित करनेसे उनकी सख्या नौ होजाती है। इन्हीं नौका यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

२ अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ—

आचार्य कुन्दकुन्दने (प्रव० गा० १-८७) में द्रव्य गुण और पर्यायोंको अर्थ कहा है। तथा गुण और पर्यायोंकी आत्माको द्रव्य कहा है। और प्रवचनसार गा० २-१ में अर्थको द्रव्यमय और द्रव्यको गुणपर्यायमय बतलाकर द्रव्य गुण और पर्यायको अर्थ क्यों कहा है, इसका समर्थन किया है। किन्तु, पञ्चास्तिकाय (गा० १०८) में जीव, अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को अर्थ कहा है। नियमसार (गा० ९) में नाना गुणपर्यायोंसे सयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और अकाशको तत्त्वार्थ कहा है। तथा दर्शन प्राभृतमें (गा० १९) छै द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और साततत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। इसका यह मतलब हुआ कि यद्यपि अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ एकार्थक है तथापि उनमें दृष्टि भेद भी है। जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छै द्रव्य कहे जाते हैं, इनमेंसे कालको पृथक् कर देनेसे शेष पाच को अस्तिकाय कहते है। इसी तरह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये नौ पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें से पुण्य और पाप को पृथक् कर देनेसे शेष सात तत्त्व कहे जाते है। इन्हींके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन ही मोक्षका मूलकारण है। अत कुन्दकुन्दने अपने समयसार पञ्चास्तिकाय नियमसार और प्रवचनसारमें तत्त्वों, पदार्थों और द्रव्योंका ही विशेष रूपसे कथन किया है।

३ निश्चयनय और व्यवहारनय—

आचार्य कुन्दकुन्दने समय प्राभृतमें तत्त्वोंका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया है। वे दो दृष्टियाँ हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। पञ्चास्तिकायमें मोक्षमार्गका कथन भी इन दोनों दृष्टियोंसे किया गया है और नियम सारमें नियमका कथन भी निश्चयनय और व्यवहारनयसे किया गया है। वस्तुतत्त्वके निरूपण में इन दोनों दृष्टियों को यो तो उत्तरकालीन सभी ग्रथकारोंने मान्य किया है किन्तु व्यक्त रूपमें उनका निदर्शन अध्यात्म प्रधान ग्रन्थोंमें ही मिलता है।

तत्त्वार्थ सूत्रमें लोकाकाशेऽवगाह (५।१२) सूत्र के द्वारा सब द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें बतलाया है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि टीकामें पूज्यपादने और तत्त्वार्थ वार्तिकमें अकलंक देवने उक्त सूत्रका व्याख्यान करते हुए कहा है कि यह कथन व्यवहारनयसे किया है। एवंभूतनयसे तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है कोई किसीके आधार नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इन दोनों महान ग्रन्थकारोंने एवंभूतनयका निश्चयनयके रूपमें उल्लेख किया है। और आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० १५३ में 'निश्चयनय एवंभूतो' लिखकर दोनोंको एक बतलाया है। किन्तु अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थ वार्तिकमें 'शुद्धनय' का भी उल्लेख किया है।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥५-८॥ इस सूत्रकी व्याख्यामें अकलंकदेवने लिखा है कि व्यवहारनयसे अनादि कालसे कर्मोंके बन्धनसे बँधा होनेके कारण संसारी जीव सावयव है अतः वह असंख्यात प्रदेशी है। किन्तु शुद्धनयकी अपेक्षा उपयोगस्वभाव आत्मा अप्रदेशी है। इसी तरह अष्टसहस्री पृ० १३५ में आचार्य विद्यानन्द स्वामीने लिखा है कि आत्मा निश्चयनयसे स्वप्रदेश नियत है और व्यवहारनयसे स्वशरीर व्यापी है। सारांश यह है कि वस्तु तत्त्वके निरूपणके दोनों प्रकारोंको सभी जैन दार्शनिकोंने भी अपनाया है। अतः कुन्दकुन्दाचार्यने जो वस्तु तत्त्वका निरूपण दो प्रकारसे किया है वे दोनों प्रकार सर्वसम्मत है। उनमें कोई मतभेद नहीं है।

किन्तु श्वेताम्बर साहित्यमें इस रूपसे निश्चयका कथन नहीं मिलता। जिन भद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यक भाष्य ३५८९ गा० में लिखा है—'लोक व्यवहारमें तत्पर व्यवहारनय भ्रमरको काला कहता है और परमार्थमें तत्पर निश्चयनय कहता है कि भ्रमर पञ्चवर्णवाला है'। इस तरहसे व्यवहारनय और निश्चयनय उन्हे मान्य है। किन्तु निश्चयनयसे जीव सिद्धसमान शुद्ध है इस कथनका यशोविजय उपाध्यायने अपने नयरहस्यमें खण्डन किया है। और इस निश्चयनयको दिगम्बरोंका बतलाया है, तथा उसे उन्मार्गका कारण बतलाया है। यथा—

"सिद्धो निश्चयतो जीव इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः।
निराकृतं तदेतेन यन्नयेऽन्यत्रेऽन्यथा प्रथा ॥८८॥
तेनादौ निश्चयाद्ग्राह्यो नग्नानामपहस्तितः।
स्मार्तनीत्यर्नविप्रायोऽसौ न जगद्धितः ॥८०॥
उन्मार्गकारणं पाप (पा) परम्याने हि देशना।
नात्यादेर्नान्ययोग्य न वचो भेषजवद् हितम् ॥८१॥

ये सीदन्ति क्रियाभ्यासे ज्ञानमात्राभिमानिनः ।
निश्चयान्निश्चय नैते जानन्तीति श्रुते स्मृतम् ॥८२॥

यशोविजयजी उस समय हुये थे जब आगरेमें पं० बनारसीदास समयसारके रसिया हो चुके थे और उनके द्वारा प्रवर्तित समयसार तत्त्व जिज्ञासुओंको आकृष्ट कर रहा था। शायद इसीसे उन्होंने निश्चयनयको उन्मार्गका कारण कहा है।

सिद्धसेनकृत सन्मति तर्कमें नयोंका बहुत सुन्दर और विस्तृत वर्णन है। किन्तु वहाँ निश्चयनयका नाम तक नहीं है। बस, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकका ही कथन है। लिखा है, न केवल द्रव्यार्थिकनयको स्वीकार करनेसे संसार बनता है। और न केवल पर्यायार्थिक नयको स्वीकार करनेसे संसार बनता है क्योंकि द्रव्यार्थिकनय नित्यवादी है और पर्यायार्थिकनय अनित्यतावादी है। नित्यपक्षमें भी सुख दु खका संप्रयोग नहीं बनता और अनित्य पक्षमें भी। योगके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है और कषायके निमित्तसे स्थितिबन्ध होता है। आत्माको कूटस्थ नित्य माननेसे तथा क्षणिक माननेसे कर्मबन्ध होना संभव नहीं है। (गा० १७-१९)। इस तरह उन्होंने द्रव्यैकान्तवाद और पर्यायैकान्तवादका निराकरण किया है। अत श्वेताम्बर परम्परामें कुन्दकुन्द प्रतिपादित निश्चय और व्यवहारनयकी परम्पराके दर्शन नहीं होते। हाँ, उपाध्याय यशोविजयजीके समयमें एक भोजसागर हुए है जो श्वेताम्बर परम्पराके तपोगच्छके थे। उन्होंने द्रव्यानुयोगतर्कणा नामका ग्रन्थ रचा है। इसमें आलापपद्धतिमें जो नयोंका विवेचन है उसका सकलन किया है। और लिखा है कि यद्यपि दिगम्बर देवसेनके कथनमें और हम श्वेताम्बरोंके कथनमें कोई भेद नहीं है तथापि देवसेनने मन्द बुद्धियोंको ठगनेका प्रयत्न किया है क्योंकि नय तो सात ही कहे गये हैं। अस्तु, इससे प्रतीत होता है कि निश्चय और व्यवहारकी दिगम्बर परम्परा सम्मत कथनी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें रुचिकर नहीं रही है।

४ निश्चय और व्यवहारके भेद प्रभेद—

कुन्दकुन्द स्वामीने यद्यपि प्रवचनसारमें एक स्थान पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका निर्देश किया है किन्तु अन्यत्र व्यवहार और निश्चय नयका ही उल्लेख किया है तथा निश्चयको शुद्ध नय भी कहा है फलतः व्यवहार नय अशुद्ध नय है। इनके भेद-प्रभेदोंका कोई उल्लेख उनके साहित्यमेंनहीं मिलता। आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाओंमें भी उन भेदप्रभेदोंका कोई निर्देश नहीं हैं। प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमें उन्होंने बहुतसे नयोंका कथन किया है किन्तु उनमें निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद प्रभेदरूप नय नहीं हैं। हाँ,जयसेनाचार्यने समयसारकी 'ववहारो भूयत्थो' आदि गाथाकी टीकामें व्यवहार नयके भूतार्थ और अभूतार्थ तथा निश्चय-

नयके शुद्ध और अशुद्ध भेद किये हैं। तथा समय-प्राभृत गा० ७ में जो 'व्यवहार-नयसे ज्ञानी के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहे जाते हैं' ऐसा कथन है वहाँ उसे सद्भूत व्यवहारनयका कथन बतलाया है। तथा आगम कहा है कि अशुद्ध निश्चय नयसे आत्मा रागादिभावोंका कर्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे द्रव्य कर्मोंका कर्ता है। समयसारकी टीकामें एक जगह उन्होंने लिखा है सिद्धान्तादि शास्त्रोंमें अशुद्ध पर्यायार्थिक नयसे अभ्यन्तर रागादिको और बहिरंग शरीर के वर्णादिको जीव कहा है। किन्तु इस अध्यात्म शास्त्रमें शुद्ध निश्चयनयसे उनका निषेध किया है।'

१०४ की अष्टशतीमें अकलंकदेवने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। उन्होंने कहा है कि मूल नयों की शुद्धि और अशुद्धिकी अपेक्षासे नयोंके बहुतसे भेद होते हैं। उसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें कहा है कि मूलनय द्रव्यार्थिक है और उसकी शुद्धिकी अपेक्षा संग्रहनय है क्योंकि वह समस्त उपाधियोंसे रहित शुद्ध सन्मात्र तत्त्वको विषय करता है। अतः सम्यक् एकत्व रूपसे सबका संग्रह करनेके कारण उसे संग्रह कहते हैं और अशुद्धिकी अपेक्षा व्यवहार नय है क्योंकि वह संग्रह नयके द्वारा गृहीत पदार्थोंका विधिपूर्वक भेद करता है तथा द्रव्यत्व आदि विशेषण रूपसे स्वतः अशुद्ध वस्तुको स्वीकार करता है।

उक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है और व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। फिर भी अशुद्ध नयके रूपमें व्यवहार नयको तो अध्यात्म शास्त्रमें अपना लिया गया किन्तु शुद्धनयके रूपमें संग्रह नयको नहीं अपनाया गया। इसका कारण यह है कि अध्यात्म शास्त्रके शुद्धनय की दृष्टिमें और संग्रह नयकी दृष्टिमें अन्तर है। शुद्धनय परभावसे भिन्न निर्विकल्प वस्तु स्वभावका ग्राही है और संग्रहनय विभिन्न वस्तुओंमें वर्तमान एकत्वकी दृष्टिसे सबका संग्रह करता है। जैसे सन्मात्रके द्वारा सब सत्पदार्थोंका ग्रहण करना, द्रव्यत्वरूपसे सब द्रव्योंको एक रूपसे ग्रहण करना। किन्तु शुद्ध नय किसी को किसीसे नहीं मिलाता। अतः संग्रहनयकी शुद्धता निश्चय नयकी शुद्धतासे भिन्न प्रकारकी है। इसी तरह नाम साम्य होनेपर भी अध्यात्मके व्यवहार नय और इतर व्यवहार नयमें भी अन्तर है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि जैसे निश्चयनय द्रव्यार्थिकनयका स्थानापन्न है वैसे ही अध्यात्म क्षेत्रमें व्यवहारनय पर्यायार्थिकनयका स्थानापन्न है। किन्तु अध्यात्म क्षेत्रसे बाहर अर्थात् दार्शनिक क्षेत्रमें जो व्यवहारनय है वह द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है। और वहाँ पर्यायार्थिक नयके भेद उससे भिन्न हैं। अध्यात्ममें तो अबद्ध, अस्पृष्ट, अविशिष्ट, असंयुक्त वस्तु स्वरूपके सिवाय जो कुछ भी कथन है वह सब व्यवहारनयमें गर्भित है। सारांश यह है कि वस्तुका जितना भी विश्लेषण है वह चाहे द्रव्य परक हो अथवा पर्यायपरक, वह सब व्यवहार नयके अन्तर्भूत है। इसीसे आलाप पद्धतिमें कहा है—

णिच्छयववहारणया मूलिम भेया णयाण सव्वाण।
णिच्छयसाहणहेउ पज्जय दव्वत्थिय मुणह॥

'सब नयोंके मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। और निश्चयके साधनमें हेतु पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक है।

असद्भूत भेद करके प्रत्येकके उपचरित और अनुपचरितकी अपेक्षा दो भेद किये हैं। बस इतने ही नय अध्यात्म सम्मत हैं। शेष सब नय शास्त्रीय हैं। जयसेनाचार्यने समयसारकी अपनी टीकामें इन्हीं नयोंका प्रयोग किया है। किन्तु ये विभाजन उत्तर कालीन ही ज्ञात होता है। कुन्दकुन्दके अध्यात्ममें दो ही नय हैं—निश्चय और व्यवहार। उनका निश्चय शुद्ध ही है। जो अशुद्ध है वह सब व्यवहार है।

अब प्रश्न यह होता है कि निश्चय और व्यवहारमें भेद करनेकी आवश्यकता क्यों हुई।

कुन्दकुन्दके शुद्ध अध्यात्मके अनुसार आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र स्वरूप है, यह भी व्यवहारनयका कथन है। और आत्मा रूप रस गन्ध-स्पर्श गुण वाला है यह भी व्यवहारनयका कथन है। किन्तु इन दोनों कथनोंमें आकाश पातालका अन्तर है। सम्यग्दर्शन आदि आत्माके ही स्वाभाविक गुण हैं, तीन कालोंमें भी वे आत्माके सिवाय अन्यके गुण नहीं है। किन्तु रूप रसादि तो पुद्गलके गुण हैं तीनों कालोंमें भी वे आत्माके गुण नहीं हो सकते। फिर भी चूंकि आत्मा अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है इसलिए उन्हें उपचारसे आत्माका गुण कहते हैं। इन दोनों कथनोंको एक ही श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता था। अत प्रथम कथनको व्यवहारनयके क्षेत्रसे निकालकर अशुद्धनयकी श्रेणीमें रखा गया। और यह स्पष्ट कर दिया कि शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार है।

अब प्रश्न यह होता है कि जिस द्रव्यका जो स्वाभाविक रूप है उसी रूपको उसका कहना व्यवहार क्यों है? जो जिस रूप है उसको उसी रूप कहने पर भी द्रव्यकी अखण्डताको गहरी क्षति पहुँचती है। सुनने वालेको ऐसा लगता है कि द्रव्य स्वत सिद्ध, अनादि निधन और निर्विकल्प रूप न होकर, परत सिद्ध सादिसान्त और भेद रूप है। किन्तु वास्तवमें तो द्रव्य इससे बिलकुल विपरीत है। अतः उक्त कथन भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका चित्रण नहीं करता इसलिये वह भूतार्थ नहीं अभूतार्थ है और इसलिये व्यवहार है। किन्तु इस अभूतार्थ कथनके विना आत्माके भूतार्थ स्वरूपको नहीं पहचाना जा सकता। अतः व्यवहार होते हुए भी वह निश्चयका साधक माना जाता है। उक्त कथनमें 'व्यवहरणं भेद-करणं व्यवहारः' व्यवहार नयका यह लक्षण घटित होता है। क्योंकि उक्त कथन अखण्ड वस्तुका खण्ड खण्ड करके प्रतिपादन करता है।

होनेके कारण उसे निश्चय कहते हैं। इस प्रकार दोनोंके मेलसे अशुद्ध निश्चय कहा जाता है।

(यहां ब्रह्मदेवजीने निश्चयकी जो उपपत्ति दी है वह चित्तको नहीं लगती। औपाधिक भावसे तन्मय हुआ जीव निश्चयनयकी सीमासे बाहर ही है। फिर भी इसे अशुद्ध निश्चय क्यों कहा गया है। इसके लिए रागद्वेषके कर्तृत्वके सम्बन्धमें विचार करना होगा।)

समयसार गा ५० आदिमें कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि जीवके न तो राग है, न द्वेष है और न मोह है क्योंकि ये सब पुद्गलके परिणाम हैं। किन्तु कर्तृकर्मअधिकार (गा० १३९-१४०) में कहा है कि यदि जीवके कर्मके सहभावसे रागादि परिणाम होते हैं, ऐसा मानते हो तो जीव और कर्म दोनोंके ही रागादि परिणाम होने चाहिये, किन्तु रागादि परिणाम तो अकेले जीवके होते हैं। अतः कर्मोदयरूप निमित्तके बिना ही रागादि परिणाम जीवके हैं।

(इसके पूर्व गा० १२१-१२५ में सांख्यमतको लक्ष्यमें रखकर कहा है— 'जीव स्वयं कर्मसे नहीं बँधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है'। यदि तेरा ऐसा मत है तो जीव अपरिणामी ठहरता है। और जीवके स्वयं क्रोधादि रूपसे परिणमन न करनेपर या तो संसारका अभाव प्राप्त होता है या सांख्य मतका प्रसंग आता है (सांख्य मतमें जीवको सर्वथा अपरिणामी माना है)। यदि पौद्गलिक कर्म क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है तो जो पौद्गलिक कर्म स्वयं क्रोध रूप परिणत नहीं होता वह जीवका क्रोधरूप परिणमन कैसे करा सकता है? यदि तेरी ऐसी मति है कि आत्मा स्वयं क्रोधरूप परिणमन करता है तो क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमाता है ऐसा कहना मिथ्या है। अतः क्रोधमें उपयुक्त आत्मा ही क्रोध है, मानमें उपयुक्त आत्मा ही मान है, मायामें उपयुक्त आत्मा ही माया है और लोभमें उपयुक्त आत्मा ही लोभ है।'

ऊपर रागद्वेष मोहको जीवका नहीं बतलाया किन्तु पुद्गलका परिणाम बतलाया है और बादको कहा है कि रागादि परिणाम चूंकि जीवके होते हैं पुद्गलके नहीं होते इसलिए उनका कर्ता जीव है। यदि नय दृष्टिपर ध्यान न दिया जाये तो ये दोनों कथन परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है।

शुद्ध जीवके रागद्वेष मोह नहीं होते अत यह निश्चित है कि वे जीवके नहीं हैं। किन्तु अशुद्ध दशामें रागद्वेष मोहरूप जीव ही परिणमन करता है, पुद्गलका परिणमन रागादिरूप नहीं होता और जो परिणमन करता है वही कर्ता कहा जाता है। चूंकि जीव ही रागादिरूप परिणमन करता है इस लिये वही रागादि भावोंका कर्ता है। और रागादि भाव उसीके परिणाम कहे जाते हैं।

प्रवचन सारके ज्ञेयाधिकारमें (गा० ८१) कुन्दकुन्द स्वामीने यह शका उठाई है कि पुद्गल परमाणु तो मूर्तिक है उसमें स्पर्शादि गुण पाये जाते हैं अत पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध होता है आत्मा तो अमूर्तिक है, स्पर्शादि गुणवाला नहीं है वह कर्मसे कैसे बँधता है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जैसे आत्मा रूपादि गुणोंसे रहित होने पर भी रूपादि द्रव्योंको और गुणोंको जानता है वैसे ही रूपादि रहित होने पर भी रूपी कर्मोसे बंधता है। आगे लिखा है कि 'पुद्गलोंका बन्ध स्पर्श आदि गुणोंके द्वारा होता है और जीवका बन्ध रागादिके द्वारा होता है। आत्मा सप्रदेशी है वह आत्मा मोह रागद्वेषमें प्रविष्ट होकर कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है इसीको आगममें बन्ध कहा है। अरहन्त देवने निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका कथन किया है। व्यवहारनयका कथन इससे भिन्न है।'

इसी गाथा ६७ की टीकामें अमृतचन्द्र सूरिने कहा है कि राग परिणामोंका आत्म ही कर्ता, उपादाता और हाता (छोड़ने वाला) है यह शुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाला निश्चयनय है। और पुद्गल परिणामोंका कर्ता हाता आदि आत्मा है यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाला व्यवहारनय है।' इसकी टीकामें जयसेनाचार्यने लिखा है कि 'रागादिका ही आत्मा कर्ता और भोक्ता है यह निश्चयनयका लक्षण है। किन्तु यह निश्चयनय द्रव्यकर्म बन्धका कथन करने वाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्य का निरूपण करता है। विवक्षित निश्चयनयकी अपेक्षा इसे अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। इस कथनके प्रकाशमें ब्रह्मदेवजीके कथनको देखनेसे उसकी यथार्थता समझमें आजाती है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जो कथन जिस अपेक्षासे किया गया है उस अपेक्षाको यदि दृष्टिसे ओझल कर दिया जाये और उस आपेक्षिक कथनको ही ऐकान्तिक सत्य मान लिया जाये तो मनुष्य सत्यसे भटक जाता है। अत अन्य कथनोंके साथ सगति बैठाकर ही प्रत्येक कथनकी यथार्थताको जाना जा सकता है। इस लिये व्यवहार और निश्चयके भेद प्रभेदोंको समझनेके

साथ ही साथ यह नहीं भुला देना चाहिये कि निश्चयनयके कथनके मूलमें शुद्ध आत्मोपलब्धिकी भावना निहित है तथा व्यवहारनय जो कहता है वह सर्वथा मिथ्या नहीं है। केवल शुद्धात्मोपलब्धिकी दृष्टिसे ही मिथ्या है।

सांख्य मतकी प्रक्रिया—कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें कई जगह लिखा है कि ऐसा माननेसे सांख्य मतका प्रसंग आ जायेगा। अतः समयसारके पाठकको सांख्य मतकी प्रक्रिया भी जानना चाहिये।

सांख्य दो मूल तत्त्व मानता है—एक प्रकृति या प्रधान और दूसरा पुरुष या आत्मा। इनमेंसे प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। तथा प्रकृति परिणामी है और प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र पुरुष कूटस्थ नित्य है—अर्थात् अपरिणामी है। सांख्य मानता है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध ही है। अपरिणामी होनेसे वह संसार दशामें भी विकृत नहीं होता। वह संसार तथा मोक्ष, दोनों दशाओंमें एक सा सहज शुद्ध रहता है। उसपर पुण्य-पापका किसी भी तरहका असर नहीं पड़ता। सांख्य मतके अनुसार संसार और मोक्ष प्रकृतिका होता है क्योंकि प्रकृति परिणामी है अतः उसमें विभिन्न अवस्थायें होना सम्भव है। सांख्य कारिकामें लिखा है—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

'अतः न कोई बंधता है। न कोई छूटता है और न कोई संसारमें भटकता है। नानाश्रया प्रकृति ही संसारमें भटकती है, बंधती है और मुक्त होती है।'

आत्मा न तो बद्ध है और न मुक्त। बन्ध और मोक्ष प्रकृतिके होते हैं और प्रकृतिके समीपमें सदा विद्यमान आत्मामें उनका आरोप होता है। जैसे आकाशमें उड़ने वाला पक्षी, स्वच्छ पानीमें उड़ता दिखाई देता है वैसे ही प्रकृतिके बन्ध और मोक्ष पुरुषमें व्यवहृत होते हैं क्योंकि उनका परस्परमें विशिष्ट सान्निध्य है। तथा सांख्य मतमें बुद्धि भी प्रकृतिजन्य है। वही ज्ञान अज्ञान, धर्म अधर्म, सुख दुःख, पुण्यपाप आदि भावोंका आधार है। जब बुद्धि अहंकार आदि रूप प्रपञ्च पुनः प्रकृतिमें सिमट जाता है तब प्रकृतिका मोक्ष होता है और उपचारसे पुरुष भी मुक्त कहा जाता है।

सारांश यह है कि सांख्य-योग दर्शन, सुख, दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष, आदि भाव पुरुषमें न मानकर सात्त्विक बुद्धि तत्त्वमें मानता है। और उसकी पुरुषमें पड़नेवाली छायाको ही आरोपित संसार कहता है। अतः जब

मुक्त दशामें सात्विक बुद्धि अपने भावोंके साथ अपने मूलकारण प्रकृतिमें विलय होती है तो पुरुषमें आरोपित सुख दुःख, इच्छा द्वेष आदि भावोंका और कर्तृत्वकी छायाका भी अभाव हो जाता है। इसीका नाम मुक्ति है। इस तरह सांख्य दर्शनने पुरुषको कूटस्थ नित्य—अपरिणामी माननेके कारण उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व बन्ध मोक्ष आदि अवस्थाओंको उपचरित माना है। उसके बिना पुरुषकी कूटस्थ नित्यता सुरक्षित नहीं रहती।

किन्तु जैनदर्शन परिणामी नित्यताके सिद्धान्तका पक्षपाती है। उसमें सांख्यकी तरह केवल जड प्रकृतिको ही परिणामी नहीं माना, वह आत्म द्रव्यको भी परिणामी नित्य मानता है। उसका आत्म तत्त्व शरीर परिमाण वाला होनेके कारण संकोच विस्तारशील है। चींटीकी आत्माका परिमाण चींटीके शरीर बराबर है। जब वह चींटीके शरीरको छोड़कर हाथीके शरीरमें जन्म लेता तो उसका परिमाण हाथीके शरीरके बराबर होता है। इस तरह शरीरके संकोच विस्तारके अनुसार संसारी जीवका भी संकोच विस्तार होता है। मुक्त हो जाने पर संकोच विस्तार वाली बात समाप्त हो जाती है क्योंकि शरीरका और कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है। अतः आत्मा अन्तके शरीरसे कुछ न्यून आकारको लिए सदा स्वाभाविक परिणमनसे परिणत हुआ करता है।

तथा जैनदर्शनमें ज्ञान सुख वगैरह जीवके स्वाभाविक गुण माने गये हैं। और बन्ध तथा मोक्ष भी आरोपित नहीं हैं वास्तविक हैं। जो ऐसा मानते हैं कि संसार दशामें भी जीव सिद्धके समान शुद्ध है कर्मसे अबद्ध और अस्पृष्ट है। वे सांख्यमतावलम्बी हैं जैनमतावलम्बी नहीं हैं। अबद्ध अस्पृष्ट आत्माका अनुभव करना भिन्न बात है और आत्माको वास्तवमें अबद्ध-अस्पृष्ट मानना भिन्न बात है। जैन अध्यात्मशास्त्रका एकमात्र लक्ष्य शुद्ध आत्म स्वरूपकी प्रतीति-के द्वारा उसकी उपलब्धि कराना है न कि सांख्यकी कूटस्थ नित्य आत्माकी तरह उसे सर्वथा अबद्ध और मुक्त बतलाना। किन्तु निश्चय दृष्टिसे किए गए कथनमें सांख्य मतकी झलक आ जाना सम्भव है। और यदि उस कथनको आगे पीछेके साथ मिलाकर न पढ़ा जाये तो उससे भ्रम हो सकता है।

उदाहरणके लिए अमृतचन्द्र सूरिका एक कलश नीचे दिया जाता है—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये-
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अर्थ—इस अनादि महा अविवेक पूर्ण नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता फिरता है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारोंसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति स्वरूप है।

यह कथन पीछे उद्धृत साख्यकारिकाके कथनके ही अनुरूप है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि जीव तो 'शुद्ध चैतन्य धातुमय है अत पुद्गल ही ससारमें भटकता फिरता है'। साख्यका तो यह सिद्धान्त ही है। किन्तु इस कलशको इसके पहले और पीछेके कलशके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह भ्रम दूर हो जाता है। आगेके कलशमें कहा है कि इस प्रकार ज्ञानरूपी आरेको चलानेके चातुर्य द्वारा जबतक जीव और अजीव विघटित नहीं हो जाते' इत्यादि।

समयसारके बन्धाधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामीने दृष्टान्त पूर्वक बन्धका कथन करते हुए कहा है 'कि जैसे कोई पुरुष शरीरमें तेल लगाकर धूल भरी भूमिमें शस्त्राभ्यास करता है तो उसका शरीर धूलसे लिप्त हो जाता है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि जो रागादिरूप उपयोग करता है उसके कारण वह कर्मरजसे लिप्त हो जाता है।' अत जैन सिद्धान्तमें बन्ध और मोक्ष सांख्यकी तरह उपचार मात्र नहीं हैं, किन्तु वास्तविक हैं। मगर वास्तविक होते हुए भी अगन्तुक होनेसे बन्ध हेय है, उपादेय नहीं है।

साख्य आत्माको सर्वथा अकर्ता मानता है। समयसारमें भी आत्माको पर द्रव्यका अकर्ता बतलाया है। गाथा ३२१ आदि में कहा है कि लौकिक जन विष्णुको जगतका कर्ता मानते हैं उसी तरह यदि श्रमण (जैन साधु) आत्माको षट्कायका कर्ता मानते हैं तो दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। अत आत्माको परका कर्ता मानना मिथ्यात्व है। आत्मा अपने भावोंका कर्ता है।

आगे जो एकान्तसे कर्मको कर्ता और आत्माको सर्वथा अकर्ता मानते हैं उनके निराकरण करनेके लिए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

यदि सब कुछ कर्म ही करते हैं और आत्मा सर्वथा अकर्ता है तो चूँकि स्त्रीवेद कर्मके उदयसे पुरुषकी अभिलाषा होती है और पुरुषवेद कर्मके उदयसे स्त्रीकी अभिलाषा होती है। अत स्त्री पुरुषसे और पुरुष स्त्रीसे रमण करने पर भी व्यभिचारके दोषी नहीं कहे जायँगे। और ऐसी स्थितिमें कोई जीव व्यभिचारी नहीं कहा जा सकेगा क्यों कि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है। इसी तरह परघात नामक कर्म दूसरेका घात करता है, आत्मा तो अकर्ता है अत कोई घात करने पर भी घातक नहीं कहलायेगा, क्योंकि कर्म कर्मका घात करता है। यह दोष बतलाकर कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो श्रमण

जीवकी अशुद्ध दशाका परिणाम है और न केवल पुद्गलकी अशुद्ध दशाका परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गलके मेलसे उत्पन्न हुई अशुद्ध दशाका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जितना सत्य जीवका अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गलका अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनोंका मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्यकी तरह पुरुषमें आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुषके संयोगजन्य बन्धका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और वस्तुभूत हैं। अत सभीका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूँकि उसकी दृष्टिमें कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना उपादान कारण, अत आत्म प्रतीतिमें निमित्तभूत देव, शास्त्र और गुरु वगैरहका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी हैं मार्गणा-स्थान भी हैं, सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टिको किसी वस्तु विशेपके साथ कोई पक्ष-पात नहीं है। वह वस्तु स्वरूपका विश्लेषण किसीके हित अहितको दृष्टिमें रखकर नहीं करती।

सर्वार्थ सिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिकमें नयोंका विवेचन करते हुए शब्द नयके विवेचन पर यह आपत्ति उठाई है कि इससे तो लोक और शास्त्र दोनोंका विरोध होता है। तो उसका उत्तर देते हुए कहा गया है—रहो विरोध, यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जाती है, तत्त्व मीमांसा करते समय मित्र और शत्रुका विचार नहीं किया जाता। ठीक यही शास्त्रीय दृष्टिकी स्थिति है, जो प्राय समस्त जैन शास्त्रोंमें दृष्टिगोचर होती है और शास्त्रार्थी विद्वान् लोग जिससे सुपरिचित हैं। किन्तु अध्यात्म दृष्टि आत्म तत्त्वकी मुख्यतासे ही वस्तु तत्त्वका विवेचन करती है।

२ आध्यात्मिक दृष्टिकोण—शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें रखकर वस्तुका विचार किया जाता है। जो आत्माके आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्मको केन्द्रमें रखकर जगतके स्वरूपका विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्मदृष्टि आत्माको केन्द्रमें रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्तमें ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्मविचारणामें एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहारसत्य है। इसीसे जैसे शास्त्रीय क्षेत्रमें वस्तुतत्त्वका विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्ममें निश्चयनय और व्यवहारनयके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन

किया जाता है। और निश्चय दृष्टिको परमार्थ और व्यवहार दृष्टिको अपरमार्थ माना जाता है, क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपको दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्थाको दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है उसकी प्राप्तिके लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टिकी आवश्यकता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन करा सकनेमें समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है, अत मुमुक्षुके लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अत वह अभूतार्थ कही जाती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतके प्रारम्भमें 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणओ' लिखकर व्यवहार नयको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयको भूतार्थ कहा है।

इसकी व्याख्या करते हुवे अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि 'व्यवहार नय अभूतार्थ है क्योंकि वह अविद्यमान असत्, अभूत अर्थका कथन करता है'। इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'कीचडसे कलुषित हुए गदले जलको कीचड और जलका भेद न कर सकने वाले अधिकांश मनुष्य तो मैला ही अनुभव करते है। किन्तु कुछ मनुष्य अपने हाथसे डाली गई निर्मलीके प्रभावसे जल और मैलके भेदको जानकर उस जलको निर्मल ही अनुभव करते है। उसी तरह प्रबल कर्मरूपी मलके द्वारा जिसका स्वाभाविक ज्ञायक भाव तिरोभूत हो गया है ऐसे आत्माका अनुभव करने वाला व्यवहारसे विमोहितमति अविवेकी पुरुष आत्माको नाना पर्यायरूप अनुभव करता है किन्तु भूतार्थदर्शी मनुष्य शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मका भेद जानकर ज्ञायकभावस्वभाव आत्माका ही अनुभव करता है। यहाँ शुद्धनय निर्मलीके समान है। अत जो शुद्धनयका आश्रय करता है वही सम्यक् दृष्टा होनेके कारण सम्यग्दृष्टी है किन्तु जो व्यवहार नयका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है। अत कर्मसे भिन्न आत्माका अनुभव करने वालोंके लिये व्यवहारनयका अनुसरण करना योग्य नहीं है।'

इस व्याख्यासे अध्यात्ममें निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ माननेका तथा एकको उपादेय और दूसरेको हेय कहनेका क्या हेतु है, यह स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयनय शुद्धरूपका दर्शन करता है इसलिये उसे शुद्धनय भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार (गा० १४) में शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि -'जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, और

असंयुक्त जानता है उसे शुद्धनय जानो। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है—'शिष्य पूछता है कि अबद्ध, अस्पृष्ट, आदिरूप आत्माकी अनुभूति कैसे होती है। उसका समाधान यह है कि बद्ध, स्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं अतः उनसे रहित आत्माकी अनुभूति हो सकती है। इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं। जैसे जलमें डूबे हुए कमलिनीके पत्तोंकी जलमें डूबी हुई अवस्थाको देखते हुए उनका जलसे स्पृष्ट होना भूतार्थ है। फिर भी जब हम कमलिनीके पत्तोंके स्वभावको लक्ष्यमें रखकर देखते हैं तो उनका जलसे स्पृष्टपना अभूतार्थ है, क्योंकि कमलिनीका पत्र जलसे सदा अस्पृष्ट ही रहता है। इसी तरह आत्माकी अनादि पुद्गलकर्मोंसे बद्ध और स्पृष्ट अवस्थाका जब अनुभव करते हैं तो आत्माका बद्धपना और स्पृष्टपना भूतार्थ है। किन्तु जब आत्माके स्वभावका अनुभवन करते हैं तो बद्ध-स्पृष्टपना अभूतार्थ है।'

आशय यह है कि आत्मा॰ दो रूप हैं एक स्वाभाविक और एक वैभाविक। स्वाभाविकरूप वास्तविक होनेसे भूतार्थ है और वैभाविक रूप औपाधिक या औपचारिक होनेसे अभूतार्थ है। भूतार्थग्राही निश्चयनय है और अभूतार्थग्राही व्यवहारनय है। जैसे मिट्टिके घड़ेको मिट्टीका घड़ा कहना निश्चय है और चूँकि उसमें घी भरा है इसलिये घीके संयोगसे उसे घीका घड़ा कहना व्यवहार है। जब उस घड़ेके साथ घीके संयुक्त अवस्थाको देखते हैं तो घीका व्यवहार भूतार्थ है किन्तु जब उसके स्वाभाविक मिट्टी रूपको देखते हैं तो वह अभूतार्थ है।

इसी तरह आत्मा अनादिकालसे कर्मपुद्गलोंसे बद्ध और स्पृष्ट होनेसे बद्ध और स्पृष्ट प्रतीत होता है, कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, अविभागी प्रतिच्छेदोंमें हानि वृद्धि होनेके कारण अनियत रूप प्रतीत होता है, दर्शन ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट प्रतीत होता है तथा कर्मके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेष मोह रूप परिणामोंसे संयुक्त प्रतीत होता है। इस तरह व्यवहार नयसे आत्मा बद्ध, स्पृष्ट, अन्य रूप, अनियत, विशिष्ट और संयुक्त प्रतीत होता है। व्यवहार नयकी दृष्टिसे ये सब प्रतीतियाँ भूतार्थ हैं किन्तु व्यवहार नयके द्वारा ज्ञायक स्वभाव रूप आत्माको नहीं जाना जा सकता और उसके जाने बिना आत्माको नहीं जाना जा सकता। अतः व्यवहार नयके प्रतिपक्षी शुद्धनयके द्वारा आत्माके असाधारण ज्ञायक भावको लक्ष्यमें रखने पर उक्त सब भाव अभूतार्थ हैं।

सारांश यह है कि पर द्रव्यके संयोगसे अशुद्धता होती है। उसमें मूल द्रव्य अन्य द्रव्य रूप नहीं हो जाता, केवल पर द्रव्यके संयोगसे अवस्था मलिन

अत चूँकि अशुद्ध दशा वास्तविक है इसलिये उसका दर्शक अथवा प्ररूपक व्यवहारनय भी वास्तविक है। किन्तु शुद्ध दशा जैसी वास्तविक है अशुद्ध दशा उस रूपमें वास्तविक नहीं है, क्योंकि शुद्ध दशा वस्तुकी स्वाभाविक अवस्था है, अतएव स्थायी और यथार्थ है। किन्तु अशुद्धदशा परद्रव्यके सयोगसे होती है, अत आगन्तुक होनेसे अस्थायी और अयथार्थ है। इसीलिये उसका दर्शक व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है। ऐसे नयका शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें परम्परया उपभोग भले ही हो, किन्तु साधकतमपना नहीं है। इसी-लिये वह हेय है। किन्तु सभी अवस्थाओंमें सभीके लिये वह हेय नहीं है, निचली अवस्थामें स्थित जीवोंके लिये वही उपयोगी होता है।

६ व्यवहारनय भी उपादेय है—

समय प्राभृत (गा० १२) में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—जो परम-भावदर्शी है उनके लिये तो शुद्धका कथन करनेवाला शुद्धनय ही जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभावमें स्थित हैं वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

अमृत चन्द्रजीकी टीकाके आधार पर प० जयचन्द्जीने परम भावदर्शी का अर्थ किया है—'जे शुद्धनयताई पहुंच श्रद्धावान भये तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् भये'। और जो श्रद्धा तथा ज्ञानके और चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुँचे है, साधक अवस्थामें स्थित हैं उन पुरुषोंको अपरम भावोंमें स्थित कहा है।

गाथा १२ के 'अपरमे ट्ठिदा भावे' का अर्थ करते हुए जयसेनाचार्यने लिखा है—'अपरमे अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिता।'

अर्थात सातवें गुणस्थान तकके जीव अपेक्षा भेदसे अपरम भावमें स्थित हैं। और उनके लिये व्यवहारनयसे उपदेश करना योग्य है। समयसारकी आत्मख्याति वचनिकाके प्रारम्भमें प० जयचन्द्रजीने भी यही बात लिखी है। उन्होंने लिखा है—

'बहुरि ऐसा जानना—जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार है, प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होगा। सो यह तौ अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्तीके भी होय है। तहाँ बाह्य व्यवहार तौ अविरत रूप ही रहै। तहाँ बाह्य व्यवहारका आलम्बन है ही। अर अन्तरग सर्वनयका

पक्षपात रहित अनेकान्त तत्त्वार्थकी श्रद्धा होय है। बहुरि जब स्वयमधारि प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि होय अर जहाँ ताइ साक्षात् शुद्धोपयोगकी प्राप्ति न होय श्रेणी न चढै, तहाँ शुभरूप व्यवहारका ही अवलबन हैं। बहुरि दूजा साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्रका होना सो अनुभवमें शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति होय, तामैं व्यवहारका भी आलम्बन नहीं, अर शुद्धनयका भी आलम्बन नहीं। जातैं आप साक्षात् शुद्धोपयोगरूप भया तब नयका आलम्बन काहेका? नयका आलम्बन तौ जेतै राग अश था तेतैंहि था। ऐसैं अपने स्वरूपकी प्राप्ति भये पीछै पहलैतो श्रद्धामें नयपक्ष मिटै है। पीछै साक्षात् वीतराग होय तब चारित्र सम्बन्धी पक्षपात मिटै हैं। ऐसा नहीं, जो साक्षात् वीतराग तौ भया नाहीं अर शुभ व्यवहारकूं छोडि स्वच्छन्द प्रमादी होय प्रवर्तै। ऐसा होय तौ नय विभागमैं समझा नाहीं, उलटा मिथ्यात्व ही दृढ भया।'

उक्त गाथा १२ के ऊपर श्रीकानजी स्वामीने अपने प्रवचनमें भी साधक अवस्थामें व्यवहारको प्रयोजनीभूत बतलाया है। उन्होंने कहा है—'जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा ज्ञान-चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजन भूत है क्योंकि उनके पूर्ण होनेका विकल्प नहीं रह गया है। किन्तु जिसने पूर्ण निर्मलकी श्रद्धाकी है और जो साधकदशारूप मध्यम भावका अनुभव करता है उसे रागको दूर करके क्रमश आंशिक स्थिरताको बढानेका व्यवहार प्रयोजनभूत है। × × × जो पूर्ण चारित्र दशाको प्राप्त नहीं हुए मध्यदशा-(चौथेसे छठे गुण स्थान तक) में वर्तमान हैं वे जब स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभ भावरूप व्यवहार होता है। ××× तत्त्वकी यथार्थ प्रतीति होने पर अन्तरगमें जो आंशिक स्थिरता प्रकट होती है उसे श्रावककी पाँचवी भूमिका कहते हैं। शुद्ध दृष्टिके बलसे तीन कषायोंकी चौकडीका अभाव करके अन्तरंगमें चारित्रकी विशेष स्थिरता प्रकट करनेवाली मुनि दशा छठे गुण स्थानमें होती है। और उससे विशेष स्थिरता, एकाग्रता, निर्विकल्प ध्यान दशा सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थानमें मुनिके होती है। उस समय बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं होता, मैं अनुभव करता हूं, आनन्द लेता हूँ, ऐसा विकल्प नहीं होता, वह तो अन्तरङ्गमें स्वरूप अखण्ड आनन्द अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशामें होते हैं तब (छठे गुण स्थानमें) तत्वका मनन, शिष्यको उपदेश देना, शास्त्रोंकी रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि सम्बन्धी विकल्प बीचमें आ जाता है।' (समय० प्रव०, १ भा० पृष्ठ २४१)

उक्त सब व्याख्यानोंसे यह स्पष्ट है कि शुद्धोपयोगकी दशामें जो नहीं पहुँचे हैं, दूसरे शब्दोंमें जो श्रेणीमें स्थित नहीं हैं ऐसे सातवें गुणस्थान पर्यन्त जीव अपरम भावमें स्थित लिए गये हैं। उनके लिए व्यवहार नयसे उपदेश करना योग्य है। किन्तु जो व्यवहारकी सीमाका अतिक्रमण करके परम भावमें स्थित हैं उनके लिये तो एक मात्र शुद्धनय ही प्रयोजनीभूत है।

इस कालमें तो इस क्षेत्रमें सातवें गुणस्थानसे ऊपर कोई जीव पहुँच ही नहीं सकता। अत इस भरत क्षेत्रमें जितने मनुष्य हैं वे सभी अपरम भावमें स्थित हैं अतः उनके लिये तो व्यवहारनय ही प्रयोजनीभूत है। अत कुन्दकुन्द स्वामीके आदेशानुसार वे सब व्यवहारनय द्वारा ही उपदेश करनेके योग्य हैं, उसीसे उनका कल्याण हो सकता है।

७ व्यवहार नयकी भूतार्थता और उपादेयता—

समयसार गाथा १३ में कहा है कि भूतार्थनयसे जाने गये नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन है। इस गाथाकी टीकामें अमृतचन्द्रने लिखा है—'कि इन नौ तत्त्वोंको यदि बाह्य दृष्टिसे देखा जाये तो जीव और पुद्गलकी अनादि बन्ध पर्यायका अनुभवन करनेसे ये सभी भूतार्थ हैं। और एक जीव द्रव्यके स्वभावका अनुभवन करने पर ये सभी अभूतार्थ हैं। इसी तरह अन्तर्दृष्टिसे देखने पर जीव तो ज्ञायक भावरूप है। जीवके विकारका कारण अजीव है। पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सब अकेले जीवके विकार नहीं हैं। किन्तु अजीवके विकारसे जीवके विकारके कारण उत्पन्न हुए हैं। इन नौ तत्त्वोंको जब जीव स्वभावको छोड़कर स्व और परके निमित्तसे होनेवाली एक द्रव्यकी पर्याय रूपसे अनुभव करते हैं तो ये भूतार्थ है। और जब जीवके कभी न चिकने वाले स्वभावकी अपेक्षा देखते है तो ये अभूतार्थ हैं'।

आगे और लिखा है कि–एकत्वरूपसे प्रकाशमान आत्माके जाननेके उपायभूत जो प्रमाण नय निक्षेप हैं वे भी भूतार्थ और अभूतार्थ हैं।' प्रमाता प्रमेयके भेदका अनुभव करते हुए प्रमाण भूतार्थ है, और जीव स्वभाव-का अनुभवन करनेपर अभूतार्थ है। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय भी द्रव्य और पर्यायका भेद रूप अनुभवन करनेपर भूतार्थ है और शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीवका अनुभवन करनेपर अभूतार्थ हैं।

साराश यह है कि अपने अपने विषयकी दृष्टिसे सभी व्यवहार भूतार्थ है किन्तु शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीवके अनुभवनकी दृष्टिसे सब अभूतार्थ है। अतः साधक अवस्थामें व्यवहार भी भूतार्थ और उपादेय है।

अपनाता है। पश्चात् अपने अभिप्रायमें उसको दूर करनेका भाव रखकर जिस कालमें यह आत्मा विशिष्ट भावनाके सौष्ठव वश अपने स्वभावभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके साथ अंगांगी भावरूप परिणतिके द्वारा तदात्मक होकर त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य होनेके कारण भेद-व्यवहारको समाप्त करके सुस्थिर होता है उस समय यही आत्मा जीव स्वभावमें नियत चारित्ररूप होनेसे निश्चयसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। अतः निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्य साधन भाव पूरी तरहसे घटित होता है।'

सारांश यह है कि निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे किसी ऊँचे महलकी छतपर सीढ़ीके डंडों पर पैर रखे बिना नहीं पहुँचा जा सकता वैसे ही प्रारम्भमें व्यवहारका अवलम्बन लिये बिना निश्चयकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। किन्तु व्यवहारके द्वारा निश्चयकी प्राप्ति तभी होगी जब निश्चयकी ओर लक्ष्य होगा। और जैसे मनुष्य सीढ़ी पर पैर इसलिये रखता है कि उसे छोड़ता हुआ आगे की ओर बढ़ता चला जाये। यदि कोई सीढ़ीको ही पकड़कर बैठ जाये और उसके द्वारा महलपर चढ़नेकी बात भुला बैठे तो वह त्रिकालमें भी महलपर नहीं पहुँच सकता। उसी तरह यदि कोई निश्चय लक्ष्यको भुलाकर व्यवहारको ही साध्य मानकर उसीमें रम जाता है तो उसका व्यवहार निश्चयका साधक नहीं है। जो साधक निश्चयपर लक्ष्य रखकर उसीकी प्राप्तिके लिये तन्मय होता हुआ अन्यगति न होनेसे व्यवहारको अपनाता है वह उसे उपादेय समझकर नहीं अपनाता, हेय समझकर ही अपनाता है। ऐसा ही व्यवहार निश्चयका साधन होता है। ऐसा साधक ज्यों ज्यों निश्चयकी ओर बढ़ता जाता है त्यों त्यों अशुद्ध परिणति रूप भेदमूलक व्यवहार छूटता जाता है और ज्यों ज्यों वह छूटता जाता है त्यों त्यों साधक निश्चयकी ओर बढ़ता जाता है। जो व्यवहारको अपनाकर उसीमें रम जाता है वह साधक ही नहीं है। सच्चे साधककी दृष्टिसे एक क्षणके लिये भी निश्चयका लक्ष्य ओझल नहीं होता। और वह व्यवहारको उसी तरह अपनाता है जैसे कोई पतिव्रता नारी अपने पतिके पास जानेके लिये किसी सदाचारी परपुरुषके साथ यात्रा करना स्वीकार करती है। उसका मन यात्रा करते हुए भी अपने पतिमें ही रहता है। वह सदा यही सोचती रहती है कब पर पुरुषका सङ्ग छूटे। वह उस सगको एक क्षणके लिये भी ग्राह्य नहीं मानती। किन्तु लाचार होकर ही उसे स्वीकार करना पड़ा है क्योंकि उसके बिना वह अपने पतिके पास नहीं पहुँच सकती थी। इसीसे अमृतचन्द्र सूरीने व्यवहारको

निश्चयका साधन बतलाकर भी पूर्वपदमें स्थित जनोंके भी व्यवहारके हस्तावलम्बन रूप होने पर खेद ही प्रकट किया है—

> व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्या-
> मिह निहितपदाना हन्त हस्तावलम्ब.।

६ पुण्य-पाप और शुभोपयोग—

समयसारके पुण्य—पापाधिकारकी पहली ही गाथामें कुन्दकुन्दने कहा है—अशुभ कर्म कुशील और शुभकर्म सुशील है। किन्तु जो कर्म जीवको संसारमें प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे है?

आगे उन्होंने लिखा है—जैसे सोनेकी साकल भी जीवको बाँधती है और लोहेकी साकल भी जीवको बाँधती है इसी तरहसे शुभ और अशुभ कर्म भी जीवको बाँधते है। अत कुशीलोंकी संगति मत करो, उनसे राग मत करो।

इस तरह यद्यपि पुण्यको सोनेकी साकलकी और पापको लोहेकी सांकलकी उपमा देकर दोनोंके अन्तरको स्पष्ट कर दिया है। किन्तु चूँकि दोनों ही बन्ध स्वरूप होनेसे ससारके कारण हैं अत दोनोंको ही त्याज्य बतलाया है। इसी तरह प्रवचनसारमें भी शुभोपयोगकी तथा उससे होने वाले पुण्य कर्मकी बुराई की है और उसे त्याज्य बतलाया है। यह वस्तुस्थिति है। किन्तु जिनकी दृष्टि लोहे और सोनेके भेदपर ही अटकी हुई है और जो उसके बन्धनरूप परिणामकी ओरसे बेखबर हैं उन्हें पुण्य पापको एक ही पलडेमें रखना नापसन्द है। उनकी दृष्टिमें सोना कीमती वस्तु है भले ही वह भी भार स्वरूप हो।

किन्तु जो दूरदर्शी हैं उन्हें पुण्य पापकी समता इसलिये पसन्द नहीं है कि दोनोंको समान जानकर जो लोग पुण्यमें लगे हुए हैं वे भी पुण्य करना छोड़ देंगे। किन्तु जगदुद्धारक आचार्योंने पुण्य पापको समान इसलिये नहीं बतलाया कि लोग पुण्य छोडकर पापमें लग जायें। जो ऐसा कर सकते हैं वे इस उपदेशके अपात्र हैं। यह उपदेश उनके लिये है जो पापको छोडकर पुण्यमें लगे है। उनसे पापकी तरह पुण्यको भी छुडवाकर उस स्थितिमें पहुँचा देना उनका लक्ष्य है जहाँ पुण्य और पापके बन्धनसे छुटकारा मिल सके। यही अध्यात्मका लक्ष्य है।

प्रवचनसारका प्रारम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने उपयोगके तीन भेद किये हैं अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। गाथा ११,१२ में प्रत्येकका फल बतलाया है—'धर्म रूप परिणत हुआ आत्मा यदि शुद्धोपयोगसे युक्त

होता है तो मोक्ष सुखको पाता है और यदि शुभोपयोगसे युक्त होता है तो स्वर्ग सुख पाता है। किन्तु अशुभोपयोगसे युक्त आत्मा कुमनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता है तथा अत्यन्त दुःख उठाता है।' इन फलोंसे तीनोंकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि शुद्धोपयोगीकी तरह शुभोपयोगवालेको भी धर्म परिणत आत्माके रूपमें स्वीकार किया है। और अमृतचन्द्रने भी 'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या सङ्गच्छते' लिखकर शुभोपयोगरूप परिणतिको भी धर्ममें ही सम्मिलित किया है, अशुभोपयोगकी तरह उसे अधर्म नहीं कहा। चूँकि अशुभोपयोगमें चारित्रका लेश भी नहीं है अतः उसे अत्यन्त हेय कहा है। किन्तु शुभोपयोगवालेको 'कथञ्चिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्र' कहा है। अर्थात् उसका आचरण यद्यपि चारित्रकी सीमामें आता है किन्तु वह कथञ्चित विरुद्ध कार्यकारी है।

आगे गाथा ६९ में बतलाया है—'जो देवता, यति और गुरुकी पूजामें, दानमें, शीलमें और उपवास वगैरह करनेमें अनुरागी है वह आत्मा शुभोपयोगी है। और उसका फल इन्द्रिय सुख है।' आगे इन्द्रिय सुखकी बुराई बतलाते हुए शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें तथा उनके फल पुण्य और पापमें कोई अन्तर नहीं बतलाया है। और गाथा ७७ में तो यहाँ तक लिख दिया है कि जो 'पुण्य पापमें कोई भेद नहीं है' ऐसा नहीं मानता वह व्यक्ति मोहमें पड़कर इस भयानक अपार संसारमें भटकता रहता है।'

इसकी टीकामें अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि—'उक्त प्रकारसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगके युगलकी तरह तथा सुख और दुःखके युगलकी तरह यथार्थ में पुण्य और पापका युगल नहीं बनता, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही आत्माके धर्म नहीं हैं। किन्तु जो सोने और लोहेकी बेड़ीकी तरह इन दोनोंमें भेद मानता है और पुण्य अहमिन्द्र आदि सम्पदाका कारण है ऐसा मानकर धर्मानुराग करता है, शुद्धोपयोग रूप शक्तिका तिरस्कार करनेवाला वह व्यक्ति चित्तके सरागी होनेके कारण संसारमें दुःख ही उठाता है।'

अमृतचन्द्राचार्य ने शुभोपयोग और अशुभोपयोगके भेदको तो स्वीकार किया किन्तु पुण्य और पापके भेदको स्वीकार नहीं किया, क्योंकि पुण्य पापमें भेद मानकर पुण्य संचयमें लगनेवाला व्यक्ति शुभोपयोगके यथार्थ उद्देश्यसे भटककर शुद्धोपयोगको अपनानेकी ओर नहीं बढ़ता, और पुण्यको ही उपादेय मानकर शुभोपयोगमें ही रम जाता है। अशुभोपयोगकी तरह मुमुक्षुके लिये

स्त्रीके चक्करमें पड़ जाता है और मोहकी सेनाको नहीं जीतता, महा संकट उसके अति निकट है, वह निर्मल आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है ?

प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारकी अन्तिम दो गाथाओंमें तो कुन्दकुन्दने श्रमणोंका स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—'जो मुनि अवस्थामें उक्त पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता वह श्रमण नहीं है' और जो मोहकी दृष्टिका घात कर चुका है, आगममें कुशल है, विराग चरित्रके प्रति उद्यत है वह महात्मा श्रमण है और धर्म स्वरूप है ॥९१–९२॥

इन गाथाओंसे हमारे कथनकी पूर्णतया पुष्टि हो जाती है। अब प्रवचन-सारके ज्ञेयाधिकारको लीजिए। उसमें प्रारम्भकी ३४ गाथाओंमें द्रव्य सामान्यका निरूपण है। ३४ वीं गाथामें उक्त कथन का उपसंहार करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—कर्ता, करण, कर्म और कर्मका फल ये चारों आत्म रूप ही हैं ऐसा निश्चय करनेवाला श्रमण यदि अन्यरूप परिणमन नहीं करता तो शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है।

इस उपसंहार गाथासे भी स्पष्ट है कि ज्ञेयाधिकारका कथन भी श्रमणको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। आगे द्रव्यका विशेष कथन करके अन्तमें पुन श्रमणका उल्लेख आता है कि वह किसका ध्यान करता है। तीसरे अधिकारमें तो श्रमण धर्मका ही वर्णन है। अत प्रवचनसारका कथन श्रमणको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। अब समयसारको लीजिये—

समयसारमें विषय प्रतिपादनका आरम्भ गाथा ६ से होता है। उसमें कहा है कि जो ज्ञायक भाव है वह न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। प्रमत्त और अप्रमत्त भावके निषेधसे ही ज्ञायकभावका या शुद्ध आत्माका कथन क्यों किया गया। श्रमण अथवा मुनि प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती ही तो होते हैं। अत जो श्रमण है अथवा श्रमण होनेके अभिलाषी हैं उन्हें यह बतलाना है कि प्रमत्त या अप्रमत्त दशा ज्ञायक भावसे भिन्न है, ज्ञायक भाव तो न प्रमत्त है और न अप्रमत्त। इस पहली गाथासे ही ग्रन्थकारकी दृष्टिकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

वास्तवमें तो जिस भेद विज्ञानको सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्वका कारण बतलाया है अन्तसे आखिर तक समयसारमें उसीका कथन है। तब प्रश्न हो सकता है कि भेद विज्ञानके बिना तो सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता। तब सम्यक्त्वी मुनियोंको लक्ष्य करके भेद विज्ञानका कथन करनेकी आवश्यकता क्या थी ? इसका उत्तर यह है कि आत्माके सिवाय

अन्य कोई पदार्थ मेरा नहीं है यह सामान्य भेद विज्ञान दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें जो आत्म दृष्टि है अर्थात जिसकी दृष्टि आत्मा पर है वह सम्यग्दृष्टि है। किन्तु आत्मदृष्टि होकर भी अध्यवसानादि रूप भावोंको यदि अपना मानता है तो उसका सम्यक्त्व पूर्ण नहीं है। अत सराग सम्यग्दृष्टिको वीतराग सम्यग्दृष्टि और सराग चारित्रमें स्थितको वीतराग चारित्रमें स्थित करनेके लिये ही यह सब प्रयत्न है। इसीलिये उसका प्रारम्भ 'णवि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' से किया गया है।

कुन्दकुन्दके प्राभृतोंको ले लीजिये। सूत्र प्राभृत, लिंग प्राभृत, भावप्राभृत और मोक्ष प्राभृत मुनियोंकी ही शिक्षा और दीक्षासे ओत प्रोत है। चारित्र प्राभृत और बोध प्राभृतमें भी उनके ही चारित्र तथा प्रव्रज्याका विशेष कथन है। असलमें निवृत्ति प्रधान मोक्षमार्गावलम्बी जैन धर्ममें सदासे मुनि धर्मका ही महत्त्व रहा है। वही आदर्श मार्ग माना गया है। गृहस्थ धर्म तो अपवाद मार्ग है। उसकी उपयोगिता भी तभी मानी गई है जब वह मुनिधर्म धारण करनेमें सहायक हो। इसीसे कुन्दकुन्द स्वामीने चारित्र प्राभृतमें गृहस्थ धर्मका वर्णन दो चार गाथाओंमें कर दिया है।

अत उनकी रचनाएँ प्राथमकाल्पिकोंके लिये नहीं है। जिन्हें देव गुरु शास्त्रके स्वरूपका भान नहीं, सात तत्त्वोंसे जो अपरिचित है, गुणस्थान, मार्गणा स्थान और जीव स्थानोंका जिन्होंने कभी नाम भी नहीं सुना, कर्मबन्धकी प्रक्रियासे जो अनजान है। नयोंका जिन्हे बोध नहीं है, ऐसे लोग भी यदि समयसारके निश्चय और व्यवहार कथनमें उतरते हैं तो उससे स्वय उनका ही अकल्याण है। यह तो ससार, शरीर और भोगोंसे अन्त करणसे विरक्त और पञ्चपरमेष्ठीको अनन्य शरण रूपसे भजनेवाले उन तात्त्विक पथके पाथिकोंके लिये है जिनको न व्यवहारका पक्ष है और न निश्चयका। क्योंकि समयसार पक्षातीत है ऐसा स्वय कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है।

११ चारित्र—

आचार्य कुन्दकुन्दने 'दसणमूलो धम्मो' लिखकर सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल बतलाया है और 'चारित्त खलु धम्मो' लिखकर चारित्रको धर्म बतलाया है।

उन्होंने अपने चरित्त पाहुडमें चारित्रके दो भेद किये हैं—एक सम्यक्त्व चरण चारित्र और एक सयमचरणचारित्र। मोक्षकी प्राप्तिके लिए नि शङ्कित आदि गुणोंसे युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनका सम्यग्ज्ञान पूर्वक पालन करना सम्यक्-

रूप चरण चारित्र है। यह सम्यक्त्व चरण चारित्र वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दानवृत्ति, मोक्षमार्गके गुणोंकी प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण, आर्जव आदि भावोंसे पहचाना जाता है (चा० प्रा० १०–११)।

इस सम्यक्त्वचरणचारित्र भेदको स्वरूपाचरण चारित्रका पूर्वरूप कहना उचित होगा। सम्यक्त्वचरण चारित्र ही स्वरूपाचरण चारित्रके रूपमें परिवर्तित हुआ जान पड़ता है। यही संयमचरणचारित्रका मूल है। संयमचरणचारित्र सागार और अनगारके भेदसे दो प्रकारका है। दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमाएँ सागार चारित्रके भेद हैं। इससे ग्यारह प्रतिमाओंकी परम्परा बहुत प्राचीन सिद्ध होती है। कुन्दकुन्दाचार्यने उनका स्वरूप नहीं बतलाया। केवल पाँच अणुव्रतों तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके नाम बतलाये हैं। श्रावकका मूल धर्म ये बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ रही हैं। अणुव्रतोंके भेदोंमें तो कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंमें अन्तर पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्यने दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदण्ड त्याग, और भोगोपभोग परिमाणको गुणव्रत कहा है तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखनाको शिक्षाव्रत कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रतको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रतको शीलव्रत कहा है। तथा सल्लेखनाको पृथक्से ग्रहण किया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें गुणव्रत तो कुन्दकुन्दाचार्यके अनुसार बतलाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें देशव्रत, सामायिक, प्रोषध और वैयावृत्यको रखा है। तथा सल्लेखनाको पृथक्से ग्रहण किया है। फिर भी रविषेणाचार्यके पद्मचरितमें तथा अन्य भी कुछ ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्यका ही अनुसरण किया गया है। इस तरह कुन्दकुन्दाचार्यने गृहस्थधर्मके मूलभूत व्रतोंके नाम मात्र गिनाये हैं।

अनगार अथवा मुनिधर्मके विषयमें ही उन्होंने विशेष कहा है। प्रवचनसारका अन्तिम भाग मुनिधर्मसे ही सम्बद्ध है। उसमें उन्होंने दीक्षा लेनेकी विधिसे लेकर सभी आवश्यक बातोंका कथन कर दिया है। उसीमें मुनियोंके २८ मूलगुण बतलाये हैं। और साधुके योग्य उपधि आदिका भी कथन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमें सामंजस्य बैठानेका भी उपदेश दिया है। कुन्दकुन्द स्वामीने अपने ग्रन्थोंमें जैन साधुके लिए जितना उपदेश दिया है उतना किसी अन्य ग्रन्थकारने नहीं दिया। उन्होंने उनकी आलोचना भी खूब कस कर की है और उसके द्वारा सच्चे जैन साधुका वास्तविक रूप कैसा होना चाहिये, यह उनके सामने रख दिया है।

प्रवचनसारके तीसरे चारित्राधिकारमें श्रमणका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है — श्रमण शत्रु मित्रमें, सुख दुःखमें, प्रशंसा निन्दामें, लोष्ट काञ्चनमें और जीवन मरणमें समदृष्टि रखता है ॥४१॥ जो श्रमण आगमका ज्ञाता नहीं है उसे स्व परका ज्ञान नहीं है और जिसे स्व-परका ज्ञान नहीं है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है ॥३३॥ साधुकी आँख आगम है। जिसकी दृष्टि—श्रद्धा आगम मूलक नहीं है उसके संयम नहीं है और जिसके संयम नहीं है वह श्रमण कैसे है? ॥३६॥ किन्तु समस्त आगमोंका ज्ञाता होते हुए भी जिसका शरीरादिमें अणु मात्र भी ममत्व है वह मुक्ति लाभ नहीं कर सकता ॥३९॥

इसी तरह सूत्र प्राभृत, भाव प्राभृत और मोक्ष प्राभृत आदि प्राभृत भी प्राभृत साधुसम्बन्धी शिक्षाओं और आलोचनाओंसे भरे हुए हैं। सूत्र प्राभृतमें लिखा है—जिस मुनिका चरित्र उत्कृष्ट है, वह भी यदि स्वच्छन्द विहारी है तो पाप पङ्कमें गिर जाता है ॥ ९ ॥ जिन शासनमें वस्त्रधारी तीर्थङ्कर भी हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। एक नग्नता ही मोक्षका मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं ॥२३॥

किन्तु नग्न हो जानेसे ही श्रमण वन्दनीय नहीं होता। भाव प्राभृतमें लिखा है—'भाव रहित नग्नता व्यर्थ है। अतः भावसे नग्न होना चाहिये। जिन लिंगधारी बाहु मुनिने अभ्यन्तरके दोषसे दण्डक नगरको जला डाला। वह रौरव नरकमें गये ॥४९॥ दर्शन ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट द्वीपायन मुनि अनन्त संसार पथके पथिक बन गये ॥५०॥ जो इन्द्रिय सुखके लिये आकुल द्रव्य श्रमण होते हैं वे भव वृक्षको नहीं काट सकते। जो भावसे श्रमण होते हैं वे ही ध्यानरूपी कुठारसे भवरूपी वृक्षको छेदते हैं ॥१२०॥

कुन्दकुन्द स्वामीने श्रमणके दो भेद किये हैं—शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी। दर्शन ज्ञान आदिका उपदेश देना, शिष्योंका पोषण करना, जिन पूजाका उपदेश देना यह शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्तियाँ हैं ॥४८॥ श्रमण संघका उपकार करना, आदर विनय करना, शुभोपयोगी श्रमणके लिए उचित है, किन्तु काय विराधना नहीं होनी चाहिये।

मुनिके शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी भेद करनेसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द स्वामीको वीतराग चारित्रकी तरह सराग चारित्र भी मान्य है तथा यह भी मान्य है कि शुभोपयोग पूर्वक शुद्धोपयोग होता है। शुभोपयोग व्यवहार है और शुद्धोपयोग निश्चय है। अतः व्यवहार पूर्वक निश्चय होता है यह स्पष्ट है। किन्तु वह शुभोपयोग निश्चयोन्मुख होना चाहिये। अस्तु,

समयसार और नियमसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने षडावश्यकका कथन किया है वह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधारणतया आवश्यकका अर्थ यही समझा जाता है कि जिसका करना जरूरी हो उसे आवश्यक कहते हैं। किन्तु वास्तवमें आवश्यकका ऐसा अर्थ नहीं है।

जो मुनि अन्यके वशमें नहीं है उसे 'अवश' कहते हैं और अवशके कर्मको आवश्यक कहते हैं। अतः जो मुनि आत्मवश न होकर परवश है उसका कर्म आवश्यक नहीं है। जो पर भावको छोडकर निर्मल आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश है और उसका कर्म आवश्यक है [नि० सा० १४१-१४६]। जो आवश्यकसे भ्रष्ट है वह चारित्रसे भ्रष्ट है। वचनात्मक पाठरूप जो आलोचना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि है वह तो स्वाध्याय है। निश्चय प्रतिक्रमणादि तो ध्यानरूप होते हैं। किन्तु शुभोपयोगी मुनि निश्चय प्रतिक्रमणादि करनेमें असमर्थ होता है अत वह वचन रूप प्रतिक्रमणादि करते हुए भी श्रद्धामें उन्हें ही रखता है। अस्तु।

बोध प्राभृतके अन्तमें जिनदीक्षाका स्वरूप सतरह गाथाओंसे बतलाते हुए कहा है कि साधुको शून्य घरमें, वृक्षके नीचे, उद्यानमें, श्मशानमें, पर्वतकी गुफामें, पर्वतके शिखर पर, भयानक वनमें और वसतिकामें रहना चाहिये। उत्तम और मध्यम घरोंमें सर्वत्र आहार ग्रहण करना चाहिये और धनी और दरिद्रका भेद नहीं करना चाहिये। जहाँ पशु, स्त्री और नपुंसकोंका निवास हो वहा नहीं रहना चाहिये। तिल तुप मात्र भी परिग्रह नहीं रखना चाहिये। स्त्री, भोजन आदिकी कथा नहीं करनी चाहिये और सदा स्वाध्याय और ध्यानमें लगे रहना चाहिये।

असलमें श्रमण धर्मका एक मात्र लक्ष्य निर्वाणकी प्राप्ति है। और निर्वाणकी प्राप्ति शुद्धोपयोगके विना नहीं हो सकती। और शुद्धोपयोग आत्मभावके सिवाय पर भावमें रंचमात्र भी आत्मभावकी भावना रहते हुए नहीं हो सकता।

प्रवचनसारका आरम्भ करते हुए कुन्दकुन्दने चारित्रको ही धर्म कहा है। और धर्मको साम्यभाव रूप कहा है तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणामको साम्यभाव कहा है। अत मोहको दूर करना श्रमणका प्रधान कर्तव्य है। इस तरह श्रमणके स्वरूप, और लक्ष्यका सुन्दर निरूपण किया है।

आत्मनिरूपण—

कुन्दकुन्द स्वामीने निश्चनयय और व्यवहार नयसे आत्माका जो वर्णन समयसारमें किया है वह अपूर्व है, आत्म स्वरूपका वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं

रस, रूप, गन्ध और स्पर्शसे रहित है। वह इन्द्रियोंके अगोचर है। उसका चेतना गुण है। (गा० ४६)। जीवके तो न वर्ण है, न रस है, न गंध है, न रूप है, न रस है, न संस्थान और संहनन हैं, न शरीर है, न राग द्वेष और मोह हैं न कर्म और नो कर्म है, न योगस्थान अनुभाग स्थान और उदय स्थान हैं, न जीव स्थान और गुण स्थान हैं, क्योंकि ये पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। (गा० ५०–५५)। वर्णसे लेकर गुण स्थान पर्यन्त ये सभी भाव व्यवहार नयसे जीवके हैं, निश्चय नयसे नहीं। इनके साथ जीवका जल और दूधकी तरह एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है किन्तु वे सब जीवके नहीं हैं क्योंकि जीवमें उन सबसे अधिक एक उपयोग नामका गुण है जो उन सबमें नहीं पाया जाता (गा० ५६–५७)। यदि उन सब भावोंको जीव माना जायेगा, जो कि जड़ हैं तो जीवमें और अजीवमें कोई भेद ही न रहेगा। (गा० ६२)

इसी तरह जो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि, तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भेद हैं ये सब नाम कर्मकी प्रकृतियां हैं। इन सबके योगसे जो जीव समास होते हैं वे सब जीव कैसे कहे जा सकते हैं (६४–६६)। इसी तरह मोहनीय कर्मके निमित्तसे जो गुणस्थान कहे गये हैं उन्हें भी जीव कैसे कहा जा सकता है। (६८)

सारांश यह कि जिनका जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, संयोग सम्बन्ध है उन सब भावोंसे भिन्न ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला जीव है। इस तरहसे कुन्दकुन्दाचार्यने जीवके सम्बन्धमें फैले हुए मतिविभ्रमोंका निरास करके जीवके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है। उसको जानकर ज्ञानी आत्माके अन्तःकरणमें यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय सदा अरूपी हूं। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है (गा० ३८)।' यही दृढ़ प्रतीति मोक्षका सोपान है। इसी पर आरूढ़ होनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है।

आत्मा और ज्ञानमें अभेद—

समयसारका आरम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि—व्यवहार नयसे ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं। किन्तु निश्चय नयसे न ज्ञान है न दर्शन है और न चारित्र है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक मात्र है। इस कथनका आशय यह है कि यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणोंमें भेद किया जाता है किन्तु निश्चय दृष्टिसे तो जो ज्ञाता है वही आत्मा है। इसीसे उन्होंने प्रवचनसार (१, ३५) में कहा है

दोनोंही एक साथ उत्पन्न होते हैं। और वास्तवमें दोनों एक दूसरेसे भिन्न नहीं है (सन्मति०, का० २, गा० ६)। इससे पहले इस प्रकरणको आरम्भ करते हुए सिद्धसेनाचार्यने लिखा है—'मन पर्ययज्ञान तक ही दर्शन और ज्ञानमें अन्तर है। किन्तु केवल ज्ञान अवस्थामें दर्शन और ज्ञान समान हैं।' का०२, गा०३।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी ज्ञान और दर्शन दोनोंको स्वपर प्रकाशक बतलाकर प्रकारान्तरसे वही बात कही है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने दोनोंको स्वपर प्रकाशक बतलाकर भी केवलीके दोनोंकी सत्ता स्वीकार की है। परन्तु तार्किक सिद्धसेनने तर्कके आधार पर दोनोंको एक ही सिद्ध किया है जो उचित प्रतीत होता है, क्योंकि जब दर्शन और ज्ञान दोनों ही स्वपर प्रकाशक हैं तो दोनोंमें केवल नाम मात्रका ही अन्तर रह जाता है। परन्तु दर्शनावरण कर्मके क्षयसे दर्शन प्रकट होता है और ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेपर ज्ञान प्रकट होता है अत दोनों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

सर्वज्ञताकी व्याख्या—

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारके प्रथम ज्ञानाधिकारमें शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए आत्माके सर्वज्ञ होनेकी चर्चा विस्तारसे की है। लिखा है—शुद्धोपयोगी आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मरूपी रजको दूर करके स्वय ही ज्ञेयभूत पदार्थोंके अन्तको प्राप्त करता है॥ १५॥ अर्थात् सबको जान लेता है। आगेकी गाथामें उसे लब्धस्वभाव और 'सर्वज्ञ' कहा है। अर्थात् उसने अपने स्वभावको प्राप्त कर लिया है और वह सर्वज्ञ है। इसके दो मतलब निकलते हैं एक जो अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है वह सर्वज्ञ होता है दूसरा, सर्वज्ञता आत्मस्वभावरूप ही है। आत्मस्वभाव-से वह भिन्न नहीं है।

इसके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्यने यह चर्चा उठाई है कि बिना इन्द्रियोंके भी ज्ञान और सुख होते हैं। उन्होंने लिखा है—चूँकि घातिकर्म नष्ट हो गये है अत उसका तेज अर्थात् ज्ञान विकसित हो गया है और साथ ही अनन्तशक्ति भी प्रकट हो गई है अत इन्द्रियातीत होकर वह स्वयं ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है॥ १९॥

आगे लिखा है—'केवलज्ञानीके शारीरिक सुख दु.ख नहीं होते क्योंकि अतीन्द्रियपना प्रकट हो चुका है॥२०॥ इतनी भूमिकाके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वज्ञताकी व्याख्या की है—आत्माके केवल ज्ञानरूप परिणमन करते ही सब द्रव्य और सब पर्याय प्रत्यक्ष हो जाती हैं अत वह उन्हें अवग्रह ईहा

आदि के द्वारा नहीं जानता ॥२१॥ वह तो स्वय ही सदाके लिये इन्द्रियातीत ज्ञानरूप हो गया है और इन्द्रियोंमें जो रूप रस आदिको जाननेकी विशेषता है वह विशेषता स्वय उसमें वर्तमान है, अत किञ्चित् मात्र भी वस्तु उसके परोक्ष नहीं है ॥२२॥

इस तरह सर्वज्ञ केवल ज्ञानीको सब द्रव्य पर्यायोंका ज्ञाता बतलाकर आचार्य कुन्दकुन्दने, आगे उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, तथा ज्ञेय लोकालोक है अत अपने ज्ञानरूपसे आत्मा लोकालोकव्यापी है। समयसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है कि लोग विष्णुको जगतका कर्ता मानते है। साथ ही यह भी मानते है कि यह ब्रह्माण्ड विष्णुके उदरमें समाया है। गीतामें आया है कि जब श्रीकृष्ण युद्धविरत अर्जुनको युद्धके लिये तैयार नहीं कर सके तो उन्होंने अर्जुनको अपना विराटरूप दिखलाया। उस विराटरूपमें सचराचर जगत विष्णुके उदरमें समाया हुआ अर्जुनने देखा। कुन्दकुन्द शायद विष्णुके उसी विराटरूपकी कल्पनाको सामने रखकर कहते है—'भगवान ऋषभदेव ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेसे सब लोकालोकमें व्याप्त है। अतएव जगतमें जितने पदार्थ है वे उनके ज्ञानके विषय होनेसे भगवान ऋषभदेवके अन्तर्गत कहे जाते है॥ २६॥ क्योंकि ज्ञान आत्मा है और जितना आत्मा है उतना ही ज्ञान है। अतः जितना ज्ञानका विस्तार है उतना ही आत्माका विस्तार है, क्योंकि न आत्माके बिना ज्ञान रह सकता है और न ज्ञानके बिना आत्मा रह सकता है।

इस तरह ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेयोंको ज्ञानगत बतलानेसे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि शायद ज्ञान ज्ञेयोंके पास जाता है या ज्ञेय ज्ञानके पास आते हैं। इस भ्रमका निवारण करनेके लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते है-

ज्ञानी ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ ज्ञेयस्वभाव हैं। जैसे चक्षु रूपको जानती है किन्तु न तो चक्षु रूपके पास जाती है और रूप चक्षुके पास जाता है वैसे ही न तो ज्ञान ज्ञेयके पास जाता है और न ज्ञेय ज्ञान के पास जाता है। ज्ञेय अपने स्थान पर रहते हुए ज्ञेयरूप परिणमन करता रहता है और ज्ञान ज्ञानरूप परिणत होता है। इस तरह ज्ञान अशेष अतीन्द्रिय जगतको जानता रहता है। जैसे दूधके मध्यमें रखा हुआ नीलम अपनी किरणोंसे उस दूधको नीला बना देता है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंमें रहता है ॥३०॥

आगे लिखा है—द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी केवल ज्ञानमें वर्तमानकी तरह प्रतिभासित होती हैं ॥ ३७॥ यदि केवल ज्ञान

अतीत और अनागत पर्यायोंको नहीं जानता तो कौन उसे दिव्यज्ञान कहेगा ॥३९॥ जो ज्ञान अप्रदेशी सप्रदेशीको, मूर्त अमूर्तको, अतीत और अनागत पर्यायोंको जानता है, उस ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है ॥ ४१ ॥ जो ज्ञान पूरी तरहसे वर्तमान, अतीत, अनागत, विचित्र विषम सब पदार्थोंको एक साथ जानता है उस ज्ञानको क्षायिक कहा है ॥ ४७ ॥ जो तीनों लोकोंमें स्थित त्रिकालवर्ती पदार्थोंको एक साथ नहीं जानता, वह पर्यायसहित एक द्रव्यको नहीं जान सकता ॥४८॥ और जो अनन्त पर्यायसहित एक द्रव्यको नहीं जानता वह समस्त अनन्त द्रव्योंको कैसे जान सकता है ॥४९॥ जिनेन्द्रदेवका ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्वत्र विद्यमान विषम और विचित्र पदार्थोंको एकसाथ जानता है, ज्ञानका यह माहात्म्य आश्चर्यजनक है ॥५१॥

क्षायिक अतीन्द्रिय केवलज्ञानकी उक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है—वर्तमानकी तरह ही वह अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जानता है। एक द्रव्यमें जितनी अतीत अनागत और वर्तमान अर्थपर्याय तथा व्यञ्जनपर्याय होती है वह सब मिलकर एक द्रव्य होता है। अत उन सबको जाने विना एक द्रव्यका पूरा ज्ञान नहीं होता। पूर्ण ज्ञाता वही है जो उन सबको जानता है। तथा सत्का सर्वथा विनाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नहीं होती, यह वस्तु नियम है। अत द्रव्यदृष्टिसे अतीत और अनागत पर्याय भी सत हैं और जो सत है वह सब ज्ञेय है अत. पूर्णदर्शीके ज्ञानका विषय है।

सभी जैन शास्त्रोंमें केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञकी यही व्याख्या पाई जाती है। षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहा है—

'सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२॥

अर्थ—स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञानदर्शनसे युक्त भगवान देवलोक असुरलोक और मनुष्यलोककी आगति (अन्य गतिसे इच्छित गतिमें आना), गति (इच्छित गतिसे अन्यगतिमें जाना), चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति (आयु) युति (संयोग), अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक (विचार) भुक्त (राज्य और महाव्रतादिका पालन करना), कृत, प्रतिसेवित

आदिकर्म (अर्थपर्याय और व्यञ्जनरूपसे सब द्रव्योंकी आदिको), अरह-कर्म (शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विषय रूपसे सब द्रव्योंकी अनादिता), सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे एक साथ जानते देखते हुए विहार करते हैं।

इस सिद्धान्तसूत्रसे भी उक्त कथनका ही समर्थन और स्पष्टीकरण होता है। अत यह स्पष्ट है सर्वज्ञ क्या जानता है ? इसका यथार्थ उत्तर है 'सर्वज्ञ क्या नहीं जानता। उक्त व्याख्याके अनुसार सर्वज्ञ शब्दका व्यवहार केवल औपचारिक नहीं है किन्तु यथार्थ है।

आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है—

नियमसार (गा० १५६) में कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि निश्चयनयसे केवली आत्माको जानता देखता है और व्यवहारनयसे सबको जानता है। यह पहले बतला आये हैं कि निश्चयनय शुद्ध द्रव्यका प्ररूपक है और अध्यात्म में आत्मद्रव्यकी ही प्रधानता है अत यथार्थमें केवली आत्मदर्शी ही होता है। किन्तु उसके आत्मदर्शित्वका विश्लेषण सर्वदर्शित्व ही है क्योंकि जो सबको नहीं जानता है वह एक आत्माको भी नहीं जानता और जो एक आत्माको जानता है वही सबको जानता है। अस्तु,

इस तरह कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थोंमें जिन विशेष मन्तव्योंकी चर्चा की है, उनका यहाँ सक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। उनके ये मन्तव्य जैन सिद्धान्त और जैनदर्शनके आधारभूत हैं। अतः विशेष रूपसे मननीय और चिन्तनीय हैं। उनको हृदयगत किये विना जैनाचार और विचारको सम्यक्रूपसे नहीं समझा जा सकता।

विषय-सूची

८ श्रामण्य भाव अधिकार ११४-१३०

९ श्रामण्य अधिकार १३१-१३६

१० बारह अनुप्रेक्षा १३६-१५३

११ भक्ति अधिकार पृ० १५४–१७६

१२ मोक्ष अधिकार पृ० १७६–१९२

श्री कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह

१. सम्यग्दर्शन अधिकार

काऊण णमोयार जिणवर [1]उसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्ग वोच्छामि जहाकम्म समासेण ॥ [द० प्रा० १]

जिनवर श्रेष्ठ भगवान वर्धमानको अथवा प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामीको नमस्कार करके क्रमानुसार संक्षेपसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहूंगा ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

छद्दव्व णव पयत्था पञ्चत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ [द० प्रा० १९]

छै द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व जिनवर भगवानने कहे हैं । जो उनके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये ।

जीवादिसद्दहण सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥ [द०प्रा० २०]

जिनवर भगवानने जीव आदि पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है । किन्तु निश्चयनयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है ।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पाव च ।
आसव सवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥ [समय० १३]

भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षको सम्यग्दर्शन कहते हैं । अर्थात् इन जीवादि नौ तत्त्वोंको निश्चयनयसे जानना ही सम्यग्दर्शन है ।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे ।
णिग्गथे पव्वयणे सद्दहण होइ सम्मत्त ॥ [मो०प्रा० ९०]

---

१ वसहस्स ऊ ।

है। तथा बुढापा, मृत्यु आदि रोगोंको हरने और सब दुःखोंका नाश करनेके लिए अमृतके समान है।

सम्यग्दर्शन के दोष

एव चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ [चा० प्रा० ६]

इस प्रकार जानकर, मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाले शका आदि सब दोषोंको, मन वचन कायसे दूर करो, क्योंकि जिन भगवानने उन्हें सम्यक्त्वके मल कहा है।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग

णिस्सकिय णिक्कखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्ल पहावणा अट्ठ ॥ [चा० प्रा० ७]

नि शंकित, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग हैं, जो शका आदि दोषोंके दूर होनेसे प्रकट होते हैं।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्त

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेयो भणिदा दसणमोहस्स खयपहुदी ॥ [नि० ५३]

जिन भगवानके द्वारा प्रतिपादित आगम और उसके ज्ञाता पुरुष सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे बाह्य निमित्त हैं और दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम अन्तरग कारण है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य

सम्मत्तविरहिया ण सुट्ठु वि उग्ग तव चरता ण।
ण लहति बोहिलाह अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ [द० प्रा० ५]

सम्यग्दर्शनसे रहित मनुष्य भले प्रकारसे कठोर तपश्चरण भी करें तो भी हजार करोड वर्षो में भी उन्हे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्च हिय[1]यम्मि पवट्टए जस्स।
कम्म वालुयवरण बधुच्चिय णासए तस्स ॥ [द० प्रा० ७]

---

१ हियएण ऊ।

जिसके हृदयमें सदा सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह बहता रहता है उसका पूर्वमें बाँधा हुआ भी कर्मरूपी रेतका आवरण नष्ट हो जाता है।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ [द० प्रा० १०]

जैसे जडके नष्ट हो जानेपर वृक्षके शाखा पत्र पुष्प आदि परिवारकी वृद्धि नहीं होती, वैसे ही जो जिनमतके श्रद्धानसे भ्रष्ट हैं उनका मूलधर्म ही नष्ट हो गया है। उन्हें मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

जह मूलाओ खंधो साहा परिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ [द० प्रा० ११]

जैसे वृक्षकी जडसे शाखा पत्र पुष्प आदि परिवारवाला तथा बहुगुणी स्कन्ध (तना) उत्पन्न होता है वैसे ही जिनधर्मके श्रद्धानको मोक्षमार्गका मूल कहा है।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइ सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ [द० प्रा० ४]

जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे रहित हैं वे अनेक प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए भी चार प्रकारकी आराधनासे रहित होनेके कारण नरकादि गतियोंमें ही भ्रमण करते रहते हैं।

सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥ [र०सा० ४७]

सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमसे नहीं होते। इसलिए रत्नत्रयके बीचमें सम्यक्त्व गुण ही उत्कृष्ट है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ [मो०प्रा० ३९]

जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है वही शुद्ध है। सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त करता है। और जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे रहित है उसे इच्छित वस्तुका लाभ नहीं होता।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ [द०प्रा० ३]

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्य-का निर्वाण नहीं होता। जो चरित्रसे भ्रष्ट हो जाते हैं वे मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं उन्हे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जीवविमुक्को सवश्रो दंसणमुक्को य होइ चलसवश्रो।
सवश्रो लोयश्रपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवश्रो ॥ [भा०प्रा० १४१]

लोकमे जीव रहित शरीरको मुर्दा कहते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शन-से रहित है वह चलता फिरता मुर्दा है। मुर्दा लोकमे अपूज्य माना जाता है और चलता फिरता मुर्दा लोकोत्तर पुरुषोंमे अथवा परलोकमे अपूज्य माना जाता है (क्योंकि उसे नीच गति मे जन्म लेना पडता है)।

जह तारयाण चदो मयराश्रो मयउलाण सव्वाण।
श्रहिश्रो तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माण ॥ [भा०प्रा०१४२]

जैसे ताराओंमें चन्द्रमा प्रधान है और समस्त मृग कुलोंमे मृगराज सिंह प्रधान है। वैसे ही मुनि और श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकारके धर्मों मे सम्यग्दर्शन ही प्रधान है।

जह फणिराश्रो रेहइ[1] फणमणिमाणिक्किरणविप्फुरिय[2]।
तह विमलदंसणधरो जिण[3]भत्तिपरायणो जीवो ॥ [भा० प्रा० १४३]

जैसे नागराज फणकी मणिओंके वीचमे स्थित माणिक्यकी किरणोंसे शोभायमान होता है। वैसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनका धारी जिनेन्द्र भक्त जीव जैन आगममे शोभित होता है।

जह तारायणसहिय ससहरबिंब खमंडले विमले।
भाइ य[4] तह वयविमल जिणलिंग दंसणविसुद्ध ॥ [भा०प्रा०१४४]

जैसे निर्मल आकाशमण्डलमे तारागणसे सहित चन्द्रमाका बिम्ब शोभित होता है वैसे ही व्रतोंसे निर्मल तथा सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जिन लिंग (निर्ग्रन्थ मुनिवेश) शोभित होता है।

उपसंहार

इय णाउ गुणदोस दंसणरयण धरेह भावेण।
सार गुणरयणाण सोवाण पढम मोक्खस्स ॥ [भा०प्रा० १४५]

---

१ सोहइ ग। २ परिफुरिय ग, ऊ। ३ भत्ति पवयणे आ० ग। ४. भावियतववयविमल ग।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके गुण और मिथ्यात्वके दोष जानकर सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको भावपूर्वक धारण करो। यह समस्त गुणरूपी रत्नोंमें सारभूत है और मोक्ष रूपी महलकी पहली सीढी है।

---

२. ज्ञान अधिकार

उपयोगके भेद

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं त्ति ॥ [नि० सा० १०]

जीव उपयोगमय है और उपयोग ज्ञान और दर्शनरूप है। अर्थात् उपयोगके दो भेद हैं एक ज्ञानोपयोग और एक दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग-के दो भेद हैं स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।

स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥ [नि० सा० ११]
सण्णाणं चउभेयं मदि सुद-ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाइभेददो चेव ॥ [नि०सा० ११-१२]

इन्द्रिय आदि परद्रव्योंकी सहायताके बिना होनेवाला जो अतीन्द्रिय केवल ज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। विभावज्ञानके दो भेद हैं—एक सम्यक् ज्ञान और एक मिथ्याज्ञान। सम्यक् ज्ञानके चार भेद हैं—मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान। तथा मिथ्याज्ञानके तीन भेद हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान।

दर्शनोपयोगके भेद

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥ [नि०सा० १३]

अपने सब प्रदेशोंमें समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे परिपूर्ण तथा इन्द्रिय व्यापारसे रहित और सर्वदा स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करने वाले उस आत्माके कुछ भी परोक्ष नहीं है। अर्थात् आवरणकी दशामें यह आत्मा एक एक इन्द्रियके द्वारा स्पर्श रस आदि एक एक गुणको जानता है। किन्तु जाननेवाला तो आत्मा ही है उसीमें सबको जानने की शक्ति है। अतः जब वह ज्ञानावरण आदि आवरणोंको नष्ट करके स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है तो उसके लिये कुछ भी परोक्ष नहीं रहता, वह सबको प्रत्यक्ष जानता है।

आगे आत्माको ज्ञान प्रमाण और ज्ञानको सर्वगत बतलाते हैं—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ [प्रव० १, २३]

आत्माको ज्ञानके बराबर और ज्ञानको ज्ञेय पदार्थोंके बराबर

कहा है। तथा समस्त लोक और अलोक ज्ञेय (ज्ञानका विषय) है। अतः ज्ञान सर्वव्यापक है।

आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने में दोष—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि॥
[प्रव० १, २४–२५]

जो आत्माको ज्ञानके बराबर नहीं मानता उसके मतानुसार आत्मा निश्चय ही या तो ज्ञानसे छोटा है या बडा है। यदि आत्मा ज्ञानसे छोटा है तो वह ज्ञान अचेतन होनेसे कुछ भी नहीं जान सकेगा। और यदि आत्मा ज्ञानसे बडा है तो ज्ञानके बिना आत्मा पदार्थोंको कैसे जानेगा।

ज्ञान की तरह आत्मा भी सर्वगत है—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा॥ [प्रव० १ २६]

ज्ञानमय होनेसे जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञदेव सर्वव्यापी हैं। तथा उनके विषय होनेसे जगतके सभी पदार्थ उनमें वर्तमान हैं। अर्थात् सब पदार्थों को जाननेसे ज्ञानको सर्वगत कहा है। और भगवान ज्ञानमय हैं इसलिये भगवान भी सर्वगत हैं।

आत्मा और ज्ञान में भेद-अभेद—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥ [प्रव० १ २७]

ज्ञान आत्मा है अर्थात ज्ञान और आत्मामें भेद नहीं है ऐसा माना गया है क्योंकि ज्ञान आत्माको छोडकर नहीं रहता। अत ज्ञान आत्मा ही है। किन्तु आत्मा अनन्तधर्मवाला होनेसे) ज्ञान गुण रूप भी है और अन्य सुखादिगुण रूप भी है।

आगे कहते हैं कि ज्ञान पदार्थों को कैसे जानता है—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति॥ [प्रव० १ २८]

ज्ञानी आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है और पदार्थ उस ज्ञानीके ज्ञेय-स्वरूप (जानने योग्य) हैं। अतः जैसे चक्षु रूपी पदार्थों के पास नहीं जाती और वे पदार्थ भी चक्षुके पास नहीं जाते। इसी प्रकार आत्मा भी न तो उन पदार्थों के पास जाता है और न वे पदार्थ ही आत्माके निकट आते हैं।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियद अक्खातीदो जगमसेस ॥ [प्रव० १, २६]

जैसे चक्षु यद्यपि निश्चयसे रूपी पदार्थोंको छूता नहीं है फिर भी व्यवहारमें ऐसा भी प्रतीत नहीं होता कि चक्षु रूपी पदार्थोंको नहीं छूता। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा निश्चयनयसे ज्ञेय पदार्थों मे प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहारनयसे अप्रवेश नहीं करता हुआ, इन्द्रियों-की सहायताके विना समस्त जगतको सन्देह रहित जानता और देखता है।

व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में कैसे रहता है, दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

रयणमिह इदणील दुद्धज्झसिय जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्ध वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ [प्रव० १, ३०]

जैसे दूधमे रखी हुई इन्द्रनील मणि अपनी प्रभासे उस दूधको अपना सा नीला करके वर्तमान रहती है। उसी प्रकार ज्ञान पदार्थोंमे रहता है।

आगे कहते हैं कि पदार्थ ज्ञान में रहते हैं—

जदि ते ण सति अट्ठा णाणे णाण ण होदि सव्वगय।
सव्वगय वा णाण कह ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ [प्रव० १, ३१]

यदि वे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमें न हों तो ज्ञान सर्वव्यापक नहीं हो सकता। और यदि ज्ञान सर्वव्यापक है तो पदार्थ ज्ञानमें स्थित क्यों नहीं हैं। साराश यह कि व्यवहारसे ज्ञान और पदार्थ दोनों ही एक दूसरे मे मौजूद है।

केवल ज्ञानी केवल जानता ही है—

गेण्हदि णेव ण मुचदि ण पर परिणमदि केवली भगव।
पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ॥ [प्रव० १, ३२]

केवली भगवान परपदार्थों को न तो ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं, और न उनरूप परिणमन ही करते हैं। वे तो सब पदार्थों को पूरी तरह से जानते और देखते हैं।

श्रुत केवली का स्वरूप

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ [प्रव० १, ३३]

जो श्रुतज्ञानरूप अपने सहज स्वभावसे ज्ञायकस्वरूप आत्माको जानता है, उसे समस्त लोकको प्रकाशित करने वाले ऋषिगण श्रुत-केवली कहते हैं।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ [प्रव०१,३४]

पुद्गलद्रव्यस्वरूप वचनोंके द्वारा जो जिन भगवानके द्वारा उपदेश किया हुआ है उसे सूत्र अथवा द्रव्य श्रुत कहते हैं। और उसके जानने-को श्रुतज्ञान कहते हैं। तथा व्यवहारसे उस सूत्ररूप द्रव्य श्रुतको भी श्रुतज्ञान कहा है। [आशय यह है कि एक केवली होते हैं और एक श्रुत केवली होते हैं। केवलीके द्वारा उपदिष्ट और गणधरके द्वारा ग्रथित सूत्रोंको उपचारसे श्रुत कहते हैं और उसके ज्ञानको श्रुत ज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण द्वादशांग रूप श्रुतके ज्ञाताको श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुत-केवली श्रुतके द्वारा आत्माको जानता है। और केवली परकी सहायता-के विना स्व-परको जानता है]

आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ [प्रव० १,३५]

जो जानता है वही ज्ञान है। ज्ञान गुणके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञायक नहीं होता। किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमें स्थित हैं।

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ [प्रव० १,३६]

इसलिये आत्मा ही ज्ञान है और भूत भविष्यत् वर्तमानके भेदसे

अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके भेदसे या द्रव्य गुण पर्यायके भेदसे तीन रूप कहा जाने वाला द्रव्य ज्ञेय है—ज्ञानका विषय है। तथा वह ज्ञेयद्रव्य आत्मद्रव्यरूप भी है और अन्य द्रव्यरूप भी है और परिणामी है। [आशय यह है कि ज्ञेयके दो प्रकार हैं एक स्व और एक पर। उनमेंसे पर तो केवल ज्ञेय ही है। किन्तु 'स्व' ज्ञेय रूप भी है और ज्ञानरूप भी है, क्योंकि आत्मा दीपककी तरह स्वपर प्रकाशक है, स्वय अपनेको भी जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है। ये दोनों ही परिणामी हैं। आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है और पदार्थ ज्ञेयरूप परिणमन करते हैं]।

अतीत अनागत पर्यायें भी ज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ [प्रव० १,३७]

उन जीवादि द्रव्योंकी वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याये वर्तमान पर्यायोंकी तरह ज्ञानमें पृथक् पृथक् वर्तमान रहती हैं।

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ [प्रव० १,३८]

जो पर्याय उत्पन्न ही नहीं हुई हैं तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं उन सब पर्यायोंको असद्भूत कहते हैं। वे पर्याय भी केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं।

जदि पच्चक्खमजाय पज्जाय पलइय च णाणस्स।
ण हवदि वा त णाण दिव्व ति हि के परूवेंति ॥ [प्रव० १,३९]

यदि अनागत और अतीत पर्याय केवल ज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होती तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहता।

अत्थं अक्खणिवदिद ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूद णादुमसक्क ति पण्णत्त ॥ [प्रव० १-४०]

जो अल्पज्ञानी इन्द्रियगोचर पदार्थों को ईहा आदि ज्ञानपूर्वक जानते हैं उनके लिये अतीत अनागत आदि परोक्षभूत पर्यायोंको जानना शक्य नहीं है, ऐसा कहा है।

क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञानकी महिमा

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं॥ [प्रव० १, ४१]

जो ज्ञान प्रदेशरहित परमाणु वगैरहको, प्रदेशसहित जीवादि द्रव्योंको, मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको, तथा उनकी आगे होने वाली और नष्ट हुई पर्यायोंको जानता है उस ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है।

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥ [प्रव० १, ४७]

जो ज्ञान वर्तमान भूत और भावि तथा अनेक प्रकारके मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन आदि समस्त पदार्थोंको पूरी तरहसे एक साथ जानता है उस ज्ञानको क्षायिक (कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाला) कहा है।

जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥ [प्रव० १, ४८]

जो तीनों लोकोंमें स्थित त्रिकालवर्ती पदार्थोंको एक साथ नहीं जानता वह अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्यको भी जाननेमें असमर्थ है। अर्थात् जो सब ज्ञेय पदार्थोंको नहीं जानता वह आत्माको नहीं जानता।

जो एक को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि॥ [प्रव० १, ४९]

जो अनन्त पर्याय सहित एक आत्मद्रव्यको नहीं जानता, वह समस्त अनन्त द्रव्योंको एक साथ कैसे जान सकता है। अर्थात् जो आत्माको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।

क्रमसे जानने वाला ज्ञान सबको नहीं जान सकता—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं॥ [प्रव० १, ५०]

यदि ज्ञानीका ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता

है, अर्थात जो ज्ञान एक एक पदार्थको लेकर क्रमसे जानता है वह ज्ञान न तो नित्य ही है, न क्षायिक है और न सबको जाननेवाला है।

केवल ज्ञानका माहात्म्य

तिक्कालणिच्चविसय सयल सव्वत्थ सभव चित्त।
जुगव जाणदि जोण्ह अहो हि णाणस्स माहप्प ॥ [प्रव० १, ५१]

ज्ञानका माहात्म्य तो देखो, जिनदेवका केवलज्ञान सदा तीनों कालोंमे और तीनों लोकोंमे होनेवाले नाना प्रकारके समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है।

केवल ज्ञानीके बन्ध नहीं होता—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अवधगो तेण पण्णत्तो ॥ [प्रव० १, ५२]

केवलज्ञानी आत्मा उन पदार्थोंको जानते हुए भी न तो उनरूप परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है, इस कारणसे वह नवीन कर्मबन्धसे रहित कहा गया है। अर्थात् यद्यपि केवलज्ञानी सब पदार्थों को जानता है फिर भी उनमे राग द्वेप नहीं करता, इसलिये मात्र जाननेसे उसके नवीन कर्मका वन्ध नहीं होता।

केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है

ज पेच्छदो अमुत्त मुत्तेसु अदिंदिय च पच्छण्ण।
सकल सग च इदर त णाण हवदि पच्चक्ख ॥ [प्रव० १,५४]

ज्ञाताका जो ज्ञान अमूर्त पदार्थो को, मूर्तिक पदार्थों मेंसे अतीन्द्रिय परमाणुओं वगैरहको तथा प्रच्छन्न पदार्थो को और सब ही स्वज्ञेयोंको जानता है वही प्रत्यक्ष है।

निश्चय और व्यवहार से केवल ज्ञानका विषय—

जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥ [नि०सा० १५८]

व्यवहारनयसे केवली भगवान् सबको जानते देखते हैं। और निश्चय-नयसे केवलज्ञानी आत्माको जानते देखते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ होती है—

जुगव वट्टइ णाण केवलणाणिस्स दसण च तहा ।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्व ॥ [नि० सा० १५६]

जैसे सूर्यमे प्रकाश और प्रताप एक साथ रहते हैं, वैसे ही केवलज्ञानीमे दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

केवल ज्ञान और केवलदर्शन के भेदाभेद की चर्चा—

णाण परप्पयास दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥ [नि०सा० १६०]

ज्ञान परका प्रकाशक है और दर्शन आत्माका ही प्रकाशक है । तथा आत्मा 'स्व' का भी प्रकाशक है और परका भी प्रकाशक है, यदि ऐसा मानते हो तो ।

णाण परप्पयास तइया णाणेण दसण भिण्ण ।
ण हवदि परदव्वगय दसणमिदि वण्णिद तम्हा ॥ [नि०सा० १६१]

यदि ज्ञान केवल परका प्रकाशक है तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न ठहरा । किन्तु ज्ञान केवल परका प्रकाशक नहीं है, इसलिए उसे दर्शन कहा है ।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दसण भिण्ण ।
ण हवदि परदव्वगअ्रा दसणमिदि वण्णिद तम्हा ॥ [नि०सा० १६२]

यदि आत्मा पर प्रकाशक ही है तो आत्मासे दर्शन भिन्न ठहरा । किन्तु आत्मा केवल पर प्रकाशक नहीं है इसलिए उसे दर्शन कहा है ।

णाण परप्पयास ववहारणयेण दसण तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दसण तम्हा ॥ [नि०सा० १६३]

व्यवहारनयसे ज्ञान परका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी पर प्रकाशक है । व्यवहारनयसे आत्मा परका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी परका प्रकाशक है ।

णाण अप्पपयास णिच्छयणयएण दसण तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दसण तम्हा ॥ [नि०सा० १६४]

निश्चयनयसे ज्ञान आत्माका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी आत्माका प्रकाशक है । निश्चयनयसे आत्मा आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्माका प्रकाशक है ।

मूर्तिक इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके योग्य मूर्त पदार्थको अवग्रह पूर्वक जानता है अथवा कर्मका उदय होनेसे नहीं भी जानता।

फासो रसो य गधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाण ते अक्खा जुगव ते णेव गेण्हति ॥ [प्र० १,५६]

स्पर्श, रस, गंध, रूप, और शब्द ये पौद्गलिक गुण क्रमसे पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं। किन्तु वे इन्द्रियाँ इन विषयोको एक साथ नहीं ग्रहण करतीं।

इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है—

परदव्व ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्ध तेहि कध पच्चक्ख अप्पणो हदि ॥ [प्रव० १, ५७]

आत्माका जो ज्ञान दर्शन स्वभाव है वह उन इन्द्रियोंमें नहीं है, इस लिए उन इन्द्रियोंको परद्रव्य कहा है। उन परद्रव्य इन्द्रियोंके द्वारा जाना गया पदार्थ आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण

ज परदो विण्णाण त तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख ॥ [प्रव० १, ५८]

पदार्थों का जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहा है। और जो परकी सहायताके बिना केवल जीवके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही सुखरूप है

जाद सय समत्त णाणमणंतत्थवित्थड विमल।
रहिय तु ओग्गहादिहिं सुह ति एगतिय भणिय ॥ [प्रव० १, ५९]

जो स्वय उत्पन्न हुआ है, सम्पूर्ण है, सब पदार्थों मे फैला हुआ है निर्मल है और अवग्रह ईहा आदिसे रहित है वही ज्ञान सर्वथा सुखरूप है।

ज केवल ति णाण त सोक्ख परिणाम च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खय जादा ॥ [प्रव० १, ६०]

जो यह केवल ज्ञान है वह सुखरूप है और उसका परिणमन भी उसी रूप होता है। केवलज्ञानमे इन्द्रियज्ञानकी तरह खेद नहीं होता, क्योंकि घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं।

३. ज्ञेय अधिकार

सत्ताका स्वरूप

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥ [पञ्चा० ८]

सत्ता एक है, वह सब पदार्थों में वर्तमान है, विश्वरूप है, अनन्त पर्यायवाली है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है और प्रतिपक्ष सहित है। [आशय यह है कि सत्ताके दो प्रकार हैं—एक महासत्ता और एक अवान्तर सत्ता। समस्त पदार्थों में रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं। उक्त कथन महासत्ताका ही है। और प्रतिनियत वस्तुमें रहनेवाली सत्ता-को अवान्तर सत्ता कहते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तुमें दो सत्ताएँ रहती हैं। एक ही सत्ताको जब व्यापक दृष्टिकोणसे देखते हैं तो वह महा सत्ताके रूपमें प्रतीत होती है और उसीको जब संकुचित दृष्टिकोणसे देखते हैं तो वह अवान्तर सत्ताके रूपमें प्रतीत होती है। अतः महासत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ता असत्ता है और अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे महासत्ता असत्ता है। इसतरह सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। महासत्ता समस्त पदार्थोंमें समान रूपसे व्याप्त है, इसलिये वह 'सर्वपदस्था' है और अवान्तर सत्ता एक ही पदार्थमें रहती है अतः वह 'एक पदस्था' है। इस तरह सर्वपदार्थस्थिताका प्रतिपक्ष एकपदार्थस्थितपना है। महासत्ता विश्वरूपा है और अवान्तर सत्ता एकरूपा है। अतः विश्वरूपाका प्रतिपक्ष एकरूपपना है। महासत्ता अनन्त पर्याय वाली है क्योंकि अपनी अपनी पर्यायोंकी अपेक्षासे द्रव्योंकी अनन्त सत्ताएँ हैं, और अवान्तर सत्ता एक पर्यायवाली है क्योंकि एक द्रव्यकी विवक्षित एक पर्यायकी अपेक्षासे वह एक पर्यायरूप है। अतः अनन्तपर्यायाका प्रतिपक्ष एक पर्यायपना है। महासत्ता उत्पाद आदि तीन लक्षणोंसे युक्त है। किन्तु अवान्तर सत्ता ऐसी नहीं है; क्योंकि जिसरूपसे उत्पाद है उसरूपसे उत्पाद ही है, जिस रूपसे व्यय है उस रूपसे व्यय ही है और जिस रूपसे ध्रौव्य है उस रूपसे ध्रौव्य ही है। इस कारण वस्तुका जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है उसमेंसे उत्पाद या व्यय या ध्रौव्यके उत्पाद आदि तीन तीन रूप नहीं होते। अतः त्रिलक्षणाका प्रतिपक्ष अ-त्रिलक्षणा है। महासत्ता एक है और अवान्तरसत्ता अनेक हैं, अतः एकका प्रतिपक्ष अनेकपना

बिना व्ययके उत्पाद नहीं होता और बिना उत्पादके व्यय नहीं होता। तथा ध्रौव्य पदार्थके बिना उत्पाद और व्यय नहीं होते। [इस कथनको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—जो घडेका उत्पाद है वही मिट्टीके पिण्डका नाश है क्योंकि एक पर्यायकी उत्पत्ति अपनी पूर्व पर्यायके नाशसे होती है। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही घटका उत्पाद है; क्योंकि वर्तमान पर्यायका अभाव उत्तर पर्यायके उत्पाद स्वरूप होता है। तथा जो घडेका उत्पाद और मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही मिट्टीकी ध्रुवता है, क्योंकि पर्यायके बिना द्रव्यकी स्थिति नहीं देखी जाती। और जो मिट्टीकी ध्रुवता है वही घडेका उत्पाद और पिण्डका विनाश है, क्योंकि द्रव्यकी स्थिरताके बिना पर्याय नहीं हो सकती। अतः ये तीनों परस्परमें सम्बद्ध हैं।

उत्पाद आदिका द्रव्यसे अभेद

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥ [प्रव० २, ६]

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें होते हैं और पर्याय द्रव्यमें होती है। इसलिये यह निश्चय है कि उत्पाद आदि सब द्रव्यरूप ही हैं।

उत्पाद आदि में एक क्षणका भी भेद नहीं है—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं॥ [प्रव० २, १०]

द्रव्य एक ही समयमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य नामक भावोंसे एकमेक है। अतः वे तीनों द्रव्यस्वरूप ही हैं।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया॥ [पञ्चा० ११]

द्रव्यका उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसीकी पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यको करती है। अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यमें उत्पाद व्यय नहीं हैं, किन्तु पर्यायकी दृष्टिसे हैं।

द्रव्य और पर्याय में अभेद

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥ [पञ्चा० १२]

है और न पर्याय है। तथा जो द्रव्य, अन्यगुण और पर्याय है वह सत्ता नहीं है। इस प्रकार जो परस्परमे एकका दूसरेमें अभाव है, वही अतद्भाव है और यही अन्यत्वका कारण है। साराश यह है कि सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशभेद नहीं है, किन्तु नामादिभेद है। अतः सत्ता द्रव्यसे अभिन्न भी है और भिन्न भी हैं।

सत्ता और द्रव्य में गुणगुणी भाव

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिद सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसो य ॥ [प्रव० २,१७]

द्रव्यका स्वभावभूत जो परिणाम है वही सत्ता नामक गुण है(क्योंकि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका नाम परिणाम है और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त को सत् कहते हैं।) तथा अपने स्वभावमें अवस्थित द्रव्य ही सत् है ऐसा जिन भगवानका उपदेश है।

सप्तभंगी

सिय अत्थि णत्थि उभय अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदय।
दव्व खु सत्तभग आदेसवसेण समवदि ॥ [पञ्चा० १४]

अपेक्षा भेदसे द्रव्य सात भगरूप होता है—किसी अपेक्षा द्रव्य है १, किसी अपेक्षा द्रव्य नहीं है २, किसी अपेक्षा द्रव्य है भी और नहीं भी है ३, किसी अपेक्षा द्रव्य अवक्तव्य है ४, किसी अपेक्षा द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है ५, किसी अपेक्षा द्रव्य नास्ति अवक्तव्यरूप है ६, और किसी अपेक्षा द्रव्य अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यरूप है ७,।

अत्थि त्ति णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्व।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्ण वा ॥ [प्रव० २,२३]

द्रव्य किसी पर्यायसे अस्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे नास्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे अवक्तव्य रूप है, किसी एक पर्यायसे अस्ति नास्ति-रूप है इसी तरह किसी एक पर्यायसे शेष तीन भंगोंमेंसे एक एक भग-रूप हैं।

[द्रव्य अनन्त धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है। और शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। इसलिये वक्ता वस्तुके अनन्त धर्मोंमेसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुका कथन करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना होगा कि उस वस्तुमें विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मोंकी गौणता है।

इसीलिये गौण धर्मोंका द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्योंके साथ गुप्त रूपसे सम्बद्ध रहता है। 'स्यात्' शब्दका अभिप्राय 'कथंचित्' या किसी अपेक्षासे है। जब हम किसी वस्तुको 'सत्' कहते हैं तो उस वस्तुके स्वरूप-की अपेक्षासे ही उसे सत् कहते हैं। अन्य वस्तुओंके स्वरूपकी अपेक्षासे विश्वकी प्रत्येक वस्तु 'असत्' है। अतः संसारमें जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षासे नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। इसी अपेक्षावादका सूचक 'स्यात्' शब्द है। जो प्रत्येक वाक्यके साथ प्रयुक्त किया जाता है। यथा—'स्यात् सत्' 'स्यात् असत्'।

वस्तुके इन दोनों धर्मोंको मिलानेसे तीसरा भंग 'स्यात् सत् स्यात् असत्' बनता है। यदि कोई उक्त दोनों धर्मोंको एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता ऐसी दशामें वस्तुका 'अवाच्य' कहा जाता है। इस तरह 'स्यात् सत्', 'स्यात् असत्' 'स्यात् सदसत्', स्यादवक्तव्य ये चार भंग सप्तभंगीके मूल हैं। इन्हींमेंसे चतुर्थभंग स्यादवक्तव्यके साथ क्रमशः पहले दूसरे और तीसरे भंगको मिलानेसे पांचवां छठा और सातवां भंग बनता है। संक्षेपमें यह सात भंगोंका परिचय है।]

द्रव्य के भेद

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥ [प्रव० २, ३५]

द्रव्यके दो भेद हैं—जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य। उनमेंसे जीवद्रव्य चेतन और उपयोगमय है। पुद्गल आदि पांच अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

छै द्रव्यों के नाम

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥ [नि० ६]

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छै मूलतत्त्व हैं। ये अपने अपने अनेक गुण और पर्यायोंसे सहित होते हैं।

गुणोंके भेदसे ही द्रव्योंमें भेद है—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ [प्रव० २, ३८]

जिन चिन्होंसे अर्थात् विशेष धर्मोंसे जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य

जाने जाते हैं उन्हे गुण समझना चाहिये। [उन गुणोंके कारण ही द्रव्योंमें यह जीव द्रव्य है और यह अजीव द्रव्य है इत्यादि भेद प्रकट होता है] वे गुण भी तद्भावसे विशिष्ट होनेके कारण मूर्त और अमूर्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। [आशय यह है कि जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव है वह वह द्रव्य उस उस स्वभावसे विशिष्ट है। इसलिये मूर्त द्रव्य अपने मूर्तत्व स्वभावसे विशिष्ट है और अमूर्त द्रव्य अपने अमूर्तत्व स्वभावसे विशिष्ट है। ऐसा होनेसे गुणोंमें भी दो भेद हो जाते हैं]।

मूर्त और अमूर्त गुणोका लक्षण

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ [प्रव० २, ३६]

मूर्त गुण इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, तथा वे पुद्गल द्रव्यमें ही पाये जाते हैं और अनेक प्रकारके होते हैं। और अमूर्तिक द्रव्योंके गुणोंको अमूर्त जानना चाहिए।

मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुण

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ [प्रव० २, ४०]

सूक्ष्म परमाणुसे लेकर स्थूल पृथिवी स्कन्ध पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्योंमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्शगुण रहते हैं। अनेक प्रकारका जो शब्द है वह भी पौद्गलिक है।

अमूर्त द्रव्योंके गुण

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ [प्रव० २, ४१-४२]

एक साथ सब द्रव्योंके साधारण अवगाहमें कारण होना आकाशका विशेष गुण है। एक साथ सब चलनेवाले जीव और पुद्गलोंके गमनमें कारण होना धर्म द्रव्यका विशेष गुण है। एक साथ सब ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें कारण होना अधर्म द्रव्यका विशेष गुण है। समस्त द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायके प्रतिसमय होनेमें कारण होना काल

द्रव्यका विशेष गुण है। चैतन्य परिणाम आत्माका विशेष गुण है। इस तरह संक्षेपसे अमूर्तिक द्रव्योंके विशेष गुण जानने चाहिये।

पांच अस्तिकाय

एदे छद्दव्वाणि य काल मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्त ॥ [नियम० २, ३४]

इन छै द्रव्योंमेंसे कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंको जिनागममें अस्तिकाय कहा है। बहुप्रदेशी द्रव्यको काय कहते हैं।

प्रदेशका लक्षण

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥ [प्रव० २, ४८]

जितने आकाशको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है उतनेको प्रदेश या आकाश प्रदेश कहा है। वह आकाश प्रदेश शेष पांच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें परिणत हुए अनन्त परमाणु स्कन्धोंको स्थान देनेमें समर्थ है।

असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं। काल द्रव्य काय नहीं है क्योंकि उसके एक ही प्रदेश होता है।

लोक-अलोकका भेद

समवाओ पंचण्हं समओ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्त ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ ख ॥ [पञ्चा० ३]

पाँचों अस्तिकायोंके समवायको जिनेन्द्रदेवने 'समय' कहा है। वही पञ्चास्तिकायरूप समय लोक है। उस लोकसे बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है, वह अलोक है।

लोकका स्वरूप

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ [प्रव० २,३६]

आकाशमें जितना क्षेत्र पुद्गल और जीव द्रव्यसे सम्बद्ध है और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा काल द्रव्यसे सम्पन्न है अर्थात् आकाशके जितने भागमें सब द्रव्य अनादि कालसे वर्तमान हैं, उसे अतीतमें लोकाकाश कहते थे, वर्तमानमें लोकाकाश कहते हैं और भविष्य-में भी वह लोकाकाश कहा जायेगा। अर्थात् लोक-अलोकका यह भेद अनादि और अनन्त है।

द्रव्योंका अवस्थान

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ [प्रव० २,४४]

आकाशद्रव्य लोक और अलोकमें व्याप्त है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य लोककाशमें व्याप्त है। काल द्रव्यकी समय आदि पर्याय जीव और पुद्गलके परिणमनसे प्रकट होती है इसलिए काल द्रव्य भी लोकमें ही व्याप्त है। शेष बचे जीव और पुद्गल, वे भी लोकमें ही रहते हैं।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति ॥ [पञ्चा० ७]

छहों द्रव्य परस्पर एक दूसरेमें प्रविष्ट होते हुए और एक दूसरेको स्थान प्रदान करते हुए तथा सदा मिले जुले रहते हुए भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते।

सक्रिय और निष्क्रिय द्रव्य

जीवा पोग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥ [पञ्चा० ६८]

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य बाह्यनिमित्तकी सहायतासे क्रियावान हैं। शेष द्रव्य क्रियावान नहीं है। जीव तो पुद्गलका निमित्त पाकर क्रियावान होते हैं, और पुद्गल द्रव्यकालद्रव्यका निमित्त पाकर क्रियावान होते हैं।

जीवके भेद

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥ [पञ्चा० १०६]

जीव दो प्रकारके होते हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकारके जीव चैतन्यस्वरूप और उपयोग लक्षणवाले होते हैं। किन्तु उनमेंसे संसारी जीव देह सहित होते हैं और मुक्त जीव देह रहित होते हैं।

संसारी जीवके भेद

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागे सुणादव्वं ॥ [नियम० १६-१७]

चार गतियोंकी अपेक्षा संसारी जीवके चार भेद हैं—मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देव। मनुष्योंके दो भेद हैं—कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए। सात पृथिवियाँ हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा, इन सात पृथिवियोंमें नारकी जीव रहते हैं। अतः सात पृथिवियोंके भेदसे नारक जीवोंके सात भेद हैं। तिर्यञ्चोंके चौदह भेद हैं—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रियपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक दो इन्द्रिय पर्याप्तक दो इन्द्रिय अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक चौइन्द्रिय पर्याप्तक, चौइन्द्रिय अपर्याप्तक, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक। देवोंके चार भेद हैं—भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क और कल्पवासी। लोक विभागमें इनका विस्तार जानना चाहिये।

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीवसंसिदा काया ।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥ [पञ्चा० ११०]

जीव सहित पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायके बहुतसे भेद हैं। और ये सब अपने आश्रित जीवोंको मोहसे भरपूर स्पर्श विषयको देते हैं। अर्थात् इन पाँचों कायवाले जीवोंके एक स्पर्शका विषय करनेकी शक्ति रहती है और मोहका प्रबल उदय होनेसे ये केवल कर्मफल चेतनाका ही अनुभवन करते हैं।

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ [पञ्चा० १११]

इनमेंसे पृथिवीकायिक जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीव स्थावर-कायके सम्बन्धसे स्थावर हैं। और अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस हैं; क्योंकि वे गतिशील हैं। सभी जीव मनसे रहित एकेन्द्रिय जानने।

एदे जीवणिकाया पञ्चविहा पुढविकाइयादीया ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥ [पञ्चा० ११२]

ये पाँचों प्रकारके पृथिवीकायिक आदि जीवोंके समूह मनके विकल्पोंसे रहित हैं और इन्हें एकेन्द्रिय कहा है।

एकेन्द्रियोंमें जीवन है

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥ [पञ्चा० ११३]

अण्डोंमें बढ़ते हुए और गर्भमें स्थित जीवों तथा मूर्छित मनुष्योंकी जैसी दशा होती है वैसी ही दशा एकेन्द्रियोंकी जानना। अर्थात् जैसे अण्डे वगैरहको बढ़ती देखकर उनमें जीवका अस्तित्व जानते हैं, वैसे ही एकेन्द्रियोंमें भी जानना।

दो इन्द्रिय जीव

संबुक्क मादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रस फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥ [पञ्चा० ११४]

शंबुक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैरके कृमि लट वगैरह जो जीव स्पर्श और रसको जानते हैं, वे दो इन्द्रिय वाले हैं।

त्रीन्द्रिय जीव

जूगागुंभीमक्कणपिपीलियाविच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा॥ [पञ्चा० ११५]

जूं, कुम्भी, खटमल, चिऊंटी और विच्छु आदि कीट स्पर्श, रस और गंधको जानते हैं इसलिये वे तेइन्द्रिय जीव हैं।

चौइन्द्रिय जीव

उद्दंस-मसय-मक्खि-मधुकर-भमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति॥ [पञ्चा० ११६]

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंग वगैरह स्पर्श रस, गन्ध, और रूपको जानते हैं। अतः वे चौइन्द्रिय जीव हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीव

सुर-णर-णारय-तिरिया वण्ण-रस-प्फास-गंध-सद्दण्हू।
जलचर-थलचर-खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा॥ [पञ्चा० ११७]

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दको जानते हैं। तिर्यञ्च, जलचर, थलचर और नभचरके भेदसे तीन प्रकारके हैं। ये सब जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं। इनमेंसे कुछ जीव मनोवलसे सहित होते हैं अर्थात् देव मनुष्य और नारकी तो मन सहित ही होते हैं। किन्तु तिर्यञ्च मनसहित भी होते हैं और मन रहित भी होते हैं।

गति अपेक्षा जीव भेद

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा॥ [पञ्चा० ११८]

देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी। मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—कर्मभूमिया और भोगभूमिया। तिर्यञ्च बहुत प्रकारके होते हैं और नारकी सात पृथिवियोंकी अपेक्षा सात प्रकारके होते हैं।

एक गतिसे दूसरी गतिमें जन्म

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे य ते वि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा॥ [पञ्चा० ११९]

पूर्व भवमें बाँधे हुये गतिनाम कर्म और आयुकर्मके क्रमसे फल देकर क्षीण हो जानेपर वे ही जीव अपनी अपनी लेश्याके वश अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त करते हैं। अर्थात एक गतिकी आयु पूरी हो जानेपर अपने परिणामोंके अनुसार अन्य गतिकी आयु बाँध, मरण करके उस गतिमें जन्म लेते हैं। और इसी तरह जन्म लेते और मरते रहते हैं।

उपसंहार

एदे जीवणिकाया देहप्पवीचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥ [पञ्चा० १२०]

ये सब जीव देह भोगसे सहित कहे हैं। जो शरीरसे रहित हैं वे सिद्ध जीव हैं। संसारी जीवोंके दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। [जिन संसारी जीवोंमें अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी शक्ति है वे भव्य कहे जाते हैं। और जिनमें ऐसी शक्ति नहीं है वे अभव्य कहे जाते हैं]

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति ॥ [पञ्चा० १२१]

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं। छै प्रकारके जो पृथिवी आदि काय कहे हैं वे भी जीव नहीं हैं। किन्तु उन इन्द्रिय और शरीरोंमें जो ज्ञानवान है उसीको जीव कहते हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥ [पञ्चा० १२२]

जीव सबको जानता और देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, हित अथवा अहितको करता है और उनके फलको भोगता है।

१ जीव द्रव्य

संसारी जीव का स्वरूप

जीवो त्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥ [पञ्चा० २७]

वह जीव है, चेतयिता है, उपयोगसे विशिष्ट है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर प्रमाण है, मूर्तिक नहीं है, किन्तु कर्मोंसे संयुक्त है।

जीवत्व गुण का व्याख्यान

पाणेहि चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥ [पञ्चा० ३०]

जो चार प्राणोंके द्वारा वर्तमानमें जीता है, भविष्यमें जीवेगा और पूर्वकालमें जिया था वह जीव है। वे चार प्राण हैं—बल (कायबल, वचन बल, मनो बल), इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र), आयु और श्वासोच्छ्वास।

जीवों का स्वाभाविक प्रमाण और भेद

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असंखादा सियलोगं सव्वमावण्णा ॥ [पञ्चा० ३१]

केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥ [पञ्चा० ३२]

अनन्त अगुरुलघु गुण हैं। वे अनन्त अगुरुलघु गुण सब जीवोंमें पाये जाते हैं। यों तो प्रदेशोंकी अपेक्षा प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके बराबर है किन्तु उनमेंसे कुछ जीव (जो केवली अवस्थामें समुद्घात करते हैं) कुछ समयके लिये लोकके बराबर हो जाते हैं। और जो वैसा नहीं करते वे अपने शरीर प्रमाण ही रहते हैं। उन जीवोंमेंसे जो जीव अनादि कालसे मिथ्यादर्शन कषाय और योगोंसे युक्त हैं वे संसारी हैं और जो उनसे छूटकर शुद्ध हो गये हैं वे मुक्त जीव हैं। संसारी जीव भी बहुत हैं और मुक्त जीव भी बहुत हैं।

जीव शरीर के बराबर है

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि ॥ [पञ्चा० ३३]

जैसे दूधमें रखा हुआ पद्मराग नामक रत्न दूधको अपनी प्रभासे प्रकाशित करता है। वैसे ही यह जीव शरीरमें रहता हुआ अपने शरीर मात्रको प्रकाशित करता है। [आशय यह है कि पद्मराग मणिको यदि दूधसे भरे हुए बरतनमें डाल दिया जाये तो दूध उसके रंगका होकर उसकी प्रभासे व्याप्त हो जाता है। अग्निके संयोगसे यदि दूध उबलकर बढ़ता है तो उसके साथ ही मणिकी कान्ति भी फैलती है और जब दूध

घट जाता है तब मणिकी प्रभा भी संकुचित हो जाती है। इसी प्रकार संसारी जीव भी प्राप्त शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। शरीरके बढ़ने पर जीवके प्रदेश भी फैल जाते हैं और शरीरके घटने पर जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं]

जीव चेतयिता है

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को ।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥ [पञ्चा० ३८]

एक जीव राशि कर्मोंके फलका अनुभवन करती है। एक जीव राशि कर्मका अनुभवन करती है, और एक जीव राशि शुद्ध ज्ञानका अनुभवन करती है। इस तरह कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना रूप तीन चैतन्य भावोंसे युक्त जीवराशिका अनुभवन जुदा जुदा होता है।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥ [पञ्चा० ३९]

जितने स्थावरकायिक जीव हैं वे सब कर्मफल चेतनाका अनुभवन करते हैं। त्रस जीव कर्मचेतनाका अनुभवन करते हैं। और जो दस प्रकारके प्राणों द्वारा जीवन मरणरूप प्राणिपनेको लाँघ गये हैं, वे जीवन्मुक्त जीव ज्ञान चेतनाका अनुभवन करते हैं। [चेतनाका मतलब है अनुभवन करना। चेतनाके तीन भेद हैं—कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना। स्थावर जीवोंकी चेतना कर्मफल चेतना है, क्योंकि कर्मोंके उदयमें उनकी चैतन्य शक्ति एकदम हीन हो गई है। इसलिये वे कुछ भी कार्य करनेमें असमर्थ हुए केवल सुख दुःख रूप कर्मफलको भोगते हैं। त्रस जीवोंके कर्म चेतना है, क्योंकि यद्यपि त्रस जीव भी कर्मोंके उदयके कारण चैतन्य शक्तिसे अत्यन्त हीन होते हैं फिर भी वीर्यान्तराय कर्मका कुछ विशेष क्षयोपशम होनेसे वे कर्मफलको भोगनेके लिए थोड़ा बहुत प्रयत्न भी करते हैं। और घातिया कर्म नष्ट हो जानेसे जिन जीवोंके चैतन्यशक्ति विकसित हो जाती है वे ज्ञानचेतनासे युक्त होते हैं]।

उपयोग गुणका व्याख्यान

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सोवि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ [प्रव० २, ६३]

औदयिक आदि भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, और कर्म भावके निमित्तसे होता है। किन्तु न तो जीवके भावोंका कर्ता कर्म है और न कर्मोंका कर्ता जीवके भाव हैं। परन्तु वे दोनों कर्ताके विना भी नहीं हुए। [अत वास्तवमें जीवके भावोंका कर्ता जीव है और कर्मके भावोंका कर्ता कर्म है।]

कुव्व सग सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माण इदि जिणवयण मुणेयव्व ॥ [पञ्चा० ६१]

अपने भावोंको करता हुआ जीव अपने भावका कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है। ऐसा जिन भगवानका कथन जानना चाहिये।

कम्म पि सग कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाण ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥ [पञ्चा० ६२]

कर्म भी अपने स्वभावसे यथार्थमें अपने स्वरूपको करता है। जीव भी कर्मरूप रागादि भावोंसे स्वयं ही अपना कर्ता है।

शका

कम्म कम्म कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाण ।
किध तस्स फल भुजदि अप्पा कम्म च देदि फल ॥ [पञ्चा० ६३]

यदि कर्म कर्मको करता है और आत्मा अपने स्वरूपको करता है तो उस कर्मका फल आत्मा कैसे भोगता है, और कर्म कैसे उसे फल देता है ?

समाधान

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णताणतेहिं विविहेहिं ॥ [पञ्चा० ६४]

यह लोक सब जगह अनेक प्रकारके अनन्तानन्त सूक्ष्म और स्थूल पुद्गलस्कन्धोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

अत्ता कुणदि सहाव तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं ।
गच्छति कम्मभाव अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥ [पञ्चा० ६५]

जीव अपने रागादिरूप भावोंको करता है। जब जहाँ वह इन भावोंको करता है, उन भावोंका निमित्त पाकर उसी समय वहीं स्थित पुद्गल जीवके प्रदेशोंमें परस्पर एकक्षेत्र अवगाह रूपसे दूध पानीकी तरह मिलकर कर्मरूप हो जाते हैं।

वही वीरात्मा जीव जिन भगवानके द्वारा कहे हुए मार्गको अपना कर मोहनीयकर्मका उपशम अथवा क्षय करके, सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करनेवाले मार्गपर चलता हुआ मोक्षपुरी को जाता है।

२ पुद्गल द्रव्य

पुद्गलके भेद

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो॥ [नियम० २०]

परमाणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गलद्रव्यके दो भेद हैं। उनमेंसे स्कन्धके छै भेद हैं, और परमाणुके दो भेद हैं।

स्कन्धके भेद

अइथूलथूल थूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमं थूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति॥ [नियम० २१-२४]

स्कन्धके छै भेद हैं—अति स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। जो पुद्गल स्कन्ध दो खण्ड होनेपर अपने आप नहीं मिल सकता, जैसे पृथ्वी पहाड़ वगैरह, उसे अतिस्थूलस्थूल कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध खण्ड-खण्ड होकर पुनः मिल जाते हैं, जैसे घी, पानी, तेल वगैरह, उन्हे स्थूल कहते हैं। जो देखनेमे तो स्थूल हों किन्तु जिनको पकडा न जा सके और न जिनका छेदन भेदन किया जा सके, जैसे छाया धूम वगैरह, उन्हें स्थूल सूक्ष्म कहते हैं। जो स्कन्ध हों तो सूक्ष्म, परन्तु स्थूलसे प्रतीत होते हों, जैसे चक्षुको छोडकर शेष चार इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध वगैरह, उन्हे सूक्ष्म स्थूल कहते हैं। कर्मरूप होनेके योग्य कार्मण वर्गणारूप स्कन्धोंको सूक्ष्म कहते हैं। और जो स्कन्ध कार्मण वर्गणासे भी सूक्ष्म होते हैं उन्हें सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं।

दूसरे प्रकारसे पुद्गलके भेद

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुब्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥ [पञ्चा० ७४]

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु, इस प्रकार ये पुद्गल द्रव्यके चार भेद जानना।

स्कन्ध आदिका लक्षण

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी॥ [पञ्चा० ७५]

जो सब कार्य करनेमें समर्थ हो उसे स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धके आधे भागको स्कन्धदेश कहते हैं। उस आधेके भी आधे भागको स्कन्धप्रदेश कहते हैं। और जिसका दूसरा भाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं।

परमाणु के दो भेद

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेओ।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणू॥ [नियम० २५]

परमाणु दो प्रकारके होते हैं—एक कारण परमाणु और एक कार्य-परमाणु। जो परमाणु पृथ्वी, जल, आग और हवाका कारण है अर्थात् जिन परमाणुओंसे ये चारों बनते हैं वे तो कारणपरमाणु हैं। और स्कन्धों का जो अन्त है अर्थात् स्कन्धोंके टूटते टूटते अन्तमें जो अविभागी द्रव्य हो जाता है वह कार्यरूप परमाणु है।

परमाणुका स्वरूप

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि॥ [नियम० २६]

जो स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त रूप है, अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अन्तका भेद नहीं है, तथा जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेके योग्य नहीं है, ऐसा जो अविभागी (जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता) द्रव्य है, उसे परमाणु जानो।

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं॥ [पञ्चा० ८०]

परमाणु नित्य है, अवकाश देनेमे असमर्थ भी नहीं है और समर्थ भी नहीं है प्रदेशकी अपेक्षा स्कन्धोका भेदक है और स्कन्धोका बनाने वाला भी है तथा कालकी सख्याका भी विभाग करनेवाला है। [आशय यह है कि द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव चारोंका भेदक परमाणु ही है। सबसे छोटा पुद्गल द्रव्य परमाणु है, परमाणुके द्वारा ही स्कन्धोंमे द्रव्योंकी संख्या गिनी जाती है कि अमुक स्कन्ध कितने प्रदेशवाला है। सबसे छोटा क्षेत्र आकाशका एक प्रदेश है। प्रदेशका विभाग भी परमाणुके द्वारा ही किया जाता है क्योकि एक परमाणु आकाशके जितने भागको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। कालका सबसे छोटा अश समय है। इसका भेदक भी परमाणु ही है क्योकि आकाशके एक प्रदेशमे स्थित परमाणु मन्दगतिसे चलता हुआ अनन्तरवर्ती दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमे पहुचता है उसे समय कहते हैं। भावका सबसे छोटा अंश अविभागी प्रतिच्छेद है। इसका भेदक भी परमाणु ही है क्योंकि परमाणुमें रहनेवाले रूप रस गन्ध वगैरहके जघन्य आदि अशोंके विभागके द्वारा ही इसकी प्रतीति होती है]

परमाणु में गुण

एयरसवण्णगध दो फासं सद्दकारणमसद्द।
खधतरिदं दव्व परमाणुं त वियाणाहि॥ [पञ्चा० ८१]

जिसमे एक रस, एक रूप, एक गध और दो स्पर्श गुण रहते हैं, जो शब्दकी उत्पत्तिमे कारण है, किन्तु स्वय शब्दरूप नहीं है, तथा स्कन्धरूपमे परिणमन करके भी जो स्कन्धसे जुदा है, उस द्रव्यको परमाणु जानो। [एक परमाणुमें पाँच रसोंमेसे कोई एक रस, पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप, दो प्रकारकी गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध और शीत, उष्ण तथा स्निग्ध रूक्ष इन दो युगल स्पर्शोंमेंसे एक एक स्पर्श गुण रहता है]।

पुद्गलकी पर्याय

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ॥ [नियम० २८]

अन्यकी अपेक्षाके विना जो परिणाम होता है वह स्वभाव पर्याय है। और स्कन्धरूपसे जो परिणाम होता है वह विभाव पर्याय है। अर्थात् परमाणु पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है और स्कन्ध अशुद्ध पर्याय है।

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥ [निय० २९]

निश्चय नयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहते हैं, और व्यवहार नयसे स्कन्धको भी पुद्गलद्रव्य कहते हैं ।

परमाणु किस प्रकार स्कन्धरूप होता है

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ [प्रव० २,७१]

दो आदि प्रदेशोंके न होनेसे परमाणु अप्रदेशी है और एक प्रदेशवाला होनेसे प्रदेशमात्र है । तथा परमाणु स्वयं शब्दरूप नहीं है क्योंकि शब्द अनेक परमाणुओंके मेलसे बनता है । परमाणु स्निग्ध गुणवाला भी होता है और रूक्ष गुणवाला भी होता है । स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके कारण ही एक परमाणु दूसरे परमाणुके साथ मिलकर दो तीन आदि प्रदेशवाला हो जाता है ।

परमाणुमें स्निग्ध और रूक्ष गुणोंका परिणमन

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ [प्रव० २,७२]

परमाणु परिणमनशील है । परिणमनशील होनेसे परमाणुमें स्थित स्निग्ध और रूक्ष गुण एक अविभागी प्रतिच्छेदसे लेकर एक एक बढ़ते हुए अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदवाले तक हो जाते हैं ।

किस प्रकारके स्निध रूक्ष गुण बंधमें कारण होते हैं ?

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥ [प्रव० २,७३]

स्निग्ध गुणवाले अथवा रूक्ष गुणवाले, दो चार छै आदि समान संख्यक गुणवाले अथवा तीन पाँच सात आदि विषम संख्यक गुणवाले परमाणुओंमेंसे यदि एकसे दूसरेमें दो गुण अधिक हों तो दोनोंका परस्परमें बन्ध होता है, किन्तु एक गुणवाले परमाणुका बन्ध नहीं होता । [साराश यह है कि बंधनेवाले दो परमाणुओं के स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों मे यदि दोका अन्तर होता है अर्थात् एकमें दो और दूसरेमें चार या एकमें तीन और दूसरेमें पाँच स्निग्ध या रूक्ष गुण हों तो दोनोंका परस्परमें

बन्ध होता है, किन्तु जिस परमाणुमें एक ही स्निग्ध या रूक्ष गुण होता है उसका किसी भी परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता]।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ [प्रव० २,७४]

दो गुण स्निग्धवाले परमाणुका चार गुण स्निग्धवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है। अथवा तीन गुण रूक्षवाले परमाणुका पाँच गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है।

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ [प्रव० २,७५]

दोप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि स्कन्ध और अपने अपने आकारको लिये हुए सूक्ष्म अथवा बादर पृथ्वी, जल, तेज और वायु अपने ही स्निग्ध और रूक्ष गुणके परिणामसे उत्पन्न होते हैं।

आत्मा और कर्मके बन्धमें आशङ्का

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ [प्रव० २,८१]

रूप आदि गुण वाला मूर्तिक पुद्गल स्निग्ध और रूक्षरूप स्पर्शगुणके निमित्तसे परस्परमें बन्धको प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा तो रूप आदि गुण वाला नहीं, तब वह पुद्गल कर्मों को कैसे बाँधता है अर्थात् आत्माके साथ पुद्गल कर्मों का बन्ध कैसे होता है ?

समाधान

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ [प्रव० २ ८२]

आत्मा रूप स्पर्श आदि गुणवाला नहीं है, किन्तु जैसे वह रूप आदि गुणवाले पुद्गल द्रव्योंको और उनके रूप आदि गुणोंको जानता देखता है, वैसेही पुद्गल द्रव्यके साथ आत्माका बन्ध जानो।

उक्त कथनका स्पष्टीकरण

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहि संबंधो ॥ [प्रव० २,८३]

जीव उपयोगमय है अर्थात् जानने देखनेवाला है। वह जो अनेक प्रकारके इष्ट अनिष्ट विषयोंको पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है, वह उन राग द्वेष और मोहके द्वारा बन्धको प्राप्त होता है।

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगद विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ [प्रव० २,८४]

जीव प्राप्त हुए विषयोंको जिस राग द्वेष या मोहरूप भावसे जानता देखता है उसी भावसे रंग जाता है और फिर उसी भावसे पौद्गलिक कर्म बन्धते हैं। अर्थात् जीवका यह उपराग ही स्निग्ध रूक्ष गुणका स्थानापन्न होकर पौद्गलिक कर्मोंके बन्धमें निमित्त होता है।

पुद्गल, जीव और उभयबन्धका स्वरूप

फासेहिं पुग्गलाण बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुद्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ [प्रव० २,८५]

स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श गुणके द्वारा पुद्गलोंका परस्पर बन्ध होता है और राग आदिके द्वारा जीवका बन्ध होता है। तथा परस्परमें परिणामोंका निमित्त पाकर जीव और कर्म पुद्गलोंका परस्परमे एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध कहा गया है।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।
पविसति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ [प्रव० २,८६]

यह आत्मा लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी होनेसे सप्रदेशी है। उन प्रदेशोंमें कर्मवर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध कायवर्गणा, मनोवर्गणा, अथवा वचनवर्गणाके आलम्बनसे होने वाले प्रदेश परिस्पन्दरूप योगके अनुसार प्रवेश करते हैं। और प्रवेश करते ही ठहर जाते हैं और बध जाते हैं। उसके बाद उदयकाल आने पर अपना फल देकर चले जाते हैं।

३ धर्मद्रव्य

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥ [पञ्चा० ८३]

धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य पांच प्रकारके रसोंसे रहित है, पांच प्रकारके वर्ण और दो प्रकारकी गन्धसे रहित है, शब्दरूप नहीं है. आठ

प्रकारके स्पर्शसे रहित है, समस्त लोकमें व्याप्त है, अखण्ड प्रदेशवाला है, स्वभावसे ही सब जगह फैला हुआ है और असंख्यात प्रदेशी है।

> अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणतेहिं परिणद णिच्च।
> गदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद सयमकज्ज ॥ [पञ्चा० ८४]

यह धर्मद्रव्य सदा उन अगुरुलघु नामके अनन्त गुणोंके द्वारा परिणमनशील होते हुए भी नित्य है। और गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमे निमित्त कारण है। किन्तु स्वय किसीका कार्य नहीं है अर्थात् धर्मद्रव्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

> उदय जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
> तह जीवपोग्गलाण धम्म दव्व वियाणाहि ॥ [पञ्चा० ८५]

जैसे लोकमें जल मछलियोंके गमनमें निमित्तमात्र होता है। वैसे ही जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायक धर्मद्रव्यको जानो। [आशय यह है धर्मद्रव्य स्वयं नहीं चलता है और न जीव पुद्गलोंको चलनेकी प्रेरणा करता है। किन्तु यदि जीव और पुद्गल चलते हैं तो निमित्त मात्र सहायक हो जाता है।

४ अधर्म द्रव्य

> जह हवदि धम्मदव्व तह त जाणेह दव्वमधमक्ख।
> ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव ॥ [पञ्चा० ८६]

जैसा धर्मद्रव्य है वैसा ही अधर्म नामके द्रव्यको जानो। इतना विशेष है कि यह ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें पृथ्वीकी तरह निमित्त कारण है अर्थात् जैसे पृथिवी स्वय ही ठहरी हुई है और किसीको बलपूर्वक नहीं ठहराती। किन्तु स्वयं ही ठहरते हुए घोडे वगैरहको ठहरने मे सहायक होती है। वैसे ही अधर्मद्रव्य भी किसीको बलपूर्वक नहीं ठहराता। किन्तु जो चलते चलते स्वयं ठहरता है उसमें सहायक मात्र होता है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के सद्भाव में युक्ति

> जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
> दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥ [पञ्चा० ८७]

जिन धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके सद्भावसे लोक और अलोकका विभाग तथा गमन और स्थिति होती है वे दोनो ही परस्परमें जुदे जुदे हैं। अर्थात् दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है, किन्तु दोनो एक ही क्षेत्रमें रहते हैं इसलिये जुदे नहीं भी है। और लोकके बराबर प्रमाणवाले हैं। [आशय यह है कि यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न होते तो लोक और अलोकका विभाग नहीं होता; क्योंकि जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य गति और स्थिति करते हैं। इनकी गति और स्थितिका बाह्य निमित्त धर्म और अधर्मद्रव्य लोकमें ही है। यदि ये दोनों द्रव्य न होते तो गति करते हुए जीव पुद्गल लोकसे आगे भी चले जाते और तब लोक अलोकका भेद समाप्त हो जाता, क्योंकि जितने आकाशमें जीव आदि सभी द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं और जहाँ केवल आकाश द्रव्य है वह अलोक कहा जाता है।]

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्स प्पसरो जीवाण पोग्गलाणं च ॥ [पञ्चा० ८८]

धर्मास्तिकाय द्रव्य स्वयं नहीं चलता और अन्य द्रव्योंका भी गमन नहीं कराता। किन्तु वह जीव और पुद्गलोंकी गतिका प्रवर्तकमात्र है। इसीप्रकार अधर्मद्रव्यको भी समझना।

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव सभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥ [पञ्चा० ८९]

जिनका गमन होता है स्थिति भी उन्हींकी सभव है। अर्थात् जो चलते हैं वे ही ठहरते भी हैं। किन्तु वे चलने और ठहरनेवाले जीव और पुद्गल अपने परिणामोंसे ही गति और स्थिति करते हैं। अर्थात् उन्हे कोई जबरदस्ती चलाता या ठहराता नहीं है। गमन करने और ठहरनेकी शक्ति उन्हींमें ही है, धर्म अधर्म तो सहायकमात्र हैं।

५ आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्यका स्वरूप

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥ [पञ्चा० ९०]

जो सब जीवोंको, पुद्गलोंको और शेष बचे धर्म अधर्म और काल द्रव्यको पूरा स्थान देता है उसे लोकमें आकाशद्रव्य कहते हैं।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्ण आयास अंतवदिरित्त ॥ [पञ्चा० ६१]

अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त पुद्गल स्कन्ध, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य ये पाँचों द्रव्य लोकसे अभिन्न हैं। अर्थात् जितने आकाशमें ये पाँचो द्रव्य पाये जाते हैं उसका नाम लोकाकाश है। आकाश द्रव्य तो अन्त रहित अनन्त है। अतः वह लोकाकाशसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। अर्थात् आकाशद्रव्य लोकमें भी पाया जाता है और लोकसे बाहर भी पाया जाता है।

आकाशको गति-स्थितिका कारण मानने में दोष

आगास अवगास गमणट्ठिदिकारणेहि देदि जदि ।
उड्ढ गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठ ति किध तत्थ ॥ [पञ्चा० ६२]

यदि आकाशद्रव्य चलने और ठहरनेमें कारण होनेके साथ ही साथ अवकाश भी देता है अर्थात् अवगाहके इच्छुक द्रव्योंके अवगाह और चलनेवाले तथा ठहरनेवाले द्रव्योंके चलने और ठहरनेमे भी यदि आकाश सहायक माना जाता है तो स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाले सिद्ध भगवान सिद्ध शिलापर कैसे ठहरते हैं ? [आशय यह है कि यदि गति और स्थिति का कारण आकाशको ही मान लिया जायगा तो सिद्ध परमेष्ठी लोकके अग्रभागमे न ठहरकर आगे भी चले जायेंगे क्यो कि गमनमे कारण आकाशद्रव्य आगे भी पाया जाता है]।

जम्हा उवरि ट्ठाण सिद्धाण जिणवरेहिं पण्णत्त ।
तम्हा गमणट्ठाण आयासे जाण णत्थि त्ति [पञ्चा० ६३]

किन्तु यत जिनवर भगवानने सिद्धोंका निवासस्थान ऊपर लोकके अग्रभागमे वतलाया है। अतः आकाश द्रव्य गति और स्थितिमे कारण नही है ऐसा जानो।

जदि हवदि गमणहेदू आगास ठाणकारण तेसिं ।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥ [पञ्चा० ६४]

यदि आकाशद्रव्य उन जीवो और पुद्गलोंके गमनमे और स्थितिमे सहकारी कारण होता है तो अलोकाकाश की तो हानिका प्रसग आता

और लोकके अन्त की वृद्धिका प्रसंग आता है [आशय यह है कि यदि आकाशको गति और स्थितिका कारण माना जाता है तो आकाश तो लोकके बाहर भी है अत. वहाँ भी जीवों और पुद्‌गलोंका गमन होगा। और ऐसा होनेसे लोककी मर्यादा टूट जायेगी, एक ओर लोकाकाश बढ़ता जायेगा, दूसरी ओर अलोकाकाश घटता जायेगा]।

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागास।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहाव सुणताण ॥ [पञ्चा० ९५]

अत धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ही गति और स्थितिमें कारण हैं, आकाश नहीं। इसप्रकार जिनवर भगवानने लोकके स्वभावको सुननेवाले जीवोंको कहा है।

६ काल द्रव्य

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्ह एस सहावो कालो खणभगुरो णियदो ॥ [पञ्चा० १००]

व्यवहारकाल जीव और पुद्‌गलोंके परिणामसे प्रकट होता है और जीव तथा पुद्‌गलोंका परिणाम निश्चयकाल द्रव्यसे उत्पन्न होता है। निश्चय और व्यवहारकाल दोनोंका यही स्वभाव है। व्यवहारकाल क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है और निश्चयकाल अविनाशी है। [साराश यह है कि क्रमसे होनेवाली जो समय नामक पर्याय है वह व्यवहारकाल है। और उस व्यवहारकालका जो आधार है वह निश्चयकाल है। निश्चय-काल की पर्यायका नाम व्यवहारकाल है। इस तरह यद्यपि व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय रूप है फिर भी जीव और पुद्‌गलोंके परिणमनसे ही वह प्रकट होता है। जैसे, आकाशके एक प्रदेशमें स्थित पुद्‌गल परमाणु मन्द गतिसे चलकर अपने समीपवर्ती दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमें पहुँचे उसे समय कहते हैं. एकवार आँखोंकी पलक टिमकारनेके कालको निमिष कहते हैं। सूर्यके उदयकालसे लेकर अस्त होनेके कालको दिन कहते हैं। समय, निमेष, दिन ये सब व्यवहारकाल हैं जो पुद्‌गलोंके परिणमनसे जाने जाते हैं। किन्तु जीवों और पुद्‌गलोंका यह परिणाम भी बाह्य निमित्त कारण काल द्रव्यके रहते हुए ही होता है। अतः परिणामको द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ कहा है। इस तरह जीव और पुद्‌गलोंके परिणमनसे व्यवहार कालका निश्चय किया जाता है और व्यवहार कालसे निश्चय कालका निश्चय किया जाता है, क्यों कि निश्चयकालके

विना काल व्यवहार हो नहीं सकता। इनमेंसे व्यवहारकाल क्षणिक है क्योंकि क्षण क्षणमें नष्ट होता रहता है और निश्चयकाल द्रव्य है अतः गुण पर्यायोंका आधार होनेसे दूसरे द्रव्योंकी तरह वह भी अविनाशी है]।

काल द्रव्यकी सिद्धि

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ [पञ्चा० १०१]

जो यह 'काल' ऐसा शब्द है यह अपने वाच्य निश्चय कालके सद्भावको बतलाता है जो नित्य है। और जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है वह उसी काल द्रव्यकी समयरूप पर्याय है जिसे व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल क्षणस्थायी होते हुए भी प्रवाह रूपसे दीर्घ काल तक स्थायी है। [अतः निश्चयकाल द्रव्य रूप होनेसे नित्य है और व्यवहार काल पर्याय रूप होनेसे क्षणिक है]।

निश्चय काल द्रव्य

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ [प्रव० २,४६]

निश्चय काल द्रव्य (पुद्गलके परमाणुकी तरह द्वितीय आदि प्रदेशसे रहित होनेके कारण) अप्रदेशी है। (इसीसे उसे कालाणु कहते हैं)। जब एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु उस कालाणुसे व्याप्त आकाश द्रव्यके एक प्रदेश को मन्द गतिसे लाँघता है तो उसमें वह काल द्रव्य सहायक होता है।

निश्चय काल द्रव्य और उसकी पर्याय

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ [प्रव० २ ७४]

ऊपर किये गये कथनके अनुसार कालाणुसे व्याप्त एक आकाश प्रदेशको मन्द गतिके द्वारा लाँघनेमें परमाणुको जितनी देरी लगती है उसके समान ही समय है अर्थात् कालके उतने परिमाण को समय कहते हैं। यह समयरूप पर्याय तो उत्पन्न और नष्ट होती है। किन्तु अतीत कालमें हुई और भविष्यमें होनेवाली समयरूप पर्याय जिस द्रव्यकी है और जो उन सब पर्यायोंमें सदा अनुस्यूत रहता है वही काल द्रव्य है।

— ० —

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ [नियम० ४६]

यह जीव रससे रहित है, रूपसे रहित है, गन्धसे रहित है इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य न होनेसे अव्यक्त है. चैतन्य गुणवाला है. शब्दसे रहित है किसी पौद्गलिक चिन्हसे ग्रहण करनेके अयोग्य है. और आकारसे रहित है ।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥ [नियम० ४७]

जैसे सिद्ध जीव होते हैं वैसे ही संसारी जीव होते हैं, क्योंकि जीव स्वभावसे जरा मरण, जन्मसे मुक्त तथा आठ गुणोंसे युक्त होता है ।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥ [नियम० ४८]

जैसे लोकके अग्रभागमें विराजमान सिद्ध जीव शरीरसे रहित विनाशसे रहित अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्ध हैं वैसे ही संसारी जीवोंको जानना चाहिये ।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥ [नियम० ४९]

ये सब भाव—गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि—व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहे हैं । शुद्धनयसे सभी संसारी जीव सिद्धोंके समान स्वभाववाले हैं ।

२ अजीव पदार्थका व्याख्यान

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥ [पञ्चा० १२४]

आकाश द्रव्य काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यमें जीवके गुण नहीं हैं; अत. इन्हें अचेतन कहा है और जीवको चेतन कहा है ।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बिंति अज्जीवं ॥ [पञ्चा० १२५]

जिनको कभी भी सुख दुःख का ज्ञान नहीं होता तथा कभी भी जो

हितमें प्रवृत्ति और अहितसे भय नहीं करता, उसको श्रमण भगवान अजीव मानते हैं।

३-४ पुण्य और पाप पदार्थका व्याख्यान

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥ [पञ्चा० १३१]

जिसके भावोंमे मोह, राग, द्वेष और चित्तकी निर्मलता पाई जाती है, उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। अर्थात् जिसका चित्त निर्मल होता है और जिसमें प्रशस्त राग पाया जाता है उसके परिणाम शुभ होते हैं और जिसमें मोह द्वेष और अप्रशस्त राग होता है उसके परिणाम अशुभ होते हैं।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति होदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥ [पञ्चा० १३२]

शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। जीवके इन दोनो शुभाशुभ परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल पिण्ड रूप जो परिणाम है, वह कर्मपनेको प्राप्त होता है। [आशय यह है कि पुण्यके दो प्रकार हैं — भावपुण्य और द्रव्यपुण्य। इसी तरह पापके भी दो प्रकार हैं—भावपाप और द्रव्य पाप। जब जीव शुभ परिणाम करता है तो उन परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणा उस जीवके शुभ कर्मरूप परिणमन करती है। अतः शुभ कर्म तो द्रव्य पुण्य है और शुभ परिणाम भावपुण्य है। इसी तरह जब जीव अशुभ परिणाम करता है तो उन परिणामोंका निमित्त मिलते ही पुद्गल कर्मवर्गणा उस जीवके अशुभ कर्मरूप परिणमन करती है। अत अशुभ कर्म द्रव्य पाप है और अशुभ परिणाम भाव पाप है।

कर्म मूर्तिक हैं—

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥ [पञ्चा० १३३]

यत कर्मका फल सुख या दुःख है, वह सुख या दुःख संसारिक विषयोंके द्वारा प्राप्त होता है। उन विषयोंको यह जीव नियमसे इन्द्रियोंके द्वारा ही भोगता है। अत कर्म मूर्तिक हैं, क्यों कि जिसका फल मूर्तिक है और मूर्तके द्वारा ही जिसका भोग जाता है वह मूर्तिक है।

५ आस्रव पदार्थका व्याख्यान

पुण्यास्रवके कारण

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ [पञ्चा० १३५]

जिस जीवका राग प्रशस्त है, परिणाम दयाभावसे भीगे हुए हैं और चित्तमें कलुषता नहीं है, उस जीवके पुण्य कर्मका आस्रव होता है।

प्रशस्त रागका स्वरूप

अरहंत-सिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चति ॥ [पञ्चा० १३६]

अर्हन्त, सिद्ध और साधुओंमें भक्ति, धर्ममें जो प्रवृत्ति, तथा गुरुओंका जो अनुगमन है, इन सबको प्रशस्त राग कहते हैं।

अनुकम्पाका स्वरूप

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ [पञ्चा० १३७]

प्यासे अथवा भूखे अथवा दुखी प्राणीको देखकर जिसका मन दुखी होता है, और जो दया भावसे अर्थात् उसका कष्ट दूर करनेकी भावनासे उस दुखीके पास जाता है उसीके यह अनुकम्पा होती है।

चित्तकलुपता

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ॥ [पञ्चा० १३८]

जब क्रोध अथवा मान अथवा माया अथवा लोभ चित्तको प्राप्त होकर जीवको क्षोभ उत्पन्न करता है, ज्ञानीजन उसे कालुष्य कहते हैं। अर्थात् क्रोध मान माया या लोभ कपायका तीव्र उदय होनेपर चित्तमें जो क्षोभ होता है उसका नाम कालुष्य है।

पापास्रवके कारण

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ [पञ्चा० १३९]

प्रमादसे भरपूर आचरण, चित्तकी कलुषता, विषयोंमें लोलुपता,

दूसरोको सताना और दूसरोको झूठा दोष लगाना, ये सब पाप कर्मका आस्रव करते हैं।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥ [पञ्चा० १४०]

आहार भय मैथुन परिग्रह ये चार संज्ञा, कृष्ण नील कापोत ये तीन लेश्या, इन्द्रियोंकी अधीनता, आर्त और रौद्रध्यान, बुरे कामोमें ज्ञानकी प्रवृति और मोह, ये पापास्रवके कारण होते हैं।

६ संवर पदार्थका व्याख्यान

इंदिय-कसाय सण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहिय पावासव छिद्दं॥ [पञ्चा० १४१]

जिन पुरुषोंने मोक्षके मार्गमे स्थित होकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओंका जितने अशमें अथवा जितने काल तक अच्छी तरहसे निग्रह किया, उतने अशमे और उतने काल तक उन्होंने पापास्रवके द्वारको बन्द कर दिया।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥ [पञ्चा० १४२]

जिसके समस्त परद्रव्योंमे राग अथवा द्वेष अथवा मोह नहीं है, दुःख सुखमें समबुद्धि रखनेवाले उस साधुके शुभ और अशुभ कर्मोंका आस्रव नहीं होता।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥ [पञ्चा० १४३]

सब ओरसे निवृत्त जिस योगीके मन वचन और कायकी क्रिया-रूप योगमें जब शुभ परिणामरूप पुण्य और अशुभ परिणामरूप पाप नहीं होता तब उस साधुके शुभ और अशुभ परिणामोंके द्वारा किये गये द्रव्य कर्मका संवर होता है। [साराश यह है कि शुभ अशुभ परिणामोंके रोकनेका नाम भाव संवर है और वह भाव संवर द्रव्य संवरका प्रधान कारण है]।

७ निर्जरापदार्थका व्याख्यान

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥ [पञ्चा० १४४]

जो शुभाशुभ परिणामोंको रोकनेरूप संवर तथा शुद्धोपयोगसे युक्त होकर अनेक प्रकारके तपोंके द्वारा प्रयत्न करता है, वह नियमसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥ [पञ्चा० १४५]

जो संवरसे युक्त होता हुआ, शुद्धात्मानुभूतिरूप आत्मार्थका पूरी तरहसे साधक है और आत्मस्वरूपको जानकर ज्ञानस्वरूप अपनी आत्माका ही ध्यान करता है वह कर्मरूपी धूलको उड़ा देता है।

ध्यानका स्वरूप

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिणामो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायदे अगणी ॥ [पञ्चा० १४५]

जिसके राग द्वेष मोह और योगरूप परिणाम नहीं हैं, उसके शुभ अशुभ कर्मोंको जलानेवाली ध्यानरूप अग्नि उत्पन्न होती है।

८ बन्धपदार्थका व्याख्यान

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ [पञ्चा० १४७]

यदि यह अनादि कालसे रागमें फँसा हुआ आत्मा कर्मके उदयसे होनेवाले शुभ अथवा अशुभ भावको करता है तो उस भावके निमित्तसे वह अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मों से बंध जाता है।

बन्धके कारण

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मण-वयण-कायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥ [पञ्चा० १४८]

योगके निमित्तसे कर्म पुद्गलोंका ग्रहण होता है। और योग मन वचन और कायसे उत्पन्न होता है। बंध भावके निमित्तसे होता है और वह भाव रति, राग, द्वेष और मोहसे युक्त होता है। [आशय यह है कि मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे जो आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका जीवके प्रदेशोंमें रहनेवाले कर्म स्कन्धोंमें मिल जानेका नाम ग्रहण है। वह ग्रहण योगसे होता है। तथा राग द्वेष मोहसे युक्त जीवके भाव बंधके कारण हैं। कर्मपुद्गलोंका

विशिष्ट शक्तिको लेकर ठहरनेका नाम बन्ध है। इस तरह बन्धका बाह्य कारण योग है और अन्तरंग कारण जीवके भाव हैं]।

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिद।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥ [पञ्चा० १४६]

चार प्रकारके हेतुओंको आठ प्रकारके कर्मोंके बन्धका कारण कहा है। और उन चार प्रकारके हेतुओंका भी कारण रागादि भाव हैं। अतः उनके अभावमें कर्मोंका बन्ध नहीं होता। [साराश यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके द्वारा आठ प्रकारके कर्म बंधते हैं। अत ये चारों बन्धके कारण हैं। इन बन्धके कारणोंका भी कारण रागादि भाव है। रागादि भावका अभाव हो जानेपर कर्मबन्ध नहीं होता]।

जीव और कर्मका बन्ध कैसे होता है ?

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहि जोग्गेहिं ॥ [प्रव० २,७६]

यह लोक सब जगह पुद्गल स्कन्धोंसे ठसाठस भरा हुआ है। उनमें कुछ पुद्गलस्कन्ध सूक्ष्म हैं, कुछ बादर हैं, कुछ कर्मरूप होनेके योग्य हैं और कुछ अयोग्य हैं।

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ [प्रव० २ ७७]

जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप होनेके योग्य हैं वे जीवके परिणामोंको पाकर कर्मरूप हो जाते हैं। जीवने उन्हें कर्मरूप नहीं परिणमाया है।

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ [प्रव० २,६५]

जब आत्मा राग द्वेषसे युक्त होकर शुभ अथवा अशुभभाव रूपसे परिणमन करता है तब कर्मरूपी धूलि ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूपसे उसमें प्रवेश करती है।

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोह-राग-दोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ [प्रव० २,९६]

वह ससारी आत्मा सप्रदेशी है तथा मोह राग और द्वेषके रंगसे

रंजित है। अत कर्मरूपी धूलिसे सम्बद्ध होता है। इसे ही आगममें बंध कहा है।

परिणाम ही बन्ध और मोक्षका कारण है

पाव हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामो।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो॥ [भा० प्रा० ११६]

परिणाम ही समस्त पापरूप होता है और परिणाम ही समस्त पुण्यरूप होता है। जैन शासनमें परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष कहा है।

अशुभबन्धके कारण

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो॥ [भा० प्रा० ११७]

जिनवचनसे पराङ्मुख जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओंके द्वारा अशुभ कर्मका बंध करता है।

शुभबंधके कारण

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं॥ [भा० प्रा० ११८]

जिनवचनका श्रद्धानी विशुद्ध भाववाला होनेके कारण शुभकर्मका बंध करता है। इस प्रकार जीव दोनों प्रकारके कर्मों का बन्ध करता है। बन्धका यह कथन संक्षेपसे ही किया है।

उपसंहार

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥ [प्रव० २,८७]

रागी जीव कर्मों को बाँधता है और वीतरागी आत्मा कर्मों से छूट जाता है। निश्चयसे यह जीवोंके बन्धके कथनका संक्षेप जानो।

९ मोक्षपदार्थका व्याख्यान

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं॥ [पञ्चा० १५०-१५१]

कारणका अभाव होने पर नियमसे ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध हो जाता है। आस्रव भावके विना अर्थात् आस्रवका निरोध हो जाने पर कर्मोंका निरोध हो जाता है। और कर्मोंका अभाव होनेसे यह आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर इन्द्रियोंसे उत्पन्न न होनेवाले वाधारहित अनन्त सुखको प्राप्त करता है।

जो सवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भव तेण सो मोक्खो॥ [पञ्चा० १५२]

जो परम सवरसे युक्त होता हुआ समस्त कर्मों की निर्जरा करता है। और वेदनीय और आयु कर्मसे रहित होकर संसारको छोड देता है, अत वह मुक्त हो जाता है।

— ० —

५. चारित्र-अधिकार

१ व्यवहार चारित्र

मगलाचरण

सव्वण्हु सव्वदसी णिम्मोहा[1] वीयरायपरमेट्ठी।
वदित्तु तिजगवदा अरहता भव्वजीवेहि॥
णाण दसण सम्म चारित्त सोहिकारण तेसिं।
'मोक्खाराहणहेउ'[3] चारित्त पाहुड वोच्छे॥ [चा० प्रा० १,२]

सवको जानने ओर देखने वाले, मोह रहित, वीतराग, परम पदमें स्थित, तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय और भव्य जीवोंके द्वारा पूज्य अरहन्त परमेष्ठीका नमस्कार करके, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी शुद्धताके कारण तथा उन अर्हन्तोंके मोक्षकी प्राप्तिमें उपायरूप चारित्र प्राभृतको कहूँगा।

---

१ —म्मोहो ग० ऊ०। २ मुक्खा —आ० ऊ०। ३ —हेउ आ०।

रत्नत्रयका स्वरूप

ज जाणइ त णाण ज पिच्छइ त च दसण भणिय ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्त [चा० प्रा० ३]

जो जानता है वह ज्ञान है। जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है उसे दर्शन कहा है। और ज्ञानी तथा सम्यग्दृष्टीके साम्यभावके होनेसे चारित्र होता है।

चारित्रके भेद

एए तिण्णि वि भावा हवति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्ह पि [1]सोहणत्थे जिणभणिय दुविहचारित्त ॥ [चा० प्रा० ४]

जीवके ये तीनों भाव अक्षय और अनन्त होते हैं। इन तीनोंकी शुद्धिके लिये जिन भगवानने दो प्रकारका चारित्र कहा है।

जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढम सम्मत्तचरण चारित्त ।
विदिय सजमचरण [2]जिणणाणसदेसिय त पि ॥ [चा० प्रा० ५]

चारित्रके दो भेदोंमेसे पहला भेद सम्यक्त्व चरण चारित्र है, जो जिन भगवानके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और श्रद्धानसे शुद्ध होता है। दूसरा भेद सयम चरण है। यह भी जिन देवके ज्ञान द्वारा उपदिष्ट है।

सम्यक्त्वचरण चारित्रका स्वरूप

त चेव गुणविसुद्ध जिणसम्मत्त सुमुक्खठाणाए ।
ज चरइ णाणजुत्त पढम सम्मत्तचरणचारित्त ॥ [चा० प्रा० ८]

उसी गुणोंसे विशुद्ध, जिन भगवानके द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शनको जो मोक्षकी प्राप्तिके लिये सम्यग्ज्ञान सहित आचरण करता है वह पहला सम्यक्त्वचरण चारित्र है।

सम्यक्त्वचरण चारित्रका महत्त्व

सम्मत्तचरणसुद्धा सजमचरणस्स जइ वि सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे[3] पावति णिव्वाण ॥ [चा० प्रा० ६]

जो ज्ञानी अमूढदृष्टि सम्यक्त्वचरणसे शुद्ध होते हैं यदि वे संयमचरण चारित्रसे भी अच्छी तरह शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

---

१ —त्थो ऊ० । २ —णस्सदे आ० । ३ —रेण आ० ।

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जइ वि[1] णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥ [चा० प्रा० १०]

सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट अज्ञानी मूढदृष्टि मनुष्य यद्यपि संयमचरणचारित्रको पालते हैं फिर भी वे निर्वाणको प्राप्त नहीं करते ।

सम्यक्त्वचरण चारित्रकी पहचान

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं ।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ [चा० प्रा० ११,१२]

मोह रहित होकर जिन भगवानके द्वारा कहे हुए सम्यक्त्वका आराधन करनेवाला जीव वात्सल्य, विनय, दयाभाव, उत्तम दान देनेमें निपुणता, मार्गके गुणों की प्रशंसा, उपगूहन और रक्षा, इन लक्षणोंसे तथा आर्जव भावोंसे पहचाना जाता है ।

दूसरे संयम चरण चारित्रके भेद

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा[2]रहिये णिरायारं ॥ [चा० प्रा० २१]

संयम चरण चारित्रके दो भेद हैं सागार और णिरागार । परिग्रही श्रावकके सागार संयम चरण होता है और परिग्रहको ग्रहण न करने वाले मुनिके निरागार अथवा अनगार संयम चरण होता है ।

सागार अथवा देश विरतके भेद

दंसण वय सामाइय पोसहसच्चित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ [चा०प्रा०२२]

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतविरत और उद्दिष्ट विरत ये ग्यारह देशविरत श्रावक हैं ।

श्रावकके बारह व्रत

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि[3] ।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥ [चा० प्रा० २३]

---

१ जे वि ग० । २ –हागहिय खलु णि उ० ग० । ३ तहेव तिण्णेव ग० उ० ।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत, ये सागार संयम-चरण है।

पाँच अणुव्रत

थूले तसकायवहे थूले मोने तितिक्ख थूले य।
परिहारो पर[1] महिला [2]परिग्गहारभपरिमाण ॥ [चा० प्रा० २४]

त्रसकायिक जीवोंके घातरूप स्थूल हिंसाका त्याग अहिंसाणुव्रत है, स्थूल झूठका त्याग सत्याणुव्रत है, स्थूल चोरीका त्याग अचौर्याणुव्रत है, पराई स्त्रीका त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है। तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण करना परिग्रह परिमाण नामक पाँचवा अणुव्रत है।

तीन गुणव्रत

दिसिविदिसिमाणपढम अणत्थदडस्स वज्जण विदिय।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ [चा० प्रा० २५]

दिशा और विदिशाका परिमाण करना पहला गुणव्रत है। अनर्थ-दण्ड अर्थात विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका त्याग करना अनर्थदण्ड नामका दूसरा गुणव्रत है। भोग और उपभोगका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरा गुणव्रत है। इस तरह ये तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षाव्रत

सामाइय च पटम विदिय च तहेव पासह भणिय।
तइय च अतिहिपुज्ज चउत्थ सल्लेहणा अते ॥ [चा० प्रा० २६]

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोषध दूसरा शिक्षाव्रत है, अतिथि-पूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और अन्त समयमें सल्लेखना करना चौथा शिक्षाव्रत कहा है।

एव सावयधम्म सजमचरण उदेसिय सयल।
सुद्ध सजमचरण जइधम्म[3] णिक्कल वोच्छे ॥ [चा० प्रा० २७]

इस प्रकार श्रावक धर्मसम्बन्धी सम्पूर्ण सयम चरण चारित्रका कथन किया। अब यतिधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण शुद्ध सयम चरणको कहूँगा।

---

१ परपिम्मो ऊ। २ गाहारभेण प-ग०। ३ –म्मे ग० उ०।

अनगार संयम चरण

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंशकिरियासु ।
पंचसमिदि तियगुत्ति संजमचरणं णिरायारं ॥ [चा० प्रा० २८]

पाँचो इन्द्रियोंका संवर, पाँच व्रत, पाँचव्रतोंकी पच्चीस भावनाएँ पाँच समिति और तीन गुप्ति, ये मुनियोंका संयम चरण चारित्र है।

पञ्चेन्द्रिय संवर

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरं भणिओ ॥ [चा० प्रा० २९]

इष्ट और अनिष्ट सजीवद्रव्य स्त्री वगैरहमें और अचेतनद्रव्य भोजन वस्त्र वगैरहमें जो रागद्वेष नहीं करता—उसे पञ्चेन्द्रिय संवर कहा है।

पाँच व्रत

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ।

हिंसासे विरत होना अहिंसा महाव्रत है। असत्यविरति दूसरा महाव्रत है। अदत्तविरति तीसरा महाव्रत है। अब्रह्मविरति चौथा महाव्रत है। और परिग्रहविरति पाँचवा महाव्रत है।

प्रथम महाव्रतका स्वरूप

कुल-जोणि-जीव-मग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ [नियं० ५६]

जीवोंके कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थानोंको जानकर, उनके आरम्भसे निवृत्ति रूप जो परिणाम होता है, वह अहिंसा नामक पहला महाव्रत है।

दूसरा महाव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया बिदियवयं होइ तस्सेव ॥ [नियं० ५७]

जो साधु सदा रागसे, द्वेषसे, और मोहसे झूठ बोलनेके परिणामको (अभिप्रायको) छोड़ता है उसीके दूसरा असत्यविरति महाव्रत होता है।

---

१. संगत्थि गा० ।

तीसरा व्रत

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ [नियं० ५८]

जो साधु गाँवमें अथवा नगरमें अथवा जंगलमें दूसरेकी पड़ी हुई वस्तुको देखकर उसके ग्रहण करनेके भावको छोड़ देता है उसीके तीसरा अदत्तविरति महाव्रत होता है।

चौथे व्रतका स्वरूप

दट्ठूण इत्थिरूवं वछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरियवदं ॥ [नियं० ५९]

जो स्त्रीके रूपको देखकर भी उनमें चाहरूप परिणामको हटा देता है। अथवा मैथुन संज्ञासे रहित परिणामको चौथा अब्रह्मविरति महाव्रत कहते हैं।

पाँचवा महाव्रत

सव्वेसिं गथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥ [नियं० ६०]

निरपेक्ष भावना पूर्वक समस्त परिग्रहके त्याग को, चारित्रके भारको उठाने वाले साधुओंका पाँचवा परिग्रह त्याग महाव्रत कहा है।

इन्हें महाव्रत कहनेका कारण

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महल्लयाइं तहेयाइं ॥ [चा० प्रा० ३१]

यत इन्हे महापुरुष पालते हैं, और यत पूर्व महापुरुषोंने इनका पालन किया था, और यतः ये स्वयं महान् हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं।

अहिंसाव्रतकी भावना

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥ [चा० प्रा० ३२]

वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और देख भाल कर भोजन करना, ये अहिंसाव्रतकी भावना हैं।

सत्यव्रतकी भावना

कोह-भय-हास-लोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए[1] पचेव तहा होंति ॥ [चा० प्रा० ३३]

क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनकी विपरीत भावना अर्थात् क्रोध न करना, भय न करना, हँसी दिल्लगी न करना, लोभ और मोहको छोडना ये पाँच दूसरे सत्यव्रतकी भावना हैं ।

अदत्त विरति व्रतको भावना

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास ज परोध च ।
एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसु[2]विसवादो ॥ [चा० प्रा० ३४]

पर्वतों की गुफा, वृक्ष की खोल आदि शून्य स्थानोंमे वसना, दूसरोके द्वारा छोडे हुए ऊजड स्थानमे निवास करना, जहाँ आप ठहरे वहाँ यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे नहीं रोकना और जहाँ कोई पहलेसे ठहरा हो तो उसे हटाकर स्वय नहीं ठहरना, शास्त्रोक्त रीतिसे शुद्ध भिक्षा लेना और साधर्मी भाइयोंसे लडाई झगडा नहीं करना, ये पाँच अदत्त-विरतिव्रतकी भावना हैं ।

अब्रह्म विरति व्रतकी भावना

महिलालोयण[3]पुव्वरयसरण-ससत्तवसहि विकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पचावि तुरियम्मि ॥ [चा० प्रा० ३५]

स्त्रियोंकी ओर ताकनेका त्याग, पहले किये हुए काम भोगके स्मरणका त्याग, स्त्रीसे ससक्त निवासस्थानका त्याग, खोटी कथाओंका त्याग और पौष्टिक रसोंका त्याग, ये पाँच भावना चौथे व्रतकी हैं ।

परिग्रह त्याग व्रतकी भावना

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्द-परिस-रस-रुव-गधेसु ।
रायद्दोसाईण परिहारो भावणा होंति ॥ [चा० प्रा० ३६]

इष्ट और अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप, और गधमे राग द्वेष वगैरह न करना अपरिग्रह व्रतकी भावना हैं ।

---

१ एवचेव य ऊ०, ए पचवया ग० ।   २. –सविसवादो ग० ऊ० ।
३ –रइ-ग० ऊ० ।

पाँच समिति

इरिया-भासा-एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥ [चा०प्रा० ३७]

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति, निक्षेपण समिति, संयमकी शुद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानने ये पाँच समितियाँ कही हैं।

ईर्या समिति

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स ॥ [नियं० ६१]

जो श्रमण प्रासुक मार्गसे दिनमें एक युग प्रमाण पृथ्वीको आगे देखते हुए गमन करता है उसके ईर्या समिति होती है।

भाषा समिति

पेसुण्णहासककस-परणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥ [नियं० ६२]

पैशून्य वचन (चुगल खोरके मुखसे निकले हुए वचन), हास्य वचन (किसीके हँसी उडाने वाले वचन), कर्कश वचन (कानमें पडते ही द्वेष उत्पन्न करनेवाले वचन), परकी निन्दारूप और अपनी प्रशंसा रूप वचनोंको छोडकर अपने और दूसरो के हितरूप वचन बोलने वालेके भाषा समिति होती है।

एषणा समिति

कद-कारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥ [नियं० ६३]

कृत, कारित और अनुमोदना दोषसे रहित, प्रासुक और प्रशस्त तथा दूसरेके द्वारा दिये हुए भोजनको समभावसे ग्रहण करना एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति

पोत्थइ-कमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावण-णिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥ [नियं० ६४]

पुस्तक कमण्डल वगैरहके उठाने धरनेमें सावधानता रूप परिणामको आदान निक्षेपण समिति कहा है।

प्रतिष्ठापन समिति

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥ [नियं० ६५]

जो छिपे हुए और वेरोकटोक वाले प्रासुक भूमिस्थानमें मल मूत्र वगैरहका त्याग करता है, उस श्रमणके प्रतिष्ठापन समिति होती है।

मनोगुप्ति

कालुस्समोहसण्णा-रागद्दोसाइ-असुहभावाण ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥ [नियं० ६६]

कलुषता, मोह, चाह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंके त्यागको व्यवहार नयसे मनोगुप्ति कहा है।

वचनगुप्ति

थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वचगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥ [नियं० ६७]

पापके कारणभूत स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा और भोजन कथा आदि रूप वचनोंका त्यागना वचन गुप्ति है। अथवा असत्य आदि दोषोंसे युक्त वचन न बोलना वचन गुप्ति है।

कायगुप्ति

बंधण-छेदण-मारण-आकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥ [नियं० ६८]

बाँधना, छेदना, मारना, संकोचना तथा फैलाना वगैरह शरीरकी क्रियाओं को न करनेको कायगुप्ति कहा है।

निश्चय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥ [नियं० ६९]

मनका जो रागादि भावों से निवृत्त होना है उसे मनोगुप्ति जानो। तथा असत्य आदि वचनों से निवृत्त होना अथवा मौन रहना वचन गुप्ति है।

निश्चय कायगुप्ति

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥ [नियं० ७०]

कायकी क्रियाओंसे निवृत्त होना और कायसे ममत्व छोड़ना काय गुप्ति है अथवा हिंसादिकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है।

बाईस परीषह सहनेका उपदेश

दस दस दोय परीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं [1]पमुत्तूण ॥ [भावप्रा० ९४]

हे मुनि! तू जैन आगमके अनुसार प्रमाद रहित होकर और संयमका घात करनेवाले कामोंको छोड़कर शरीरसे सदा बाईस परीषहोंको सहन कर।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू वि भिज्जइ उवसग्गपरीसहाण [2] उदएण ॥ [भावप्रा०९५]

जैसे पत्थर बहुत कालतक जलमें डूबा रहने पर भी जलसे भेदा नहीं जाता अर्थात् अन्दरसे गीला नहीं होता, वैसे ही साधु उपसर्ग और परीषहोंके उदयसे खेदखिन्न नहीं होता।

भावनाओंको भानेका उपदेश

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीस भावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ [भा०प्रा० ९६]

हे मुनि! तू अनित्य आदि बारह भावनाओंका तथा पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंका चिन्तवन कर, क्योंकि भावरहित बाह्यलिंग नग्नवेषसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

सप्त तत्त्व आदिका चिन्तन करनेका उपदेश

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइ सत्त तच्चाइ।
जीवसमासाइ मुणी चउदस गुणठाणणामाइ ॥ [भावप्रा० ९७]

हे मुनि! महाव्रतोंका धारी होने पर भी तू नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानोंके नामोंका चिन्तन कर।

ब्रह्मचर्य पालनका उपदेश

णवविह वभ पयडहि अव्वभ दसविह पमुत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥ [भावप्रा०९८]

---

१. च मुत्तूण ऊ। २ सहेहि उ-ऊ।

लगाना आदि उत्तर गुणोंका विशुद्ध भावसे पूजा लाभकी इच्छा न करते हुए पालन कर।

बारह प्रकारका तपश्चरण और तेरह प्रकारकी क्रियाओंके पालनका उपदेश

बारसविहतवयरण तेरसकिरियाओ भावि तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरय णाणकुसएण मुणिपवर ॥ [भा० प्रा० ८०]

हे मुनिश्रेष्ठ! बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओंका मन वचन और कायसे पालन कर। तथा मनरूपी मस्त हाथीको ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा वशमें कर।

जिनलिंगकी भावनाका उपदेश

पचविहचेलचाय खिदिसयण दुविहसजम [1]भिक्खू।
भाव भावियपुव्वं जिणलिंग णिम्मल सुद्ध ॥ [भा० प्रा० ८१]

हे भिक्षु! जिसमें रेशम, ऊन, सूत, छाल तथा चमड़ेके बने वस्त्रका त्याग किया जाता है, भूमीपर सोया जाता है, प्राणि सयम और इन्द्रिय संयमके भेदसे दो प्रकारका संयम पाला जाता है, उस पहले भाये हुए निर्मल शुद्ध जिनलिंगका चिन्तन कर।

जिनधर्मकी भावनाका उपदेश

जह रयणाण पवर वज्ज जह तरुगणाण [2]गोसीर।
तह धम्माण पवर जिणधम्म भावि भवमहण ॥ [भा० प्रा० ८२]

जैसे सब रत्नोंमें श्रेष्ठ हीरा है और जैसे सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ चन्दन है, वैसे ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ जैनधर्म है, जो ससारका नाशक है। हे मुनि! तू उसका चिन्तन कर।

धर्मका स्वरूप

पूयादिसु वयसहिय पुण्णं हि [3]जिणेहिं सासणे भणिय।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो [4]धम्मो ॥ [भा० प्रा० ८३]

व्रत सहित पूजा आदि क्रियाओंका करना पुण्य है ऐसा जिनेन्द्र देवने शास्त्रमें कहा है। अर्थात् इन कामोंके करनेसे पुण्यकर्मका बन्ध

---

१. —'भिक्खा ग.। २ गोसीस ग। ३ जिणसासणे ग०। ४ सुद्धो ग०।

होता है। और मोह तथा क्षोभ (चित्तकी चञ्चलता) से रहित आत्माका परिणाम धर्म है।

पुण्य धर्म नहीं है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ [भा० प्रा० ८४]

मुनि ऐसा श्रद्धान करता है, विश्वास करता है, उसे यह रुचता है और बारंबार वह उसे अपनाता है कि पुण्य भोगका कारण है, वह कर्मोंके क्षयका कारण नहीं है।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदु धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ [भा० प्रा० ८५]

जो आत्मा राग आदि समस्त दोषोंसे रहित होता हुआ आत्मामें लीन होता है वही धर्म है, और वही संसार समुद्रसे पार उतारनेमें कारण है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ [भा० प्रा० ८६]

किन्तु यदि आत्मा ऐसा नहीं मानता कि आत्माका आत्मामें लीन होना ही धर्म है, और सम्पूर्ण प्रकारके पुण्य कर्मों का करता है, फिर भी उसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती और उसे संसारी ही कहा गया है।

एएण कारणेण य¹ तं अप्पा सद्दहेहु तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ [भा० प्रा०८७]

इस कारणसे, मन वचन कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो और प्रयत्न करके उसे जानो, जिससे तुम मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावहि जिणभावणा णिच्चं ॥ [भा० प्रा०८८]

तन्दुल नामक मत्स्य भी अशुद्ध भाववाला होनेसे मरकर सातवें नरकमें गया। ऐसा जानकर सर्वदा जिन भावनाके द्वारा अपनी आत्माका ही चिन्तन कर।

भावके बिना सब निरर्थक है—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइआवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥ [भा० प्रा० ८९]

---

¹ —य अतप्पा ग।

शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित मुनियोंका वाह्य परिग्रहका त्याग, पहाड नदी गुफा खोह आदिमे वसना और समस्त ज्ञान अध्ययन निरर्थक हे।

श्रुतज्ञानकी भावनाका उपदेश

तित्थयरभासियत्थ गणहरदेवेहिं गथिंय सम्म।
भावहि अणुदिणु अतुल विसुद्धभावेण सुयणाण॥ [भा० प्रा० ९२]

हे मुनि! विशुद्ध भावसे तू उस अनुपम श्रुतज्ञानका रात दिन चिन्तवन कर, जिसे गणधर देवने भले प्रकारसे शास्त्र रूपमे निवद्ध किया है और जिसमे वर्णित वस्तुतत्त्वका कथन तीर्थङ्कर देवने किया है।

एव सखेवेण य भणिय णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसजमासयदुण्ह पि उदेसिय चरण॥ [भा० प्रा० ४४]

इस प्रकार वीतराग विज्ञानके द्वारा कहे हुए सम्यक्त्व और संयम-के आश्रय रूप सम्यक्त्वचरणचारित्र और सयमचरणचारित्रको सत्तेपसे कहा।

२ निश्चय चारित्र

निश्चय प्रतिक्रमण

णाह णारयभावो तिरियच्छो मणुव देवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण॥ [नियं० ७८]
णाह मग्गणठाणो णाह गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण॥ [नि० ७८]
णाह बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारण तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण॥ [नि० ७९]
णाह रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारण तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण॥ [नि० ८०]
णाह कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो ह।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण॥ [नियं० ८१]

न मैं नारक भाववाला हूँ, न मैं तिर्यञ्च मनुष्य या देव पर्यायरूप हूँ, न मैं उनका कर्ता हूँ, न कारयिता–कराने वाला हूँ और न मैं उनकी अनुमोदना करने वाला हू। न मैं मार्गणास्थानरूप हू, न गुणस्थान-रूप हूँ, और न जीवस्थानरूप हूँ, न मैं उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ

और न अनुमोदक हूँ। न मैं वालक हूँ, न वूढा हूँ, न जवान हूँ और न उन अवस्थाओंका कारण हूँ। न मैं उनका कर्ता हूँ न कारयिता हूँ और न अनुमोदक हूँ। न मैं रागरूप हूँ, न द्वेषरूप हूँ, न मोहरूप हूँ, और न उनका कारण हूँ। न मैं उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ, और न अनुमोदक हूँ। न मैं क्रोध रूप हूँ, न मान रूप हूँ, न माया रूप हूँ और न मैं लोभ रूप हूँ। न मैं उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमोदक हूँ।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्त।
त दिढकरणनिमित्त पडिकमणादी पवक्खामि ॥ [नि० ८२]

इस प्रकारके भेद ज्ञानका अभ्यास करनेपर आत्मा मध्यस्थ हो जाता है और उससे चारित्रकी प्राप्ति होती है। उस चरित्रको दृढ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदिको कहूगा।

मोत्तूण वयणरयण रागादिभाववारण किच्चा।
अप्पाण जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमण ॥ [नि० ८३]

वचनकी रचनाको छोडकर अर्थात् वचनात्मक प्रतिक्रमणको न करके तथा रागादि भावोको दूर करके जो आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहण विसेसेण।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८४]

जो मुनि विशेष रूपसे सव प्रकारकी विराधनाको छोड़कर आत्म-स्वरूपकी आराधनामे लगता है उसे प्रतिक्रमण कहा है क्यों कि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण अणायार आयारे जो दु कुणदि थिरभाव।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८५]

जो मुनि अनाचारको छोडकर आचारमे स्थिर भावको करता है अर्थात् आत्म चारित्रमें दृढ़ होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

उम्मग्ग परिच्चत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८६]

जो उन्मार्गको छोडकर जिनमार्गमें स्थिर भावको करता हे अर्थात् जैन मार्गमें दृढ होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण सल्लभाव णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८७]

माया, मिथ्यात्व और निदानरूपी शल्य भावको छोडकर जो साधु निःशल्य भावमें परिणमन करता है अर्थात् शल्य रहित होकर वर्तन करता है उसे प्रतिक्रमण कहा है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

चत्ता [1]अगुत्तिभाव तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८८]

जो साधू अगुप्ति भावको छोडकर तीन गुप्तियोंसे गुप्त अर्थात् रक्षित होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है, क्यों कि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण अट्टरुद्द झाण जो झादि धम्मसुक्क वा।
सो पडिकमण उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥ [नि० ८६]

जो साधु आर्त और रौद्रध्यानको छोडकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसे जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये सूत्रोंमें प्रतिक्रमण कहा है।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्व जीवेण भाविया सुइर।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥ [नि० ६०]

पहले जीवने अनादि कालसे मिथ्यात्व आदि भावोंको भाया है तथा सम्यक्त्व आदि भावोंको कभी भी नहीं भाया।

मिच्छादसणणाणचरित्त चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरण जो भावइ सो पडिक्कमण ॥ [नि० ६१]

जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रको पूर्ण रूपसे त्यागकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको पालता है वह प्रतिक्रमण है।

उत्तमअट्ठ आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्म।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमण ॥ [नि० ६२]

आत्मा ही उत्तमार्थ है उसीमें रहकर मुनिवर कर्मों का नाश करते हैं। इस लिये उत्तमार्थ आत्माका ध्यान ही प्रतिक्रमण है।

---

१ 'अगुत्ति' इति पाठान्तरम्।

जो कषायसे रहित है, इन्द्रियोंका दमन करने वाला है, उद्यमी है और ससारसे भयभीत है, उसका प्रत्याख्यान सुखमय होता है।

एव भेदब्भास जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्च।
पच्चक्खाण सक्कदि धरिदु सो सजदो णियमा॥ [नि० १०६]

इस प्रकार जो सदा जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है अर्थात् जीव भिन्न है और कर्म भिन्न है इस प्रकार अनुभव करनेका सदा प्रयत्न करता रहता है, वही संयमी नियमसे प्रत्याख्यानको धारण कर सकता है।

निश्चय आलोचना

णोकम्म कम्मरहिय विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्त।
अप्पाण जो झायदि समणस्सालोयण होदि॥ [नि० १०७]

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभाव गुण और विभाव पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है उसी श्रमणके आलोचना होती है।

आलोयणमालु छण वियडीकरण च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहिय आलोयणलक्खण समए॥ नि० १०८]

आलोचन, आलुञ्छन, अविकृति करण और भावशुद्धिके भेदसे आगममे आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा है।

आलोचनाका लक्षण

जो पस्सदि अप्पाण समभावे सठवित्तु परिणाम।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणदस्स उवएस॥ [नि० १०९]

जो समता भावमें अपने परिणामको स्थापित करके आत्माको देखता है उसे आलोचन जानो। ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश है।

आलुञ्छनका लक्षण

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलु छणमिदि समुद्दिट्ठ॥ नि० ११०]

कर्म रूपी वृक्षकी जडको काटनेमे समर्थ जो अपना स्वाधीन और समता भावरूप परिणाम है उसीको आलुञ्छन कहा है।

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ॥ [नि० ११७]

अधिक कहनेसे क्या? महर्षियोंके सब उत्कृष्ट तपश्चरणको प्रायश्चित्त जानो। वह प्रायश्चित्त अनेक कर्मोंके क्षयका कारण है।

णंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा॥ [नि० ११८]

अनन्तानन्त भवोंके द्वारा इस जीवने जो शुभ और अशुभ कर्मोंका समूह संचित किया है, वह तपश्चरणके द्वारा नष्ट हो जाता है। अतः तप प्रायश्चित्त है।

अप्पसरूवालंवणभावेण दु सव्वभावपरिहारं[1]।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं॥ [नि० ११९]

आत्म स्वरूपके आलम्बन रूप भावके द्वारा यह जीव सब परभावोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है। अतः ध्यान ही सब कुछ है।

सुह-असुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा॥ [नि० १२०]

जो शुभ और अशुभ वचन रचनाको तथा रागादि भावोंको दूर करके आत्माका ध्यान करता है उसके नियमसे 'नियम' होता है।

कायोत्सर्गका स्वरूप

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरित्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण॥ [नि० १२१]

काय आदि पर द्रव्योंमें स्थिर भावको दूर करके अर्थात् काय अनित्य है ऐसा मानकर जो निर्विकल्प रूपसे आत्माका ध्यान करता है उसीके कायोत्सर्ग होता है।

परमसमाधि

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स॥ [नि० १२२]

वचनोंका उच्चारण करनेकी क्रियाको छोडकर जो वीतराग भावसे आत्माका ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है।

---

[1] — 'परिहार' इत्यादि पाठ।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ [नि० १२३]

संयम नियम और तपके द्वारा तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानके, द्वारा जो आत्माका ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है।

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहिदस्स समणस्स ॥ [नि० १२४]

जो श्रमण समता भावसे शून्य है उसका वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन, मौन वगैरह क्या कर सकते हैं ? अर्थात् सब निरर्थक हैं।

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२५]

जो सर्व सावद्य कार्योंसे विरक्त होता हुआ तीन गुप्तियोंको पालता है और इन्द्रियोंका निरोध करता है, उसके सामायिक संयम स्थायी होता है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२६]

जो त्रस, स्थावर सभी प्राणियोंमें समता भाव रखता है उसीके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२७]

संयम, नियम और तप का आचरण करते समय जिसका आत्मा उसके निकट रहता है उसीके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेदि दु ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२८]

राग और द्वेष जिसमें विकार पैदा नहीं करते उसीमें सामायिक स्थायी रहती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२९]

जो सदा आर्त और रौद्र ध्यानसे दूर रहता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३०]

जो सदा पुण्य भाव और पाप भावसे दूर रहता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३१]

जो सदा हास्य रति, शोक और अरतिको छोडता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दुगुछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३२]

जो सदा जुगुप्सा, भय, वेद, इन सबको छोडता है उसीके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३३]

जो सदा धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

परमभक्ति

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ [नि० १३४]

जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें भक्ति करता है उसके मोक्षकी कारणभूत भक्ति अथवा निर्वाण-भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

मोक्खगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥ [नि० १३५]

जिन पुरुषोंने मोक्ष प्राप्त किया है, उनके गुणोंके भेदको जानकर जो उनमें परम भक्ति करता है, व्यवहार नयसे उसे भी निर्वाण भक्ति कहा है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥ [नि० १३६]

जो जीव मोक्षके मार्गमें अपनेको स्थापित करके निर्वाण भक्ति करता है, उससे वह जीव पर निरपेक्ष आत्मिक गुणोंसे युक्त अपनी आत्माको प्राप्त करता है ।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ॥ [नि० १३७]

जो साधु रागादिको दूर करनेमें अपनेको लगाता है वह योग भक्तिसे युक्त होता है । जो ऐसा नहीं करता उसके योग कैसे हो सकता है ?

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ॥ [नि० १३८]

जो साधु सब विकल्पोंके अभावमें अपनेको लगाता है वह योगभक्तिसे युक्त है । जो ऐसा नहीं करता उसके योग कैसे हो सकता है ।

योगका स्वरूप

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥ [नि० १३९]

विपरीत (मिथ्या) अभिप्राय को छोडकर जो जैन शासनमें कहे हुए तत्त्वोंमें अपनेको लगाता है उसका वह निज भाव ही योग है ।

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥ [नि० १४०]

भगवान ऋषभदेव आदि चौवीस तीर्थङ्करोंने इस प्रकार योगकी उत्तम भक्तिको करके मोक्षके सुखको प्राप्त किया। इसलिये योगकी उत्तम भक्तिको धारण करो ।

निश्चय आवश्यक

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥ [नि० १४१]

जो दूसरेके वशमें नहीं होता उसके कर्मको आवश्यक कहा है । यह आवश्यक कर्म कर्मोंको नाश करनेमें समर्थ है । इसीसे उसे मोक्षका मार्ग कहा है ।

आवश्यक नियुक्तिका अर्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सय ति बोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअ ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥ [नि० १४२]

जो किसीके वशमे नहीं है उसे अवश कहते है । और अवशके कर्मको आवश्यक कहते हैं ऐसा जानना चाहिये । तथा निरवयव अर्थात् शरीर रहित होनेके युक्ति अर्थात् उपायको नियुक्ति कहते हैं । अत जो पर द्रव्योंके वशमे नहीं है वह शरीर रहित हो जाता है यह आवश्यक नियुक्ति की व्युत्पत्ति है ।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्म आवस्सयलक्खण ण हवे ॥ [नि० १४३]

जो श्रमण अन्यके वशमे होता है वह अशुभ भाव रूपसे प्रवृत्ति करता है। इसलिये उसका कर्म आवश्यक लक्षण वाला नहीं होता । अर्थात कर्मोंके वशीभूत श्रमणका कर्म आवश्यक कर्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमे आवश्यकका लक्षण नहीं पाया जाता है ।

जो चरदि सजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्म आवस्सयलक्खण ण हवे ॥ [नि० १४४]

जो संयमी शुभ भावमें प्रवृत्ति करता है वह अन्यके वशमे होता है। इसलिये उसका कर्म आवश्यक लक्षण वाला नहीं होता ।

दव्वगुणपजयाण चित्त जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहाधयारववगयसमणा कहयति एरिसय ॥ [नि० १४५]

जो मुनि द्रव्योंके गुणों और पर्यायोका चिन्तन करता है वह भी अन्यके वशमें है, ऐसा मोहरूपी अन्धकारसे रहित श्रमण कहते हैं ।

परिचत्ता परभाव अप्पाण झादि णिम्मलसहाव ।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्म भणति आवास ॥ [नि० १४६]

जो साधु पर भावको त्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश अर्थात् स्वाधीन है, और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं ।

आवास जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणहि थिरभाव ।
तेण दु सामण्णगुण सपुण्णं होदि जीवस्स ॥ [नि० १४७]

हे मुनि ! यदि तू आवश्यक कर्मकी इच्छा करता है तो तू आत्म-स्वभावमें स्थिर भावको कर, अर्थात् आत्म स्वभावमे स्थिर रह। उसीसे अर्थात् आत्म स्वभावमें स्थिर रहनेसे जीवका श्रामण्य गुण (मुनिपद सम्बन्धी गुण अर्थात् सामायिक) सम्पूर्ण होता है।

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥ [नि० १४८]

जो श्रमण आवश्यक कर्म नहीं करता वह चारित्रसे भ्रष्ट होता है। अतः पहले कहे हुए क्रमके अनुसार आवश्यक करना चाहिये।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥ [नि० १४९]

जो श्रमण आवश्यक कर्मोंसे युक्त है वह अन्तरात्मा होता है और जो श्रमण आवश्यक कर्मोंको नहीं करता वह बहिरात्मा अर्थात् मिथ्या-दृष्टि होता है।

अंतर बाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥ [नि० १५०]

जो श्रमण अन्तरंग और बाह्य जल्प अर्थात् वचन विलासमे लगा रहता है वह बहिरात्मा है। और जो वचन विलासमें प्रवृत्ति नहीं करता उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

जो धम्म-सुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥ [नि० १५१]

जो साधु धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानमे लीन रहता है वह भी अन्तरात्मा है। तथा जो श्रमण ध्यान नहीं करता वह बहिरात्मा है ऐसा जानो।

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥ [नि० १५२]

निश्चय प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको करने वाले श्रमणके निश्चय चारित्र होता है। इसलिये वह श्रमण वीतराग चारित्रमे स्थित होता है।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाणणियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाओ ॥ [नि० १५३]

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान और नियम वचनमय आलोचना, ये सब स्वाध्याय जानो। अर्थात् प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना आलोचना पाठ पढ़ना आदि स्वाध्यायमें सम्मिलित है वह प्रतिक्रमण या आलोचना आदि नहीं है।

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं॥ [नि० १५४]

यदि तुममें करनेकी शक्ति हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो। यदि तेरमें शक्ति नहीं है तो श्रद्धान ही करना चाहिये।

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादि य परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं॥ [१५५]

जिन भगवानके द्वारा कहे गये परम सूत्रमें प्रतिक्रमणादिकी स्पष्ट रूपसे परीक्षा करके योगीको मौनव्रतपूर्वक अपना कार्य नित्य साधना चाहिये।

णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥ [नि० १५६]

नाना प्रकारके जीव हैं, नाना प्रकारके कर्म हैं, जीवोंकी नानाप्रकारकी लब्धियां हैं। इसलिये अपने साधर्मियोंसे तथा विधर्मियोंसे वादविवाद नहीं करना चाहिये।

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं॥ [नि० १५७]

जैसे एक मनुष्य निधिको पाकर उसका फल अपने जन्म स्थानमें स्वजनोंमें भोगता है। वैसे ही ज्ञानी ज्ञाननिधिको पाकर परद्रव्योंको छोड़कर उसको भोगता है।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा॥ [नि० १५८]

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार आवश्यकोंको करके और अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंको प्राप्त होकर केवली हुए।

—:०—

६. बोधप्राभृत अधिकार

बहुसत्थ-अत्थजाणे संजम-सम्मत्त-सुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिए सुद्धे ॥१॥

सय'ल-जण-बोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
'वुच्छामि समासेण य छक्कायहियंकरं सुण'ह ॥२॥

बहुतसे शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले, संयम और सम्यक्त्वसे शुद्ध तपश्चरण करने वाले, और कषायरूपी मलसे रहित पवित्र आचार्योंको नमस्कार करके, सब जीवोंको ज्ञान करानेके लिये जैनमार्गमें जिनेन्द्रदेवने जैसा कहा है, छै कायके जीवोंके लिये सुखकारी उस कथनको सक्षेपसे कहता हूँ । हे भव्यजीवों सुनो ।

जाननेयोग ग्यारह वस्तु

आयदणं चेयहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमा'दिभूदत्थं ॥३॥

अ'रहंतसुदिट्ठं जं देवं तित्थं च तहय अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥

आयतन, चैत्यगृह, जिन प्रतिमा, दर्शन, वीतराग, जिन बिम्ब, जिन मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त तथा गुणोंसे पवित्र प्रव्रज्या, अर्हन्त देवके द्वारा सम्यक् रीतिसे देखे गये और इन मूलभूत पदार्थोंको क्रमानुसार जानना चाहिये ।

आयतनका स्वरूप

मण-वयण-कायदव्वा आ'इत्ता जस्स इंदिया विसया ।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥

मन वचन और काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियोंके विषय जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमीके रूपको जिन मार्गमें आयतन कहा है ।

---

१ सव्वजण- ऊ। २ वच्छामि आ०, वोच्छामि ग०। ३ सुणसु ग० ऊ०। -४. मादत्थ- आ०। ५ अरहंतेणसुदिट्ठं -आ०। ६. आसत्ता आ० ग०।

जो शुद्ध चारित्रका आचरण करता है, शुद्ध सम्यक्त्वमय आत्माको जानता और देखता है उस निर्ग्रन्थ मुनिका स्वरूप जिन प्रतिमा है, वह वन्दनीय है।

सिद्धप्रतिमाका स्वरूप

दसण अणत'णाण अणतवीरिय अणतसुक्खा य।
सासयसुक्ख'यदेहा मुक्का कम्मट्ठबधेहिं ॥१२॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मविया जगमेण रूवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा' सिद्धा ॥१३॥

अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य और अनन्त सुखसे युक्त, शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाले सुखमय देहवाली, आठ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त, उपमा रहित, अचल, क्षोभ रहित, जंगम रूपसे बनाई गई, सिद्धालयमें विराजमान कायोत्सर्गरूप प्रतिमा निश्चयसे सिद्ध परमेष्ठीकी होती है।

दर्शनका स्वरूप

दसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्त सजमं सुधम्म च।
णिग्गत्थ णाणमय जिणमग्गे दसण भणिय ॥१४॥

जो सम्यक्त्व रूप, संयम रूप, सुधर्म रूप, निर्ग्रन्थ रूप और ज्ञानमय मोक्षमार्गको दर्शाता है, उसे जैन मार्गमें दर्शन कहा है।

जह फुल्ल गधमय भवदि हु खीरं सुघियमय चावि।
तह 'दसण हि सम्म णाणमय होइ रूवत्थ ॥१५॥

जैसे फूल गन्धमय होता है और दूध सुघृतमय होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन भी ज्ञानमय और स्वरूपमें स्थितिरूप होता है।

जिन बिम्बका स्वरूप

जिणबिम्ब णाणमय सजमसुद्ध सुवीयराय च।
ज देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

ज्ञानमय संयमसे शुद्ध और वीतराग जिनबिम्ब होता है, जो कर्मोंका क्षय करनेवाली शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है।

तस्स य करहु पणाम सव्व पुज्ज च विणयवच्छल्ल।
जस्स य दसणणाण अत्थि धुव चेयणाभावो ॥१७॥

---

१ णाणी— आ० ऊ०। २ सुक्खदेहा ऊ०। ३. धुवो ग०, धुवे ऊ०। ४ दसणम्मि आ०, ग०, ऊ०।

जिसके निश्चयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चैतन्यभाव है उसको प्रणाम करो और सब तरहसे विनय और वात्सल्य भाव पूर्वक उसकी पूजा करो।

तववयगुणेहि सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

जो तप व्रत और गुणोंसे पवित्र है शुद्ध सम्यक्त्वको जानता और अनुभव करता है वही अरहन्त भगवानकी मुद्रा है। और वह दीक्षा तथा शिक्षा देनेवाली है।

जिनमुद्राका स्वरूप

दिढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदिढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

शरीरको दृढ़ संयमसे अलंकृत करना संयम मुद्रा है इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रिय मुद्रा है, दृढ़ता पूर्वक कषायोंको त्यागना कषाय मुद्रा है, आत्माको ज्ञानसे अलंकृत करना ज्ञान मुद्रा है। इन मुद्राओंसे युक्त जिनमुद्रा कही है।

ज्ञानका स्वरूप

संजमसंजुत्तस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

संयमसे संयुक्त और उत्तम ध्यानके योग्य मोक्ष मार्गके लक्ष्यको यह जीव ज्ञानके द्वारा प्राप्त करता है। अत. ज्ञानको जानना चाहिये।

जह णवि लहदि हु लक्ख रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

जैसे निशाना साधनेके अभ्याससे रहित मनुष्य बाणके लक्ष्यको नहीं पाता वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मोक्षमार्गके लक्ष्यको नहीं पाता।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

ज्ञान पुरुषके होता है और विनय सहित सत्पुरुष ही ज्ञानको प्राप्त करता है। तथा ज्ञाता पुरुष ज्ञानसे मोक्ष मार्गके लक्ष्यको प्राप्त करता है।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

जिनके पास मतिज्ञानरूप मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, रत्नत्रय रूपी अच्छे बाण हैं और जिसने परमार्थको निशाना बनाया है, वह मोक्षमार्गमें नहीं चूकता ।

देवका स्वरूप

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं [1]सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

जो जीवोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षका कारण ज्ञान देता है वही देव है, क्योंकि जिस पुरुषके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है । अतः जो अर्थ, धर्म और प्रव्रज्याको देता है वही देव है ।

धर्म प्रव्रज्या और देवका स्वरूप

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

जो दयासे पवित्र है वह धर्म है, जिसमें समस्त परिग्रहोंका त्याग किया जाता है वह प्रव्रज्या है और जो मोह रहित तथा भव्यजीवोंके अभ्युदयका कारण है वह देव है ।

१ काम च देइ ग० ।

तीर्थका स्वरूप

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

व्रत और सम्यक्त्वसे विशुद्ध, पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले और इस लोक तथा परलोकके भोगोंकी इच्छासे रहित मुनिरूपी तीर्थमें दीक्षा और शिक्षा रूपी स्नानके द्वारा स्नान करो। अर्थात् मुनिरूपी तीर्थके पास जाकर उनसे शिक्षा लो और धर्मकी दीक्षा लो ।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण ॥२७॥

यदि शान्त भाव पूर्वक निर्मल उत्तम धर्म, निर्मल सम्यक्त्व, निर्मल संयम, निर्मल तप और निर्मल ज्ञान हो तो उसे जिन मार्गमें तीर्थ कहा है ।

अर्हन्तका स्वरूप

[1]णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे य सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमे (?) भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥

---

१. णामेणिय ठवणे हि य दव्वे आ० ।

नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप, इन चारके द्वारा अरहन्तका स्वरूप जाना जाता है। किसी व्यक्तिका नाम अरहन्त रखा गया हो तो वह नाम अरहन्त है। अर्हन्तकी प्रतिमा स्थापना अरहन्त है। जो जीव अरहन्त होने वाला है वह द्रव्य अरहन्त है। तथा अरहन्तके गुणों और पर्यायसे विशिष्ट केवली जिन भाव अरहन्त हैं। च्यवन अर्थात स्वर्गसे च्युत होना, आगति अर्थात् गर्भमें आना, सपत् (रत्नवृष्टि आदि वाह्यलक्ष्मी तथा अन्तरग लक्ष्मी) भाव अरहन्त अवस्थाके सूचक हैं।

दसण अणतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मवधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥

जिसके अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान है, स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धकी अपेक्षा आठो कर्मोका बन्ध नष्ट हो जानेसे जिसे भावमोक्ष प्राप्त हो गया है और जो अनुपम गुणोंको धारण किये हुए है, ऐसे आत्माको अर्हन्त कहते हैं।

जर-वाहि-जम्म-मरणं चउगइगमणं च पुण्णपाव च।
हतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जो बुढापा, रोग, जन्म, मरण, चारों गतियोंमे भ्रमण, पुण्य, पाप, रागादि दोष और ज्ञानावरण आदि कर्मोको नष्ट करके ज्ञानमय हो गया है वह अरहन्त है।

गुणठाण-मग्गणेहि य पज्जत्ती-पाण-जीवठाणेहिं।
ठावणपचविहेहि पणयव्वा अरुहपुरिसस्स ॥३१॥

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान, इन पाँच प्रकारोंमे अर्हन्त पुरुषकी स्थापना करनी चाहिये।

अरहन्तका गुणस्थान

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा हुं ति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥३२॥

तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें अरहन्त होता है। उसके चौतीस अतिशय रूप गुण होते हैं तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं।

मार्गणा

गइ इंदिय च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सञ्ज्ञी और आहार, इन चौदह मार्गणाओंमें अरहन्तकी स्थापना कर लेनी चाहिये ।

पर्याप्ति

आहारो य सरीरो[1] तह इंदिय आणपाणभासमणो ।
पज्जत्ति गुण[2]समिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरुहो ॥३४॥

उत्तम देव अरहन्त आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन छै पर्याप्तिरूप गुणोंसे सम्पन्न होता है। अर्थात् अरहन्तकी छै पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं ।

प्राण

पंच वि इंदियपाणा मण-वचि-काएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय प्राण, मन वचन काय तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण, ये दस प्राण होते हैं ।

जीवस्थान

मणुय भवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरुहो ॥३६॥

मनुष्यगतिमें पञ्चेन्द्रिय नामका चौदहवाँ जीव समास है। उसमें उक्त गुणोंके समूहसे युक्त और तेरहवें गुण स्थानमें वर्तमान अर्हन्त होता है ।

अर्हन्तका शरीर

जर-वाहि-दुक्ख-रहियं आहार-णिहार वज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥३७॥
दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीर-संखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥

---

१ -रो इंदियमण आणपाण भासा य, ग० । २. -णविसुद्धो ग० ऊ० ।

स्थानोंके साथ साथ जिन भवनको, जिनेन्द्रदेव जैन मार्गमें पवित्र मानते हैं।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसजया णिरावेक्खा।
सज्झाय-झाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥४४॥

पाँच महाव्रतोंके धारक, पाँचों इन्द्रियोंको जीतनेवाले, भोगोंक इच्छासे रहित, और स्वाध्याय तथा ध्यानमें लगे रहने वाले श्रेष्ठ मुनिवर उक्त स्थानोंको ही पसन्द करते हैं।

प्रव्रज्याका स्वरूप

गिह-गथ-मोह-मुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

जो घर और परिग्रहके मोहसे मुक्त है, अर्थात् जिसमें न घरमें रहा जाता है और न रंचमात्र भी परिग्रह रखी जाती है, जिसमें बाईस परीषहोंको सहा जाता है, कषायोंको जीता जाता है और जो पापपूर्ण आरम्भसे रहित है, जिन भगवानने ऐसी प्रव्रज्या–दीक्षा कही है।

धण-धण्ण-वत्थदाण हिरण्ण-सयणासणाइ [1]छत्ताइ।
कुदाण-विरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

जो धन, धान्य और वस्त्रदान, तथा चाँदी, शय्या, आसन और छत्रदान आदि कुदानोंसे रहित है अर्थात् जिसमें इस प्रकारकी वस्तुओंका दान नहीं लिया जाता है और जो विरह-वियोगसे रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

सत्तू-मित्ते[2] य समा पसस-णिंदा-अलद्धि-लद्धिसमा।
तिणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

जिसमें शत्रु और मित्रके विषयमें समान भाव रहता है, प्रशंसा और निन्दामें तथा लाभ और अलाभमें समान भाव रहता है, तृण और कंचनमें समान भाव रहता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

---

१ चत्ताय आ०, छिताइ, 'ग०,। २ मित्ते व स- ऊ०।

उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खो ।
सव्व'त्थ गिहदि पिंड पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

जिसमे मुनि उत्तम और मध्यम घरमे तथा दरिद्र और धनवानमे भेद न करके निरपेक्ष भावसे सर्वत्र आहार ग्रहण करता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा² अराय-णिद्दोसा ।
णिम्मम-णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४९॥

जो परिग्रह रहित है, आसक्ति रहित है, मान रहित है, आशा रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममत्व रहित है और अहंकार रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार-णिक्कलुसा ।
णि³ब्भय-णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

जो स्नेह रहित है, लोभ रहित है, मोह रहित है, विकार रहित है, कालिमा रहित है, भय रहित है, आशा भावसे रहित है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।
परकिय-णिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

जिसमे जन्मे हुए शिशुके समान नग्न रूप रहता है, दोनो भुजाओंको लटका कर ध्यान किया जाता है, अस्त्र शस्त्र नहीं रखा जाता है, और दूसरेके द्वारा छोडे गये आवासमें रहना होता है, ऐसी शान्त जिनदीक्षा कही गई है ।

उवसम-खम-दमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मय-राय-दोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

जो उपशम (शान्त भाव), क्षमा और इन्द्रिय निग्रहसे सहित है, जिसमे शरीरका संस्कार नहीं किया जाता, तेल मर्दन नहीं किया जाता, और जो मद राग तथा द्वेषसे रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

---

1 [illegible] 'णि-' पा० । 2 [illegible] पा० । 3 [illegible] पा० ।

विवरीयमूढभावा पणट्ठ-कम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

जो मूढतासे रहित है, जिसके द्वारा आठों कर्म नष्ट कर दिये जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्वका नाश हो जाता है और जो सम्यग्दर्शन गुणसे निर्मल होती है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसघयणेसु भणिय णिग्गथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

जैन मार्गमें छहों संहनन वाले जीवोंके जिन दीक्षा कही गई है अर्थात् छहों सहननोंमेंसे किसी भी संहनन वाला जीव जिन दीक्षा धारण कर सकता है। निर्ग्रन्थ भव्य पुरुष इस जिनदीक्षाकी भावना करते हैं क्योंकि इसे कर्मोंके क्षयका कारण कहा है।

तिलओसत्तणिमित्त समबाहिरगथसगहो णत्थि ।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥५५॥

जिसमें तिल बराबर भी आसक्तिके कारणभूत बाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है, ऐसी जिनदीक्षा होती है, जैसा कि सर्वज्ञ देवने कहा है।

उवसग्ग-परीसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अच्छेइ ।
सिलकट्ठे भूंमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

जिसमें उपसर्ग और परीषहोंको सहा जाता है, उसको धारण करने वाला मुनि सदा निर्जन प्रदेशमें रहता है और सर्वत्र शिला, काष्ठ या भूमितलपर सोता उठता और बैठता है।

पसु-महिल-सढसग कुसीलसग ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झाय-झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

जिसमें पशु स्त्री, नपुसककी संगति और व्यभिचारियोंकी सगति नहीं की जाती, और न स्त्री आदिकी खोटी कथाएँ की जाती हैं, तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें तन्मय होना होता है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।

---

१ -लतुसमत्त- ग० । २ भूमितिणे, ग०, ऊ० ।

[1]तव-वय-गुणेहि सुद्धा संजम-सम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहि सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

जो तप, व्रत और गुणोंसे शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व गुणसे अत्यन्त निर्मल है, तथा दीक्षाके गुणोंसे शुद्ध है, ऐसी शुद्ध जिनदीक्षा कही गई है।

एवं [2]आयत्तणगुणपव्वज्जता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेण जहाखादं ॥५९॥

इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनसे सहित निर्ग्रन्थ जैनमार्गमें जैसा कहा है उसी प्रकारसे आयतनसे लेकर प्रव्रज्या पर्यन्त गुणोंका यहाँ संक्षेपसे कथन किया।

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥

जिनवर भगवानने जैन मार्गमें आत्माकी शुद्धिके लिये निर्ग्रन्थ रूपका जैसा कथन किया है, भव्य जीवोंको समझानेके लिये छै कायके जीवोंका हित करने वाले उस निर्ग्रन्थ रूपका यहाँ वैसा ही कथन किया गया है।

[3]सद्दवियारो हूओ भासा[4]सुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णा[5]यं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्दके विकारसे प्रकट हुआ जो ज्ञान जिनेन्द्र देवने भाषात्मक सूत्रोंमें कहा है, भद्रबाहुके शिष्य मुझ कुन्दकुन्दने वह ज्ञान वैसा ही यहाँ कहा है।

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

बारह अंगोंके ज्ञाता और चौदह पूर्वोंका विपुल विस्तार करने वाले गमक गुरु श्रुतज्ञानी भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।

---

१ यह गाथा श्रा० प्रतिमें नहीं है। २ आयत्तगुणपज्जत्ता ग० उ०। ३ सद्दवियारु हुउ (शब्दविकारोद्भूत) ग०। ४ -सुत्तेसु ग०। ५. णाणं, उ०।

७. श्रामण्य-अधिकार

एव पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ [प्रव० ३, १]

इस प्रकार जिनवरोंमें श्रेष्ठ अरहन्तोंको, सिद्धोंको और श्रमणोंको वारवार नमस्कार करके, यदि कोई दुःखसे छूटना चाहते हैं तो श्रामण्य (मुनिधर्म) को स्वीकार करें।

श्रामण्य स्वीकार करनेसे पूर्व क्या करना चाहिये

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहिं।
आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त-तव-वीरियायारं ॥
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो॥ [प्रव०३, २-३]

बन्धुवर्गसे पूछकर और गुरुजन स्त्री पुत्र वगैरहसे छुटकारा पाकर, ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचारसे युक्त ऐसे श्रमण आचार्यके पास जावे जो गुणवान् हों, कुल रूप और योग्य अवस्थासे विशिष्ट हों तथा अन्य श्रमणोंको अतिप्रिय हों। जाकर उन्हें नमस्कार करे और कहे भगवन्! मुझे श्रामण्य पद प्रदान करें। तब आचार्यसे अनुगृहीत हुआ वह।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ [प्रव० ३, ४]

'मैं दूसरोंका नहीं हूँ और न दूसरे द्रव्य मेरे हैं, इस लोकमें मेरा कुछ भी नहीं है', ऐसा निश्चय करके वह जितेन्द्रिय—इन्द्रियोंको जीतनेवाला, जिस रूपमें उसने जन्मलिया था उसी नग्न रूपका धारी हो जाता है।

श्रमणका द्रव्यलिंग और भावलिंग

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥

देता है वह गुरु होता है। और छेद होने पर जो श्रमण छिन्न सयमको पुन धारण कराते हैं वे सब निर्यापकाचार्य कहे जाते हैं।

छिन्न सयमको पुन जोड़नेकी विधि

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥
छेदपउत्तो समणो समण ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥ [प्रव० ३, ११-१२]

[संयमका छेद दो प्रकारसे होता है – एक बहिरग रूपसे, दूसरा अन्तरंग रूपसे] यदि श्रमण अन्तरगसे संयममे सावधान है और सावधानता पूर्वक आरम्भ की गई किसी शारीरिक चेष्टामे उसका संयम भंग हो जाता है तो आलोचना पूर्वक शास्त्रोक्त क्रियाके द्वारा ही उसका प्रतिकार हो जाता है क्यो कि यहाँ अन्तरग छेद नहीं है।

किन्तु यदि अन्तरग रूपसे संयमका छेद हुआ हो तो उस श्रमणको जैन मार्गकी व्यावहारिक क्रियाओंमें चतुर किसी श्रमणके पास जाकर अपने दोषोंको सरलतासे निवेदन करना चाहिये और वह जैसा कहे वैसा करना चाहिये।

सयम भगसे बचनेका उपदेश

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि॥ [प्रव० ३, १३]

अधिकृत गुरुकुलमें रहते हुए अथवा गुरुरहित स्थानमें रहते हुए, संयमके भंगसे बचते हुए ही श्रमणको सदा पर द्रव्योंमें अनुरागको टालते हुए श्रामण्य पदमें विहार करना चाहिये। [आशय यह है कि श्रमण अपने गुरुओंके पास रहे या अन्य जगह रहे, परन्तु सर्वत्र उसे इष्ट-अनिष्ट विषयोंसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये क्योंकि पर द्रव्यका सम्बन्ध ही संयम भंगका कारण होता है।]

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो॥ [प्रव० ३, १४]

जो श्रमण नित्य ही अपने ज्ञान और दर्शन वगैरहमें लीन होता

हुआ मूल गुणोंमे सावधान होकर प्रवृत्ति करता है उसका श्रामण्य (मुनि धर्म) परिपूर्ण होता है अर्थात् उसका संयम भग नहीं होता।

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिवद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥

भोजनमें अथवा उपवासमे, निवासस्थानमें अथवा विहारमे, परिग्रहमें अथवा अन्य मुनियोंमे, और विकथाओंमें श्रमण र गपूर्वक सम्बन्धको पसन्द नहीं करता। [साराश यह है कि आगम विरुद्ध आहार विहारका निषेध तो पहले ही कर दिया गया है। मुनि होने पर योग्य आहार विहार वगैरहमे भी ममत्व नहीं करना चाहिये]।

छेदका स्वरूप

अपमत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा सतत्तिय त्ति मदा ॥ [प्रव० ३ १६]

श्रमणकी सोने, बैठने, खडे होने और चलने आदिमे जो असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति है, वह सदा अखण्डित रूपसे हिंसा मानी गई है।

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ [प्रव० ३, १७]

जीव मरे अथवा जीवित रहे, जो अयत्नाचारी है—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, उसको हिंसा अवश्य होती है। और जो समितियोंका पालक और यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला है, बाहरमें जीवघात हो जाने मात्रसे उसे हिंसाजन्य बन्ध नहीं होता। [साराश यह है कि बाह्य हिंसा हो या न हो, किन्तु अन्तरङ्गमे हिंसाका भाव होने पर हिंसा नियमसे होती है]।

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जद जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ [प्रव० ३, १८]

जो श्रमण अयत्नाचारी है वह छहों कायोंके जीवोंका घातक माना गया है। किन्तु यदि वह सर्वदा सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करता है तो जलमें कमलकी तरह कर्मबन्धरूपी लेपसे रहित होता है।

परिग्रह अन्तरंग छेदका कारण है

हवदि व ण हवदि बधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्व ॥ [प्रव० ३,१६]

श्रमणके शारीरिक क्रिया करनेसे किसी जीवके मर जानेपर कर्मबन्ध होता भी है और नहीं भी होता । किन्तु परिग्रहसे बन्ध अवश्य होता है इसलिये श्रमण समस्त परिग्रहको छोड देते हैं ।

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ [प्रव० ३,२०]

यदि परिग्रहका त्याग सर्वथा निरपेक्ष न हो तो श्रमणके चित्तकी विशुद्धि नहीं होती । और जिसका चित्त निर्मल नहीं है उसके कर्मोंका नाश कैसे हो सकता है ?

इसीको स्पष्ट करते है

किध तम्हि णत्थि मुच्छा णारभो वा असजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाण पसाधयदि ॥ [प्रव० ३, २१]

परिग्रहके होते हुए उस श्रमणके ममत्व परिणाम, आरम्भ और असंयम कैसे नहीं है ? तथा परवस्तुमें लीन होनेके कारण वह अपनी आत्माका साधन कर कैसे सकता है ? [साराश यह है कि परिग्रहको सर्वथा छोडना ही चाहिये] ।

अनिषिद्ध परिग्रह

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु काल खेत्त वियाणित्ता ॥ [प्रव० ३, २२]

जिस परिग्रहके ग्रहण करने अथवा छोड़ने पर, उस परिग्रहका सेवन करने वाले श्रमणके संयमका छेद नहीं होता, काल और देशको जानकर इस लोकमें वह श्रमण उस परिग्रहको स्वीकार करे ।

अप्पडिकुट्ठ उवधिं अपत्थणिज्ज असजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिद गेण्हदु समणो जदि वि अप्प ॥ [प्रव० ३,२३]

जो परिग्रह बन्धका कारण नहीं है, सयमके सिवाय अन्य किसी कार्यमें उसका उपयोग न होनेसे असयमी लोग जिसे नहीं माँग सकते,

तथा जो ममत्व भाव उत्पन्न नहीं करती, ऐसी परिग्रहको श्रमण ग्रहण करे। किन्तु इससे विपरीत थोडी भी परिग्रह ग्रहण न करे।

उत्सर्ग मार्ग ही वास्तविक है

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ [प्रव० ३, २४]

पुनर्जन्मको न चाहने वाले मुमुक्षुको अपने शरीरमें भी 'यह परिग्रह है' ऐसा मानकर जिनवर भगवानने उपेक्षा करनेका ही उपदेश किया है। ऐसी स्थितिमें यह विचार होता है कि क्या कुछ परिग्रह है? [आशय यह है कि जब शरीरको भी परिग्रह मानकर उसकी भी उपेक्षा करनेका उपदेश पाया जाता है तब मुमुक्षुके लिये अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेका तो प्रश्न ही नहीं है]।

अपवादरूप परिग्रह

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ [प्रव० ३, २५]

जैन मार्गमें नग्न दिगम्बर रूप द्रव्यलिंग, गुरुके वचन, विनय रूप परिणाम और परमागमका पठन ये चार उपकरण कहे हैं। [जो परिग्रह अपवाद रूपसे मुनिधर्मके पालनमें सहायक होती है उसे उपकरण कहते हैं। निश्चयसे जैन मार्ग ये चार ही उपकरण मुनिके लिये ग्राह्य हैं]।

श्रमणको कैसा होना चाहिये

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ [प्रव० ३, २६]

श्रमण ख्याति पूजा लाभरूप इस लोककी इच्छाओंसे रहित होता है, पर लोककी भी अभिलाषा नहीं रखता अर्थात् तपश्चरण करनेसे परलोकमें देवांगना वगैरह मिलती हैं, यह भावना उसके नहीं होती। उसका आहार विहार युक्त होता है और वह कषायसे रहित होता है।

युक्त आहार अनाहार और युक्त विहार अ-विहार ही है—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ [प्रव० ३ २७]

जिस श्रमणका आत्मा समस्त भोजनोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण निराहारी है अर्थात् उपवासी है, उसके लिये तो वह निराहार ही तप है। उस निराहार अवस्थाके अभिलाषी जो श्रमण एषणा दोषोंसे रहित अन्य भिक्षा ग्रहण करते हैं वे आहार करते हुए भ. निराहारी हैं।

केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो त तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ [प्रव० ३, २८]

श्रमणके केवल एक शरीररूप ही परिग्रह होती है और उस शरीरमें भी उसे ममत्व नहीं होता। तथा अपनी शक्तिको न छिपाकर वह उस शरीरको तपस्यामे लगाता है। [साराश यह है कि जो देहके सिवाय शेप सब परिग्रह को छोड देता है और शरीरमें भी ममत्व नहीं रखता तथा उसे तपमे लगाये रखता है वह मुनि युक्त आहार विहार वाला होता है]।

युक्ताहारका स्वरूप

एक्क खलु त भत्त अप्पडिपुण्णोदर जहालद्ध।
चरण भिक्खेण दिवा ण रसावेक्ख ण मधुमंस ॥ [प्रव०३,२९]

श्रमणका आहार युक्ताहार है क्योंकि प्रथम तो श्रमण दिनरातमें एक ही बार भोजन ग्रहण करते हैं। दूसरे, पेटभर भोजन नहीं करते। तीसरे, जैसा कुछ मिल जाता है उसे ही ग्रहण कर लेते हैं। चौथे, भिक्षाचारके द्वारा ग्रहण करते हैं। पाँचवें, दिनमें ही भोजन करते हैं। छठे, रसकी अपेक्षा नहीं रखते, सरस विरस भोजनमे समचित्त होते हैं और मधु मासको ग्रहण नहीं करते। [साराश यह है कि इस प्रकारका आहार ही तपस्वियोंका युक्ताहार है जो इसके विपरीत है वह युक्ताहार नहीं है।]

उत्सर्ग और अपवाद मार्गमें एकरूपता होनी चाहिये —

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्ग मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ [प्रव० ३,३०]

श्रमण बालक हो, अथवा वृद्ध हो, अथवा श्रमसे थका हुआ हो, अथवा रोगी हो, उसे अपने योग्य चर्याका पालन इस प्रकार करना चाहिये जिससे मूल संयमका घात न हो।

आहारे व विहारे देस काल सम खम उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ [प्रव० ३,३१]

यदि वैसा करनेसे थोडे ही पापसे लिप्त होता है तो वह श्रमण देश, काल, मार्ग वगैरहका श्रम, उपवास आदि करनेकी शक्ति और शरीर रूप परिग्रहको जानकर ही आहार और विहारमे प्रवृत्ति करता है। [आशय यह है कि देश कालको जानने वाला भी श्रमण बचपन बुढापा रोग आदिके कारण यदि आहार विहारमें प्रवृत्ति करता है तो आचारमे थोडी शिथिलता आनेसे थोड़ेसे पापसे तो लिप्त होता ही है इसलिये उत्सर्ग मार्ग श्रेष्ठ है। किन्तु ऐसा करनेसे थोडा ही तो पाप होता है इसलिये अपवाद मार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि थोडेसे पापके भयसे यदि वह आहार विहारमे प्रवृत्ति नहीं करता तो उसे अति कठोर आचरणके द्वारा मर कर स्वर्गमें जन्म लेना पडेगा और तब उसका सब संयम नष्ट हो जायेगा। अत अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेष्ठ नहीं है। तथा देशकालको जानने वाला कोई श्रमण यदि बचपन बुढापा, थकावट, रोग आदिके कारण आहार विहारमें स्वेच्छाचारी बनकर असंयमी जनोंकी तरह प्रवृत्ति करता है तो उसको महान पापका बन्ध होता है तथा वह संयमसे भ्रष्ट हो जाता है। अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी श्रेष्ठ नहीं है]।

श्रमणको शास्त्राभ्यासी होना चाहिये —

एयग्गगदो समणो एयग्ग णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ति आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥ [प्रव० ३,३२]

श्रमण एकाग्रचित्त होता है। और एकाग्रचित्त वही होता है जिसे अर्थोंका निश्चय होता है। तथा अर्थोंका निश्चय आगमसे होता है इसलिये आगमका अभ्यास करना ही श्रमणका मु य कार्य है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाण पर वियाणादि।
अविजाणतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥ [प्रव० ३,३३]

आगमके ज्ञानसे रहित श्रमण न अपनेको जानता है और न परको जानता है। और आत्मादि पदार्थोंको विना जाने भिक्षु कर्मोंका कैसे विनाश कर सकता है।

आगम ही साधुके नेत्र हैं—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ [प्रव० ३,३४]

साधुके नेत्र आगम हैं, समस्त प्राणियोंके नेत्र इन्द्रियाँ हैं। देवों का नेत्र अवधि ज्ञान है, और सिद्धोंके तो सब ओर नेत्र ही नेत्र हैं।

आगम रूपी नेत्रसे सब दिखाई देता है—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ [प्रव० ३ ३५]

अपने अनेक गुण-पर्यायोंके साथ सभी अर्थ आगमसे जाने जाते हैं। उन पदार्थों को वे श्रमण भी आगमके द्वारा देखकर ही जानते हैं।

आगमके बिना संयम नहीं—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ [प्रव० ३,३६]

'इस लोकमें जिसके शास्त्रज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता उसके संयम भी नहीं होता' ऐसा आगम कहता है। और जो असंयमी है वह श्रमण कैसे हो सकता है ?

आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयमके बिना मोक्ष नहीं—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ [प्रव० ३,३७]

यदि जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं है तो आगमके जाननेसे भी मुक्ति नहीं होती। अथवा जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान होते हुए भी यदि असंयमी है तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ [प्रव० ३,३८]

अज्ञानी लाखों करोड़ों भवोंमें जितने कर्मका क्षय करता है, उस कर्मको तीन गुप्तियोंका पालक ज्ञानी एक उच्छ्वास मात्रमें क्षय कर देता है।

परिग्रहीको मोक्ष नहीं—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ [प्रव० ३,३६]

जिस पुरुषका शरीर आदिमें यदि एक अणुके बराबर भी ममत्व है तो समस्त आगमोंका जाननेवाला होनेपर भी वह मुक्तिको प्राप्त नहीं करता ।

ऐसा श्रमण ही संयमी है—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ [प्रव० ३,४०]

जो श्रमण पाँच समितियोंका पालक है, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित है, पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है, कषायोंको जीतनेवाला है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है, उसे संयमी कहा है ।

श्रमणका स्वरूप

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ [प्रव० ३,४१]

जो शत्रु और बन्धु-बान्धवोंमे समान हैं, सुख और दुःखमें समान हैं, निन्दा और प्रशंसामे समान हैं, पत्थर और सुवर्णमें समान हैं तथा जीवन और मरणमें समान हैं, वही श्रमण है ।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ [प्रव० ३ ४२]

जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों भावोंमें एक साथ तत्पर है वह एकाग्रचित्त माना गया है और उसीका श्रामण्य (मुनिधर्म) परिपूर्ण होता है । [पहले गाथा ३२ में श्रमणको एकाग्रगत कहा था । यहाँ एकाग्रगतका खुलासा किया है] ।

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ [प्रव० ३,४३]

यदि श्रमण परद्रव्यको लेकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी अनेक प्रकारके कर्मोंसे बँधता है ।

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियद खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥ [प्रव० ३, ४४]

जो श्रमण यदि परपदार्थोंमें मोह नहीं करता, राग नहीं करता और न द्वेष करता है, तो वह श्रमण निश्चित रूपसे अनेक कर्मोंका क्षय करता है।

श्रमणके दो भेद

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ [प्रव० ३, ४५]

आगममें श्रमण दो प्रकारके कहे हैं—एक शुद्धोपयोगी और एक शुभोपयोगी। इन दोनोंमें भी शुद्धोपयोगी श्रमण कर्मोंके आस्रवसे रहित होते हैं और बाकीके सब शुभोपयोगी श्रमण कर्मोंके आस्रववाले होते हैं। अर्थात् समस्त शुभ अशुभ सकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेके कारण शुद्धोपयोगी श्रमणोंके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। बाकीके शुभोपयोगी श्रमणोंके यद्यपि मिथ्यात्व और विषय कषायरूप अशुभ आस्रव नहीं होता किन्तु पुण्य कर्मका आस्रव तो होता ही है।

शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण

अरहतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ [प्रव० ३,४६]

यदि साधुपदमें अर्हन्त सिद्धोंमें भक्ति और आचार्य उपाध्याय साधुओंमें वात्सल्य भाव रहता है तो साधुकी वह चर्या शुभोपयोगसे युक्त है।

शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति

वदण-णमसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ [प्रव० ३,४७]

श्रमणोंको आता हुआ देखकर वन्दना नमस्कारपूर्वक उठकर खडा होना, उनके पीछे पीछे चलना, उनका आदर तथा उनका श्रम दूर करना, ये कार्य सराग चारित्र अवस्थामे निषिद्ध नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोगके साधक किन्तु शुभोपयोगमे लगे हुए साधुओंकी रत्नत्रयके आराधक महामुनियोंमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति उचित ही है।

दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ [प्रव० ३,४८]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका उपदेश देना, रत्नत्रयके आराधनकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्योंको अपने पास रखना, उनके खाने-पीनेकी चिन्ता करना तथा जिनेन्द्र पूजा वगैरहका उपदेश देना ये सब सराग चरित्रके धारी श्रमणोंकी चर्या है।

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ [प्रव० ३,४६]

जो भी श्रमण ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके श्रमणोंके संघका, छै कायके जीवोंकी विराधना न करते हुए सदा उपकार करता है वह भी सरागचारित्रवाले श्रमणोंमें प्रधान होता है।

संयमकी विरोधी प्रवृत्ति

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ [प्रव० ३, ५०]

यदि श्रमणोंकी वैयावृत्यमें तत्पर हुआ कोई श्रमण छै कायके जीवोंकी विराधना करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है, क्योंकि छै कायके जीवोंकी विराधना करके धर्म करना श्रावकोंका कार्य है, साधुओंका नहीं।

उपकार कैसे करे

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ [प्रव० ३,५१]

गृहस्थ अथवा मुनिकी चर्यासे युक्त जैनोंका, ख्याति लाभ पूजा वगैरहकी इच्छा न रखते हुए दया भावसे उपकार करो, भले ही उसमें थोडा-सा पाप भी हो।

उपकार कब करे

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ [प्रव० ३,५२]

रोगसे, अथवा भूखसे, अथवा प्याससे, अथवा मार्ग उपवास वगैरहके श्रमसे पीडित श्रमणको देखकर साधु अपनी शक्तिभर उसकी सेवा करे।

अज्ञानी जनोंसे बोलनेका नियम

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥ [प्रव० ३,५३]

रोगी, गुरु, बालक और वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्यके लिये लौकिक जनोंके साथ शुभोपयोगको लिये हुए बातचीत करना निषिद्ध नहीं है। [सारांश यह है कि जब कोई शुभोपयोगवाला आचार्य किसी सरागचरित्र अथवा वीतराग चारित्रके धारी मुनिकी वैयावृत्य करता है तब उस वैयावृत्यके लिये लौकिक जनोंके साथ बातचीत करता है, शेष समयमें नहीं]।

उक्त चर्या श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥ [प्रव० ३,५४]

यह प्रशस्तरागरूप चर्या श्रमणोंके होती है और गृहस्थोंके भी होती है। किन्तु श्रमणोंके मुख्य रूपसे होती है ऐसा परमागममें कहा है। गृहस्थ लोग इस शुभोपयोग रूप चर्यासे ही मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं।

पात्र भेदसे शुभोपयोगके फलमें भेद

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥ [प्रव० ३,५५]

दान, पूजा आदि रूप प्रशस्त राग जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्ररूप वस्तुके भेदसे विपरीत फल देता है। जैसे धान्यकी उत्पत्तिके समय अनेक भूमियोंमें डाले हुए बीज विपरीत फल देते हैं।

अल्प ज्ञानियोंके द्वारा बतलाये हुए यम नियम आदि करनेसे जो शुभोपभोग होता है उसका फल केवल सासारिक सुखकी प्राप्ति होती है]।

कुपात्र दानका फल

अविदिदपरमत्थेसु य विसयक्सायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कद व दत्त फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ [प्रव० ३, ५७]

परमार्थको नहीं जाननेवाले और विषय कषायोंमें फँसे हुए मनुष्योंकी सेवा, वैयावृत्य आदि करना, अथवा उन्हे आहार आदि देना कुदेवों और मनुष्योके रूपमे फलता है। अर्थात् उन्हे दान आदि देनेवाले मरकर कुदेव या नीच मनुष्य होते हैं।

उक्त कथनको दृढ़ करते हैं—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ [प्रव० ३, ५८]

यदि शास्त्रोंमे उन विषय-कषायों को पाप कहा है तो विषय कषायमें फँसे हुए पुरुष संसारसे उतारने वाले कैसे हो सकते हैं। [साराश यह है कि विषय कषाय पाप रूप है अत विषयी कषायी पुरुष भी पापी ही है इसलिये वे अपने भक्तोंको ससारसे पार नहीं उतार सकते]।

सुपात्रका लक्षण

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ [प्रव० ३,५९]

जो पुरुष पापसे रहित है, सब धार्मिकोंमे समभाव रखता है और गुणोंके समूहका सेवक है वह सुमार्गका अर्थात् मोक्ष मार्गका भागी होता है।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ [प्रव० ३,६०]

उक्त पुरुष अशुभोपयोगसे रहित होते हुए कभी शुद्धोपयोगी और कभी शुभोपयोगी होते हैं और भव्य जीवोंको संसारसे पार लगाते हैं। उनका भक्त उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

मुनियोंके सत्कारकी विधि

दिट्ठा पगद वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ [प्रव० ३,६१]

निर्ग्रन्थ निर्विकार रूपके धारी तपस्वी पात्रको देखकर अतिथिके योग्य अभ्युत्थान (उठकर खडे हो जाना) आदि क्रियाओंको करे। उसके बाद उसे गुणोंसे विशिष्ट करे ऐसा सर्वज्ञ देवका उपदेश है।

अब्भुट्ठाण गहण उवासण पोसणं च सक्कार ।
अजलिकरण पणम भणिद इह गुणाधिगाण हि ॥ [प्रव० ३,६२]

इस लोकमें जो अधिक गुणवाले तपस्वी जन हैं उनको आते देखकर उठके खडा होना, आगे जाकर उन्हें ग्रहण करना, उनकी सेवा करना, उनके खान पानका प्रबन्ध करना, उनका सत्कार करना, दोनों हाथ जोडना और उन्हे प्रणाम करना कहा है।

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
सजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ [प्रव० ३,६३]

जो श्रमण यद्यपि चारित्र गुणमें अधिक नहीं हैं किन्तु परमागमके ज्ञाता होनेसे सम्यग्ज्ञान गुणमें ज्येष्ठ हैं, श्रुतकी विनयके लिये श्रमणको उनके लिये भी खडा होना योग्य है। तथा भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करना भी योग्य है। और जो संयम तप और ज्ञानसे परिपूर्ण हैं उनको नमस्कार करना योग्य है।

श्रमणाभासका स्वरूप

ण हवदि समणो त्ति मदो सजमतवसुत्तसपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ [प्रव० ३,६४]

जो संयम, तप, और श्रुतसे युक्त होते हुए भी यदि जिन भगवानके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंका, जिनमें आत्म तत्त्व प्रधान है, श्रद्धान नहीं करता है तो उसे आगममें श्रमण नहीं माना है।

सच्चे श्रमणको नहीं माननेवालेकी बुराई

अववददि सासणत्थं समण दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ [प्रव०३,६५]

जो मोक्षमार्गमे स्थित श्रमणको देखकर कषायवश दूषण लगाता है और यथायोग्य वन्दना आदि क्रियाओंमे उन्हें नहीं मानता, वह साधु निश्चयसे चारित्रहीन है।

स्वयं गुणहीन होते हुए गुणाधिकसे विनय चाहनेवालेकी बुराई

गुणदोधिगस्स विणय पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्ज गुणाधरो जदि सो होदि अणतसंसारी ॥ [प्रव० ३, ६६]

जो स्वय गुणोंसे हीन होता हुआ भी 'मैं भी श्रमण हू' इस अभिमानसे यदि गुणोंसे अधिक अन्य तपस्वियोसे अपनी विनय कराना चाहता है तो वह अनन्त संसारमें भ्रमण करता है।

स्वयं गुणोंमें अधिक होते हुए हीन गुणवालोंकी विनय करनेका दोष

अधिकगुणा सामण्णे वट्टं ति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ [प्रव० ३,६७]

चारित्रमें अधिक गुणवाले श्रमण यदि गुणहीन श्रमणोंके साथ बन्दना आदि क्रियाओंमे प्रवृत्ति करते हैं तो वे मिथ्यात्वसे युक्त होते हुए चारित्रभ्रष्ट हो जाते हैं।

लौकिक जनोंकी कुसगतिका निषेध

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि सजदो ण हवदि ॥ [प्रव० ३,६८]

जो आत्मा आदि पदार्थोंका कथन करने वाले सूत्रार्थ पदोंका ज्ञाता है, और जिसकी क्रोधादि कषाय शान्त हैं तथा जो विशिष्ट तपस्वी भी है फिर भी यदि वह लौकिक जनोंकी सगति नहीं छोडता है तो वह संयमी नहीं हो सकता। [साराश यह है कि स्वय ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी यदि चारित्रहीन पुरुषोंकी सगति नहीं छोडता तो अति परिचय होनेसे जैसे आगके ससर्गसे जल विकृत हो जाता है वैसे ही वह भी विकारी हो जाता है]।

लौकिक जनका लक्षण

णिग्गथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो सजमतवसजुदो चावि ॥ [प्रव०३,६६]

जो परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रन्थ है और जिसने विधि पूर्वक दीक्षा ग्रहण की है, वह संयम और तपसे युक्त होने पर भी यदि इस लोक सम्बन्धी कामोंको करता है अर्थात् ख्याति, पूजा और लाभके लिये ज्योतिष, मंत्र तंत्र वगैरह का प्रयोग करता है, उसे लौकिक कहा है।

उत्तम सगतिका उपदेश

तम्हा सम गुणादो समणो समण गुणेहिं वा अहिय।
अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख ॥ [प्रव० ३,७०]

चूकि हीनकी सगत्ति करनेसे गुणोकी हानि होती है इसलिये यदि श्रमण दुःखसे छूटना चाहता है तो उसे सदा अपने समान गुणवाले अथवा अपनेसे अधिक गुणवाले श्रमणके समीप रहना चाहिये।

श्रमणाभासोंकी दशा

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चतफलसमिद्ध भमति ते तो पर काल ॥ [प्रव० ३, ७१]

जो अपने अविवेकसे पदार्थोंको अन्यथा जानते हुए भी यह निश्चय करते हैं कि जैसा हमने जाना है वही वस्तुका स्वरूप है, वे अज्ञानी मुनि पदमें स्थित होते हुए भी आगे अनन्तकाल तक भ्रमण करते हैं। और वह अनन्तकाल कभी अन्त न होने वाले नरकादि गतियोके दु.खोंसे भरपूर होता है।

किसका श्रामण्य पूर्ण है

अजधाचारविजुदो जधत्थपदणिच्छिदो पसतप्पा।
अफले चिर ण जीवदि इह सो सपुण्णसामण्णो ॥ [प्रव०३,७२]

जो श्रमण विपरीत आचरण नहीं करता, और जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही पदार्थों को निश्चित रूपसे जानता है, तथा जो राग द्वेषसे रहित है, उसीका श्रामण्य सम्पूर्ण है और वह इस संसारमें चिरकाल तक नहीं जीता अर्थात शीघ्र मोक्ष चला जाता है।

शुद्धोपयोगी श्रमण

सम्म विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ [प्रव० ३, ७३]

जो सम्यक् रूपसे पदार्थोंको जानते हैं, और बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रहको छोड़कर पाँचो इन्द्रियोके विषयोंमे अनासक्त हैं उन शुद्ध आत्माओंको शुद्धोपयोगी कहा है।

शुद्धोपयोगकी महिमा

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ [प्रव० ३ ७४]

शुद्धोपयोगीके ही श्रामण्य कहा है, शुद्धोपयोगीके ही केवल ज्ञान और केवलदर्शन कहे हैं। तथा शुद्धोपयोगीको ही निर्वाण की प्राप्ति कही है। वही सिद्ध है। उसे नमस्कार हो।

— ० —

८. श्रामण्य भाव अधिकार

भावका महत्त्व

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ [भा० प्रा० २]

जिनदीक्षाका प्रथम चिह्न भाव है। द्रव्यलिंग—बाह्यवेषको परमार्थरूप मत जान। जिनेन्द्रदेव भावको गुणों और दोषोंका कारण कहते हैं॥

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरसंगजुत्तस्स ॥ [भा० प्रा० ३]

भावको निर्मल करनेके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। अभ्यंतर परिग्रहसे सहित मुनिका बाह्यत्याग निष्फल है अर्थात् जिस मुनिके चित्तमे वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहकी चाह है उसने यदि वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहका त्यागकर दिया है तो उसका कुछ फल नहीं है।

भाव रहितको मोक्ष नहीं

भावरहिश्रो ण सिज्झइ जइ वि तव चरइ कोडिकोडीश्रो ।
जम्मतराइ बहुसो लविथहत्थो गलियवत्थो ॥ [भा० प्रा० ४]

श्रात्मस्वरूपकी भावनासे रहित जीव यदि करोड़ों जन्म तक भुजाश्रों-को लटकाकर श्रौर वस्त्रोंको त्यागकर तपश्चरण करे तौ भी उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

परिणाममम्मि श्रसुद्धे गथे मुचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगथच्चाश्रो भावविहूणस्स किं कुणई ॥ [भा० प्रा० ५]

परिणामके श्रशुद्ध होते हुए श्रर्थात मनके विषय कषायसे मलिन होते हुए यदि मुनि बाह्य परिग्रहको छोड देता है। तो भावरहितका बाह्य परिग्रहका त्याग क्या कर सकता है श्रर्थात कुछ भी नहीं कर सकता।

जाणहि भाव पढम किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
[1]पथिय सिवउरिपथे जिणउवइट्ठ पयत्तेण [भा० प्रा० ६]

हे पथिक! मोक्षपुरीके मार्गमें जिनवर भगवान्के द्वारा कहे हुए भावको प्रयत्नपूर्वक मुख्य जान। तेरे इस भावरहित द्रव्यलिंगसे क्या?।

भावरहियएण सउरिस श्रणाइकाल श्रणतससारे ।
गहि उज्झियाइ बहुसो बाहिरणिग्गथरूवाई ॥ [भा० प्रा० ७]

हे सज्जनोत्तम! श्रात्मस्वरूपकी भावनासे रहित तूने श्रनादिकालसे इस श्रनन्त ससारमें बाह्य निर्ग्रन्थ वेषोंको श्रनेक बार धारण किया श्रौर छोडा।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तो सि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव ॥ [भा०प्रा० ८]

हे जीव! तूने भयंकर नरकगतिमें, तिर्यञ्चगतिमे, कुदेव श्रौर कुमनुष्योंमे जन्म लेकर तीव्र दु ख पाया है। श्रब जिन भावनाको भा श्रर्थात मिथ्यात्वको छोडकर सम्यक्त्वको ग्रहण कर।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइ श्रसहणीयाइ ।
भुत्ताइ सुइरकाल दुक्खाइ [2]णिरंतरं भविय ॥ [भा० प्र० ६]

---

१ 'पथिणासिवउरि पथे ग'० पथियस्विव ऊ० । २ णिरतर सहिय –श्रा, –णिरतर काल –'ग'।

हे भव्य जीव ! तूने सातो नरकोंके विलोंमे अत्यन्त भयानक और न सहन कर सकने योग्य दुःख वहुत काल तक निरन्तर भोगे हैं।

खणणु-त्तावण-[1]वालण-वेयण-विच्छेयणाणिरोह च।
पत्तो सि भावरहिओ तिरियगईए चिर काल ॥ [भा०प्रा० १०

हे जीव ! आत्मभावनासे रहित तूने तिर्यञ्चगतिमे चिरकालतक दुःख सहे हैं—पृथ्वीकायमे तूने खोदेजानेका दुःख सहा, जलकायमे तूने अग्निके ऊपर तपाये जानेका दुःख सहा, अग्निकायमे तूने जलनेका दुःख सहा वायुकायमे तूने पखे वगैरहसे डुलाये जानेका दुःख सहा, वनस्पतिकायमें तूने छेदन-भेदनका दुःख सहा, और त्रसकायमे वाँधने वगैरहका दुःख सहा।

आगतुक-माणसिय सहज सारीरिय च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणतय काल ॥ [भा० प्रा० ११

हे जीव ! तूने मनुष्य जन्ममे अनन्तकाल तक आगन्तुक मानसिक सहज और शारीरिक चार प्रकारके दुःख पाये हैं। [अकस्मात् बिजली गिरने आदिसे होनेवाले दुःखको आगन्तुक कहते हैं। इष्टवियोग या अनिष्टसयोगसे मनमे होनेवाली वेदनाको मानसिक दुःख कहते हैं रोग आदिसे होनेवाले दुःखको सहज कहते हैं। और शरीरके छेदन-भेदन आदिसे होनेवाले दुःखको शारीरिक कहते हैं]।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणस तिव्व।
सपत्तो सि महाजस दुक्ख सुहभावणारहिओ ॥ [भा० प्रा० १२]

हे महायशस्वी ! शुभ भावनासे रहित होकर तूने स्वर्गलोकमें देवागनाका वियोग होने पर और यदि तू देवी हुआ तो देवका वियोग होने पर वहुत अधिक मानसिक दुःख पाया।

कदप्पमादिआओ पच वि असुहादि भावणाई य।
भाऊण [2]दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ [भा० प्रा० १३]

हे जीव ! द्रव्यलिंगी मुनि होकर तूने कन्दर्प आदि (कान्दर्पी,

---

१ –ण छालण विच्छे, –यणवेयणाणिरोहं –अ०। २ दव्वलिंगे ऊ०, दव्वलिंगो ग०।

किल्विषी, आभियोगीकी, दानवी और समोही) पाँच अशुभ भावनाओं को भाया और उससे तू मरने पर स्वर्गमें नीच देव हुआ।

पासत्थभावणाओ अणाइकाल अणेयवाराओ।
भाऊण दुह पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ [भा० प्रा० १४]

हे जीव! अनादिकालसे अनेक वार पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके मुनियोंकी भावनाको भाकर तूने खोटी भावनाओंके परिणाम रूप बीजोंसे दुःख पाया। [जो मुनि उपकरणोंके द्वारा आजीविका करता हुआ श्रमणोंके पासमें रहता है वह पार्श्वस्थ है। जिसकी आत्मा कषायसे मलिन है और जो व्रत गुण शीलसे रहित है तथा संघका अविनय करता है वह कुशील मुनि है। वैद्यक, मन्त्र, ज्योतिष आदिसे आजीविका करने वाले और राजा वगैरहके सेवक मुनिको संसक्त कहते हैं। गुरुके पासमें न रहकर जो अकेला स्वच्छन्द विहार करता है, जिनागमके दूषक उस मुनिको मृग चारित्र अथवा स्वच्छन्द कहते हैं। जो मुनि जिनवचन को नहीं जानता, चारित्रके भारसे मुक्त है, ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट है, उसे अवसन्न कहते हैं]।

देवाण गुणविहूई इड्ढी माहप्प बहुविह दट्ठु।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणस दुक्ख ॥ [भा० प्रा० १५]

हे जीव! नीच देव होकर तूने अन्य देवोंके गुण, विभूति, ऋद्धि तथा अनेक प्रकारके माहात्म्यको देखा और उससे तूने बहुत मानसिक दुःख पाया।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्त पत्तो सि अणेयवाराओ ॥ [भा० प्रा० १६]

हे जीव! तू चार प्रकारकी खोटी कथाओंमें आसक्त होकर, आठ मदोंसे उन्मत्त होकर तथा प्रकट रूपसे अशुभ परिणाम रूप प्रयोजनको लेकर अनेक वार कुदेवोंमें उत्पन्न हुआ।

असुई बीहच्छेहि य कलिमलबहुलाहिं गब्भवसहीहिं।
वसिओ सि चिर काल अणेयजणणीय मुणिपवर ॥ [भा०प्रा० १७]

हे मुनिश्रेष्ठ! अनेक माताओंके अपवित्र, भयानक, और गन्दे मैलसे भरे हुए गर्भ स्थानमें तुम बहुत काल तक रहे हो।

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ [भा० प्रा० १८]

हे महायशके धारी ! तुमने अनन्त जन्मोंमें भिन्न भिन्न माताओंके स्तनोंका सागरके पानीसे भी ज्यादा दूध पिया है। अर्थात् अनन्त भावोंमें तुमने माताओंका इतना दूध पिया है कि यदि उसे एकत्र किया जा सके तो वह समुद्रके पानीसे भी ज्यादा हो जायेगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णाण्णाण अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥ [भा०प्रा०१९]

हे मुनि ! तुम्हारे मरने पर दुःखसे भिन्न भिन्न माताओंके रोनेसे उत्पन्न हुआ आँखोंका जल समुद्रके पानीसे भी अधिक है। अर्थात तुमने अनन्त बार जन्म लेकर अनन्तवार मरण किया। और तुम्हारे मरनेपर तुम्हारे वियोगसे दुखी माताओंने इतने आँसु बहाये हैं कि यदि उन्हें एकत्र किया जा सके तो वे सागरके जलमें भी अधिक होंगे।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केस-णहर-णालट्ठी ।
पुंजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥[भा०प्रा०२०]

हे मुनि ! इस अनन्त संसार समुद्रमें तुम्हारे शरीरोंके काटकर फेंके हुए केश, नख, नाल और हड्डियोंको यदि कोई जगतमें इकट्ठा करे तो मेरु पर्वतसे भी ऊँचा ढेर हो जाय।

जल-थल-सिहि-पवणंवर-गिरि-सरि-दरि-तरुवणाइं सव्वत्तो ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥ [भा०प्रा०२१]

हे जीव ! पराधीन होकर तू तीनों लोकोंके बीचमें जल, थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, देवकुरु, उत्तरकुरु भोग भूमि और वन वगैरहमें सर्वत्र चिरकाल तक रहा है।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोयरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुंजंतो ॥ [भा० प्रा० २२]

हे जीव ! तूने इस लोकमें स्थित सभी पुद्गलोंका भक्षण किया। और उनको बारबार भोगता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ।

तिहुवणसलिलं सयलं पीयं तण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ [भा० प्रा० २३]

हे जीव ! तूने प्याससे दुखी होकर तीनों लोकोंका सारा जल पी लिया, फिर भी तेरी प्यास नहीं मिटी । अतः ससारका नाश करनेवाले रत्नत्रयका चिन्तन कर ।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥ [भा० प्रा० २४]

हे धीर मुनिवर ! तूने इस अनन्त संसार समुद्रमें जो अनेक शरीर ग्रहण किये और छोडे हैं, उनकी कोई गिनती नहीं है ।

विसवेयण - रत्तक्खय - भय - सत्थग्गहणसंकिलेसेण ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥
हिम-जलण-सलिल-गुरुयर-पव्वय-तरु-रुहण-पडण-भंगेहिं ।
रस-विज्जजोयधारणअणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चु-महादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त ॥ [भा० प्रा० २५-२७]

विष, पीडा, रक्त क्षय (खून का बहुत अधिक निकल जाना), डर, और शस्त्र घातके संक्लेशसे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे, बर्फ अग्नि और पानीमें गिरनेसे, महान् पर्वत और ऊँचे वृक्ष पर चढते समय गिर जानेसे, पारेके विकारसे, बिजली गिर जाने तथा योगके धारण आदि अनेक अनीतिपूर्ण घटनाओंके द्वारा आयुका क्षय हो जाता है । इस प्रकार हे मित्र ! तूने तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें चिर काल तक जन्म लेकर अनेक बार अकाल मरणका कठोर महादुःख भोगा है ।

छत्तीस तिण्णिसया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि णिगोयवासम्मि ॥ [भा० प्रा० २८]

हे जीव ! निगोदमें रहते हुए तू एक अन्तर्मुहूर्त कालमें छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरा ।

वियलिंदिए असीदिं सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवऽन्तोमुहुत्तस्स ॥ [भा० प्रा० २९]

एक अन्तर्मुहूर्तमें होनेवाले इन क्षुद्र भवोंमे द्वीन्द्रियोंके अस्सी, त्रीन्द्रियों

जिनलिंग तो धारण किया किन्तु भावसे मिथ्यादृष्टि ही रहा, इससे दुःख ही पाया।

पडिदेस-समय-पुग्गल-माउग - परिणाम-णाम-कालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणतभवसायरे जीवो ॥ [भा० प्रा० ३५]

अनन्त ससार समुद्रमें इस जीवने आयु कर्म, राग द्वेष रूप परिणाम, नामकर्म और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालमें स्थित पुद्गलोंको प्रत्येक प्रदेशमें और प्रत्येक समयमे अनेक वार ग्रहण किया और छोडा। अर्थात् अनन्त संसारमें भ्रमण करते हुए इस जीव ने समस्त कर्म और नोकर्म पुद्गलोंको अनेक वार भोगकर छोड दिया, लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें यह जन्मा और मरा, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके प्रत्येक समयमें इसने जन्म लिया और मरण किया, जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त (नौग्रैवेयक पर्यन्त) चारो गतियोंकी सब आयुओंको भोगकर छोड दिया। और प्रत्येक योगस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसाय स्थानके द्वारा आठों मूल कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त सब स्थितियोंको भोगा और छोड दिया। इस तरह इस जीवने अनेक वार पच परावर्तन रूप ससारमें भ्रमण किया।

तेयाला तिण्णिसया रज्जूण लोयखेत्तपरिमाण ।
मुत्तूणट्ठपएसा [1]जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥ [भा० प्रा० ३६]

तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण लोकक्षेत्रमें आठ मध्य प्रदेशोंको छोडकर इस जीवने कहीं भ्रमण नहीं किया अर्थात् सब जगह भ्रमण किया।

शरीरमें रोग

एक्केक्कगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाण ।
अवसेसे य सरीरे रोया भणु कित्तिया भणिया ॥ [भा० प्रा० ३७]

मनुष्यों की एक एक अगुलिमें छियानवें रोग होते हैं ऐसा जानो। तब बतलाईये कि बाकीके शरीरमें कितने रोग कहे हैं ?

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एव सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥ [भा० प्रा० ३८]

---

१ जत्थ आ० ।

हे महायशस्वी मुनि ! पूर्व भवोंमे तूने पराधीन होकर उन सब रोगों-को सहा। अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, वर्तमानमें भी तू उनको नीचे कहे अनुसार सहन करता है।

पित्तत-मुत्त-फेफस-कालिज्जय-रुहिर-खरिस किमिजाले।
उयरे वसिओ सि चिर णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ [भा०प्रा० ३९]

हे मुनि ! तू पित्त, आत, मूत्र, तिल्ली, जिगर, रुधिर, खकार और कीडोंसे भरे हुए उदरमे बहुत बार नौ दस मास तक रहा है

[1]दियसगट्ठियमसणं आहारिय [2]मायमुत्त भुत्त ते।
छद्दि खरिसाण मज्झे जठरे वसिओ सि जणणीए ॥ [भा०प्रा० ४०]

दाँतोंके ससर्गमे स्थित भोजनको ग्रहण करके तूने माताके द्वारा खाये गये अन्नको खाया है। और माताके उदरमे वमन और खकारके बीचमे निवास किया है।

सिसुकाले य [3]अयाणे असुइहि मज्झम्मि लोलिओ सि [3]तुह।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण [भा० प्रा० ४१]

हे मुनिवर ! बाल्य कालमे अज्ञानी होनेसे तू विष्टा आदि अपवित्र पदार्थोंके बीचमे लोटा है और बालपन होनेसे तूने अनेकबार अपवित्र वस्तुओंको खाया है।

मसट्ठि-सुक्क-सोणिय-पित्तत-सवत्त-कुणिम-दुग्गंध।
खरिस-वस-पूय-खिब्भिसभरिय चिंतेहि देहउडं ॥ [भा० प्रा० ४२]

हे मुनि ! मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त और आँतसे बहने वाली शवके समान दुर्गन्धित तथा खकार, चर्बी, और अपवित्र गन्दगीसे भरे हुए इस शरीररूपी घडेका स्वरूप विचार।

---

१ 'दियसगट्ठियमसणं आहारिय मायमणुय भुत्तंते' ग० प्रतिमे पाठ है। जिसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—कामके वश होकर स्त्रीसे संसर्ग करने पर भोगके अन्तमे त्यागे गये वीर्यको माताके द्वारा धारण करनेसे तेरी उत्पत्ति हुई है। २ श्रुतसागरने 'मायभुत्तमण्णन' पाठ रखकर उनका अर्थ किया—'माताके द्वारा खाये गये अन्नके बीचमे तू उदरमे बसा है। ३ तुम आ० ग०।

मुक्त कौन है

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु [1]गंथ अब्भंतर धीर ॥ [भा० प्रा० ४३]

जो रागादि भावोंसे मुक्त है वही मुक्त है। किन्तु जो बन्धु बान्धव आदि मात्रसे मुक्त है वह मुक्त नहीं है। अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रहके होते हुए मात्र बाह्य परिग्रहका त्याग करना कार्यकारी नहीं है। ऐसा विचार कर हे धीर! अभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि परिग्रहका त्याग कर।

बाहुबलीका उदाहरण

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ [2]धीरो ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तिय काल ॥ [भा० प्रा० ४४]

शरीर आदि परिग्रहको छोड देनेवाले धैर्यशील बाहुबली मुनि मान कषायसे कलुषित होनेके कारण कितने ही काल तक आतापन योग करते रहे।

मधुपिंग मुनिका उदाहरण

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तण ण पत्तो [3]णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ [भा० प्रा० ४५]

भव्यजीवोंसे नमस्कृत हे मुनिवर! शरीर आहार आदिकी क्रियाओंको छोड देनेवाला मधुपिंग नामक मुनि निदान मात्रसे श्रमणपनेको प्राप्त नहीं हो सका।

वशिष्ठ मुनिका उदाहरण

अण्ण च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्ख णियाणदोसेण ।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीवो ॥ [भा०प्रा० ४६]

और भी एक वसिष्ठ मुनिने निदानके दोषसे दुःख पाया। ऐसा कोई निवास स्थान नहीं है, जहाँ जीवने भ्रमण नहीं किया।

भावका महत्त्व

सो णत्थि को वि देसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीव ॥ [भा०प्रा०४७]

---

१ संग ग। २ धीर ग०। ३ णिव्वाण तेण ण होमिति ग०।

हे जीव ! चौरासी लाख योनियोंके स्थानोंमे ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ भावरहित मुनिने भी भ्रमण न किया हो ।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भाव किं कीरइ [1]दव्वलिंगेण ॥ [भा० प्रा० ४८]

भावलिंगसे मुनि जिनलिंगी होता है, भावके विना केवल द्रव्यलिंगसे (बाह्य वेशसे) मुनि जिनलिंगी नहीं होता । अतः भावलिंगको धारण करो, भाव रहित द्रव्यलिंगसे कुछ भी कार्य नहीं वन सकता ।

बाहुमुनिका उदाहरण

दंडय णयर सयल डहिओ अब्भतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि [2]बाहू पडिओ सो रउरव णरय ॥ [भा०प्रा०४९]

बाहू मुनिने अभ्यन्तरके दोपसे क्रोधवश होकर सम्पूर्ण दण्डक नगरको जलाकर भस्म कर दिया । और वह जिनलिंगका धारी होते हुए भी मरकर रौरव नरकमे गया ।

द्वीपायन मुनिका उदाहरण

अवरो वि दव्वसवणो दसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणु त्ति णामो अणतससारिओ जाओ ॥ [भा० प्रा० ५०]

और भी एक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्रसे भ्रष्ट द्वीपायन नामक द्रव्यलिंगी मुनि अनन्त ससारी हुआ ।

शिवकुमार मुनिका उदाहरण

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेढिओ विसुद्धमई ।
[3]णामेण सिवकुमारो परित्तससारिओ जादो ॥ [भा० प्रा० ५१]

शिवकुमार नामक भावलिंगी धीर वीर मुनि युवती स्त्रियोंके द्वारा घेरे जाने पर भी निर्मल मति रहनेके कारण परिमित ससार वाले हुए । अर्थात ब्रह्मचर्यमे डिगाये जाने पर भी नहीं डिगे और उनके ससार भ्रमणका अन्त आ गया ।

---

१ दव्वसवणेण अ० । २ बाहू अ० उ० । ३ णिमेण आ० ।

जो शरीर आदि परिग्रहसे रहित है, मान कषायसे पूरी तरह छूटा हुआ है और जिसका आत्मा आत्मामें लीन है वह भावलिंगका धारी साधु है।

भावलिङ्गी साधुकी भावना

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइ वोसरे ॥ [भा० प्रा० ५७]

निर्ममत्व भावको अपनाते हुए मैं 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस ममत्व भावको छोड़ता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन है। शेष सबका मैं त्याग करता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ [भा० प्रा० ५८]

यह निश्चित है कि आत्मा मेरे ज्ञानमें है, आत्मा मेरे दर्शन और चारित्रमें है। आत्मा प्रत्याख्यानमें है और आत्मा मेरे संवर और ध्यानमें है। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग ये सब आत्म स्वरूप हैं।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ [भा० प्रा० ५९]

ज्ञान दर्शन स्वरूप एक मेरा आत्मा ही शाश्वत-अविनाशी है, बाकीके सभी मेरे भाव बाह्य हैं, जो कि परद्रव्यके संयोगसे प्राप्त हुए हैं।

शुद्ध आत्माकी भावनाका उपदेश

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊण जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥ [भा० प्रा० ६०]

यदि शीघ्र ही चतुर्गतिस्वरूप संसारको छोड़कर शाश्वत सुखको प्राप्त करना चाहते हो तो शुद्ध भावोंके द्वारा सुविशुद्ध और निर्मल आत्माका चिन्तन करो।

शुद्धात्म भावनाका फल

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जर-मरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥ भा० प्रा० ६१]

धारण कर, क्योंकि भावोंके मलिन होनेसे जीव बाह्य परिग्रहमें मलिनता पैदा कर लेता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ [भा० प्रा० ७१]

जो धर्मसे रहित है, दोषोंका घर है और ईखके फूलके समान फल रहित और निर्गुण है, वह मुनि नग्न वेष धारण करनेवाला नट है। अर्थात् जैसे नट अनेक वेष धारण करता है वैसे ही उस मुनिने मुनिका नग्नवेष धारण कर लिया है।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ [भा० प्रा० ७२]

जो मुनि रागभाव रूप परिग्रहसे मुक्त हैं और जिन भावनासे रहित होनेके कारण द्रव्यरूपसे निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् केवल नग्नवेष धारण किये हुए हैं, वे निर्मल जिन शासनमें कहे हुए सम्यग्ज्ञान और ध्यानको प्राप्त नहीं कर सकते।

भावलिंगपूर्वक ही द्रव्यलिंग होना चाहिये—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंग जिणाणाए ॥ [भा० प्रा० ७३]

पहले मुनि मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोडकर भावसे नग्न होता है। पीछे जिन भगवान्की आज्ञासे द्रव्य रूपसे लिंगको प्रकट करता है अर्थात् बाह्य रूपमे नग्न होता है।

भावके तीन भेद

भाव तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं अट्टरउद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ [भा० प्रा० ७४]

भाव तीन प्रकारका जानना चाहिये—शुभ, अशुभ और शुद्ध। आर्त और रौद्र तो अशुभ भाव हैं और जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित धर्म शुभभाव है।

[1]सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
[2]इय जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ [भा० प्रा० ७५]

---

१ सुद्ध ग०। २ इदि ग०।

शुक्लध्यान शुद्ध भाव है और आत्माका आत्मामें लीन होना शुक्लध्यान है यह जिनवर भगवानने कहा है। इनमेंसे जो कल्याणकारी हो उसे धारण करो।

> भावो वि दिव्व-सिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
> कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ [भा० प्रा० ७६]

भावलिंग ही स्वर्ग और मोक्ष सुखका भाजन है। भावलिंगसे रहित पापी मुनिका चित्त कर्मरूपी मलसे मलिन होता है और वह तिर्यञ्चगतिका पात्र होता है।

> खयरामर-[1]मणुयकरंजलिमालाहिं य संथुया विउला।
> चक्कहर-रायलच्छी लब्भइ [2]बोही ण भव्वणुया ॥ [भा० प्रा० ७७]

जीव विद्याधर, देव और मनुष्योंके द्वारा अपने दोनों करोंकी अंजलियाँ बनाकर, उनके द्वारा स्तुत चक्रवर्तीकी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर सकता है किन्तु भव्य जीवोंके द्वारा नमस्कृत सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति उसे नहीं हो सकती।

बोधकी प्राप्ति किसे होती है

> पयलियमाण कसाओ पयलिय-मिच्छत्त-मोह-सम-चित्तो।
> पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ [भा० प्रा० ७८]

जैन धर्ममें, जिसकी मान कषाय पूरी तरहसे नष्ट हो गई है और मिथ्यात्व मोहनीयके पूरी तरहसे नष्ट हो जानेके कारण जिसका चित्त साम्य भावसे युक्त होता है, वही जीव तीनों लोकोंमें सारभूत बोधिको प्राप्त करता है।

तीर्थङ्कर नाम कर्मका बंध कौन करता है

> विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
> तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ [भा० प्रा० ७९]

पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त श्रमण उत्तम सोलह कारण भावनाओंका चिन्तन करके थोडे ही समयमें तीर्थङ्कर नामकर्मका बन्ध करता है।

---

१ मणुयाण अंजलि ग०। २ केही सुभावेण ग०।

भाव श्रवणको ही सुखकी प्राप्ति

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइ दुहाइ दव्वसवणो य।
इय णाउ गुणदोसे भावेण य संजुदो होइ ॥ [भा० प्रा० १२७]

भावलिंगी श्रमण सुखोंको पाता है और द्रव्यलिंगी श्रमण दुःखोंको पाता है। इस प्रकार गुण और दोषोंको जानकर मुनि भावसे सहित होता है।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्त सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसयेहिं सप्पुरिसो ॥ [भा०प्रा०१५४]

जैसे कमलिनीका पत्र स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता। वैसे ही सम्यग्दृष्टी पुरुष भावके द्वारा क्रोध आदि कषायों और पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे लिप्त नहीं होता।

चक्कहर-राम-केसव-सुरवर-जिण-गणहराइसोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ [भा० प्रा० १६१]

विशुद्ध भाववाले मनुष्योंने चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, उत्तमदेव, तीर्थङ्कर और गणधरादिके सुखोंको और चारण मुनियोंकी ऋद्धियोंको प्राप्त किया है।

तित्थयर-गणहराइं अब्भुदयपरपराइं सुक्खाइं।
पावंति भावसहिया सखेवि जिणेहिं वज्जरिय ॥ [भा०प्रा० १२८]

भाव सहित मुनि तीर्थङ्कर गणधर आदि अभ्युदयोंकी परम्पराओंको और सुखोंको प्राप्त करते हैं। ऐसा संक्षेपसे जिनेन्द्र देवने कहा है।

भाव श्रवणोंको नमस्कार

ते वयणा ताण णमो दसण-वरणाण-चरणसुद्धाण।
भावसहियाण णिच्च तिविहेण पयट्ठमायाण ॥ [भा० प्रा० १२६]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे पवित्र तथा मन वचन काय अथवा कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा छल कपटसे रहित उन भावलिंगी मुनियोंको सदा हमारा नमस्कार है। वे मुनि धन्य हैं।

९. श्रामण्य-अधिकार

[सूत्र प्राभृतसे]

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ [सू० १]

जो अरहंत देवके द्वारा कहे हुए अर्थ-वस्तु तत्त्वसे युक्त है और गणधरदेवने सम्यक् रीतिसे जिसकी रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। इस सूत्रमें कहे हुए अर्थको खोजनेके लिये श्रमणगण परमार्थकी साधना करते हैं।

सुत्तम्मि जं 'सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टदि सिवमग्गि जो भव्वो ॥ [सू० २]

सूत्रमें जो कुछ कहा गया है उसे आचार्य परम्परासे आये हुए मार्गके द्वारा शब्द और अर्थ रूपसे जानकर जो मोक्ष मार्गमें लगता है वह भव्य है।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स 'विणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते समा' णो वि ॥ [सू० ३]

सूत्रको जान लेनेपर वह मुनि संसारका नाश कर देता है। जैसे सूत्र-डोरेसे रहित सुई नष्ट हो जाती है अर्थात् खो जाती है किन्तु सूत्र-डोरेके साथ होनेसे नहीं खोई जाती। [वैसे ही सूत्र सहित मुनि भी स्वयं नष्ट नहीं होता।]

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे ।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ [सू० ४]

डोरे सहित सुईकी तरह ही जो पुरुष ससूत्र होता है अर्थात् सूत्रके अर्थको हृदयमें विराजमान कर लेता है, वह संसार समुद्रमें पड़ा हुआ भी नाशको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् संसारमें नहीं डूबता। किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्षपूर्वक वह मनुष्य संसारको ही नष्ट कर देता है।

---

१. सुदिट्ठं आ०। २ विणासणं आ०, ग०। ३. सहाणोवि आ० ग०।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ [सू० ५]

जो मनुष्य जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए सूत्रमें वर्णित जीव आदि अनेक पदार्थोंको तथा हेय और उपादेयको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ [सू० ६]

जो सूत्र जिनदेवके द्वारा कहा गया है वह व्यवहार रूप और निश्चय रूप है। उसे जानकर योगी अविनाशी सुखको पाता है और कर्मरूपी मल समूहका नाश करता है।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ [सू० ७]

जो सूत्रके अर्थ और पदसे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये। वस्त्रधारी मनुष्यको खेलमें भी दिगम्बर मुनिकी तरह हाथमें भोजन नहीं करना चहिये।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ [1]एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिओ ॥ [सू० ८]

विष्णु और शिवके समान भी मनुष्य स्वर्गमें जाता है और करोड़ों भव धारण करता है फिर भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता, और संसारी ही कहाता है।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरिकम्मो य गरुयभारो य ।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि हवदि मिच्छत्तं ॥ [सू० ९]

उत्कृष्ट सिंहके समान आचरणवाला, बहुत क्रिया-कर्मको करता हुआ और कर्मोंके गुरुतर बोझसे लदा हुआ जो मुनि स्वच्छन्द विहार करता है वह मिथ्यादृष्टि है और पापका भागी है।

दिगम्बरत्व ही मोक्षका मार्ग है

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
इक्को वि मुक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ [सू० १०]

१ एय आ०।

परमपदमें स्थित जिनेन्द्रदेवने वस्त्ररहित दिगम्बरत्व और पाणिरूपी पात्रका उपदेश किया है। अर्थात् मुनिको दिगम्बर होना चाहिये और पाणिरूपी पात्रमें आहार करना चाहिये। यह एक ही मोक्षका मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं।

वन्दनीय मुनि

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए॥ [सू० ११]

जो प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयमका धारी है और आरम्भ तथा परिग्रहसे विरत है, देव असुर और मनुष्योंसे भरे हुए लोकमें वही वन्दनीय है।

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते हुंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू॥ [सू० १२]

सैकड़ों शक्तियोंसे युक्त जो साधु बाईस परीषहोंको सहन करते हैं और इस तरह कर्मोंका एक देश क्षयरूप निर्जराको करते हैं वे वन्दनीय हैं।

इच्छाकारके योग्य

[1]अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य [2]परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य॥ [सू० १३]

शेष जो लिंगधारी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हैं, किन्तु वस्त्रधारी हैं वे इच्छाकारके योग्य कहे गये हैं।

इच्छायारमहत्थं सुत्तट्ठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे[3] ट्ठिय सम्मत्तं [4]परलोयसुहंकरो होइ॥ [सू० १४]

जो सूत्रमें स्थित होता हुआ इच्छाकारके महान अर्थको जानकर कर्मोंका नाश करता है तथा सम्यक्त्वमें दृढ रहता है वह परलोकमें सुखका भागी होता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्मं सुकरेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिओ॥१५॥

---

१ अविसेसा अ०, अविसेसी ग० ऊ०। २ परिगलिया ग०। ३ ठाणो विय ग०। ४ परलोये ग०।

जो आत्माको नहीं चाहता अर्थात् आत्माकी भावना नहीं करता, और समस्त धर्माचरण करता है फिर भी उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे मनुष्यको संसारी ही कहा है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥१६॥

इस कारण हे भव्य जीवों! मन वचन कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो तथा प्रयत्न पूर्वक उस आत्माको जानो, जिससे तुम मोक्ष प्राप्त कर सको।

साधुका आचरण

बालग्गकोडिमित्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं एक्कठाणम्मि ॥१७॥

साधु बालकी नोकके बराबर भी परिग्रह नहीं रखते हैं। और एक स्थान पर खडे होकर हाथरूपी पात्रमें श्रावकके द्वारा दिये गये आहारको खाते हैं।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि [1]हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥१८॥

बालक जैसे नग्नरूपमें जन्म लेता है वही रूप साधुका होता है। वह अपने हाथोंमें तिलके छिलकेके बराबर भी पदार्थको ग्रहण नहीं करता। यदि थोडी बहुत परिग्रह रखता है तो उसके फलसे उसे निगोदमें जन्म लेना पडता है।

परिग्रही साधुकी निन्दा

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिओ जिण-वयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥१९॥

जिस लिंगमें थोडी बहुत परिग्रह रखी जाती है, आगममें वह लिंग निन्दनीय माना है। अनगार (गृह रहित साधु) परिग्रहसे रहित होता है।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

---

१ अत्थेसु क०।

जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तिसे युक्त होता है वह संयमी है और निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्गमें स्थित है। वही वन्दना करनेके योग्य होता है।

लिङ्गके भेद

दुइयं च वुत्त लिंगं उक्किट्ठ अवरसावयाण तु।
भिक्खं भमेइ पत्तो[1] समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकका कहा है। वह पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये घूमता है और भाषा समिति पूर्वक अथवा मौन पूर्वक भोजन प्राप्त करता है (?)।

स्त्रीका लिङ्ग

लिंग इत्थीण हवइ भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वट्टावरणेण (?) भुंजेइ ॥२२॥

तीसरा लिंग स्त्रीके होता है। आर्या भी एक वस्त्र धारण करती है और एक ही वार भोजन करती है (?)।

वस्त्रधारीको मोक्षका निषेध

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमुक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

जिन शासनमें वस्त्रधारीको मोक्ष नहीं मिलता चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है शेष सब मिथ्या मार्ग हैं।

स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तेसिं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

स्त्रियोंके योनि, स्तन, नाभि और काँख आदि स्थानोंमें सूक्ष्मकायिक जीव आगममें कहे हैं। उन्हें प्रव्रज्या—जिन दीक्षा कैसे हो सकती है?

जइ दंसणेण सुद्धा उत्तममग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया ॥२५॥

---

१ पत्ते ग ऊ। २ वत्थावरणे ऊ। ३ -सणी ऊ० आ०।

यदि स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी उत्तम मार्गमें स्थित है। वह घोर तपश्चरण भी करे किन्तु स्त्रियोंमें जिनदीक्षा नहीं कही गई है।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा[1] तेसिं इत्थीसु ण सकया झाणं ॥२६॥

स्त्रियोंका मन शुद्ध नहीं होता तथा स्वभावसे ही उनके परिणामोंमें ढीलापन होता है और प्रतिमास मासिक धर्म होता है। इन कारणोंसे स्त्रियोंमें सम्यक् ध्यान नहीं होता।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेल अत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

जो ग्रहण करने योग्य है उसको भी मुनि अल्प परिमाणमें ही ग्रहण करते हैं। जैसे समुद्रके जलको मनुष्य वस्त्र धोनेके लिये ही ग्रहण करता है। ठीक ही है जिनकी इच्छा दूर हो गई उनके सब दुःख दूर हो गये।

---

१० बारह अनुप्रेक्षा

मंगलाचरण

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥१॥

उत्तम ध्यानके द्वारा सुदीर्घ संसारका नाश करने वाले समस्त सिद्धोंको और चौबीस तीर्थङ्करोंको नमस्कार करके बारह अनुप्रेक्षाओंको कहूँगा।

बारह अनुप्रेक्षा

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसव-संवर-णिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥ २ ॥

---

1 ससा ऊ।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचिता, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक और बोधि ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं, इनका चिंतन करना चाहिये।

१ अध्रुव अनुप्रेक्षा

वर भवण जाण-वाहण-सयणासण-देव-मणुवरायाणं।
मादु-पिदु-सजण-भिच्च संबंधिणो य पिदिदिवाणिच्चा ॥३॥

उत्तम भवन, सवारी, वाहन, शय्या, आसन, देव, मनुष्य, राजा और माता पिता कुटुम्बी, सेवक आदि सम्बन्धी सब अनित्य हैं, बिछुडने वाले हैं।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

समस्त इन्द्रियाँ, रूप, नीरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य ये सब सदा रहने वाले नहीं हैं, किन्तु इन्द्रधनुषके समान चंचल हैं।

जलबुब्बुद-सक्कधणु खणरुचि-घणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥५॥

अहमिन्द्रोंके पद और बलदेव आदिकी पर्यायें जलके बुलबुले, इन्द्र-धनुष, बिजली और मेघकी शोभाकी तरह स्थिर नहीं होतीं। अर्थात् जैसे जलका बुलबुला वगैरह क्षण भंगुर है वैसे ही अहमिन्द्र आदिके पद भी क्षणभंगुर हैं।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥

जब जीवसे सम्बद्ध शरीर दूधमें मिले पानीकी तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तब भोग उपभोगके कारण जो स्त्री महल धन वगैरह हैं, जो कि शरीरसे भिन्न हैं, वे कैसे नित्य हो सकते हैं।

परमट्ठेण दु आदा देवासुर-मणुवराय-विभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥७॥

परमार्थसे तो आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजाके वैभवोंसे भिन्न है। तथा वह आत्मा नित्य है, ऐसा सदा विचारना चाहिये।

२ अशरणानुप्रेक्षा

मणि-मंतोसह-रक्खा हय-गय-रहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाण ण हि सरण तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

मरणकाल आने पर तीनों लोकोंमे मणि, मंत्र, औषधी, रक्षक, हाथी, घोडे, रथ, और समस्त विद्याएँ जीवोंको मृत्युसे वचानेमे समर्थ नहीं हैं।

सग्गो हवे हि दुग्ग भिच्चा देवा य पहरण वज्ज।
अइरावणो गइदो इदस्स ण विज्जदे सरण ॥९॥

स्वर्ग जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र अस्त्र है और ऐरावत हाथी हाथी है, उस इन्द्रका भी (मृत्यु आने पर) कोई शरण नहीं है।

णवणिहि चउदहरयण हय-मत्तगइद-चाउरगवल।
चक्केसस्स ण सरण पेच्छतो कद्दिये (?) काले ॥१०॥

नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोडे, मत्त हाथी और चतुरंग सेना मृत्युको सन्मुख देखते हुए चक्रवर्तीके शरणभूत नहीं हैं। अर्थात् ये सब भी उसे मौतसे नहीं वचा सकते।

जाइ-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरण वधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्माकी रक्षा करता है इसलिये कर्मोंके वन्ध, उदय और सत्तासे रहित शुद्ध आत्माही शरण है।

अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ॥१२॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी भी आत्मामें ही निवास करते हैं। अर्थात् आत्मा ही पच परमेष्ठी स्वरूप है, इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।

सम्मत्त सण्णाणं सच्चारित्त च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ॥१३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मामें ही हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।

३ एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

जीव अकेला कर्म करता है, अकेला ही सुदीर्घ संसारमें भ्रमण करता है, अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला ही अपने किये हुए कर्मका फल भोगता है ।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

संसारिक विषयोंके निमित्तसे तीव्र लोभसे प्रेरित होकर जीव अकेला ही पाप कर्म करता है और नरक और तिर्यञ्च गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है ।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

धर्मके निमित्तसे, पात्रदानके द्वारा अकेला ही जीव पुण्य उपार्जन करता है और मनुष्य गति तथा देव गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है ।

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥१७॥

सम्यग्दर्शनसे युक्त साधुको उत्तम पात्र कहा है । और सम्यग्दृष्टि श्रावकको मध्यम पात्र जानना चाहिये ।

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि सपरिक्खेज्जो ॥१८॥

जैन आगममें अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा है और जो सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित है वह अपात्र है । इस प्रकार पात्रकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये ।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥१९॥

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट (रहित) हैं वे ही भ्रष्ट हैं । सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट

जीवका मोक्ष नहीं होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे (चारित्र धारण करलेने पर) मोक्ष जा सकते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥२०॥

संयमी साधु ऐसा विचारता है कि मैं एकाकी हूँ, ममत्वसे रहित हूँ, शुद्ध हूँ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मेरा लक्षण है, ऐसा शुद्ध एकत्व ही उपादेय है।

४ अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादा-पिदर-सहोदर-पुत्त-कलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥२१॥

मात, पिता, सहोदर भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुओंका समूह जीवके साथ सम्बद्ध नहीं है, ये सब अपने अपने कार्यवश होते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥२२॥

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया, ऐसा मानता हुआ एक जीव दूसरे जीवके विषयमें तो शोक करता है किन्तु संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए अपने आत्माके विषयमें शोक नहीं करता।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥

यह शरीर आदि जो बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य (भिन्न) है। आत्मा ज्ञान दर्शन रूप है, इस प्रकार मुनि अन्यत्वका चिन्तन करता है।

५ संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे जाइ जरा-मरण-रोग-भयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

जिन भगवानके द्वारा बतलाये हुए मार्गको न जानने वाला जीव जन्म, बुढापा, मृत्यु, रोग आदि भयोंमे भरे हुए पंच प्रकारके संसारमें

चिरकालसे परिभ्रमण करता है। [पुद्गल परिवर्त, क्षेत्र परिवर्त, काल परिवर्त, भव परिवर्त और भाव परिवर्तके भेदसे संसार पाँच प्रकारका है। संसारका मतलब है—भटकना। आगे प्रत्येक परावर्त रूप संसारका स्वरूप बतलाते हैं]

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥२५॥

पुद्गल परिवर्त रूप संसारमें, इस एकाकी जीवने अनन्तवार समस्त पुद्गलों को भोग भोगकर छोड दिया। [समस्त पुद्गलोंको क्रमानुसार भोगकर छोड देनेका नाम पुद्गल परिवर्त संसार है]।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

समस्त लोकरूपी क्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह जीव उत्पन्न न हुआ हो। अनेक प्रकारकी अवगाहना धारण करके इस जीवने क्षेत्र संसारमें परिभ्रमण किया।

अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें अनेकबार जन्मा और मरा। और इस तरह उसने काल संसारमें परिभ्रमण किया।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥२८॥

मिथ्यात्वके सम्बन्धसे इस जीवने नरककी जघन्य आयुसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी भवस्थितिको अनेक वार भ्रमण करके भोगा। अर्थात् वारवार भव धारण करके नरकगतिकी जघन्य आयु दस हजार वर्षसे लेकर तेतीससागर पर्यन्त उत्कृष्ट आयुको भोगा, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तककी उत्कृष्ट आयुको भोगा। फिर देवगतिकी जघन्य आयु दस हजार वर्षसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर भोगी। इसीका नाम भव परिवर्तन है। [मिथ्यादृष्टि जीव ही पाँच परावर्तन करता है और

मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्गमें उपरिम ग्रैवेयक तक ही जन्म ले सकता है। इसलिये स्वर्गमे उपरिमग्रैवेयक तककी ही हद रक्खी गई है]।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९॥

इस जीवने समस्त कर्म प्रकृतियोंकी सब स्थितियों, सब अनुभागबन्ध स्थानों और सब प्रदेशबन्ध स्थानोंको भोगा और इस तरह मिथ्यात्वके वश होकर भाव संसारमें भ्रमण किया। [ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भेद हैं। एक एक स्थितिके कारण असंख्यात लोक कषाय-अध्यवसाय स्थान हैं। एक एक कषाय स्थानके कारण असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय स्थान हैं और एक एक अनुभाग स्थानमें निमित्त असंख्यात योग स्थान हैं। समस्त योग स्थानों, अनुभागाध्यवसायस्थानों और कषायाध्यवसायस्थानोंके द्वारा सब कर्म प्रकृतियोंकी अपने योग्य स्थितियोंको भोगनेका नाम भावपरिवर्तन है। इस प्रकार पाँच परिवर्तनोंकी अपेक्षा संसारके पाँच भेद होते हैं]।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

जो जीव पुत्र और स्त्री आदिके लिये पाप बुद्धिसे धन कमाता है और दया-दानसे बचता है वह जीव संसारमें भ्रमण करता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धण-धण्णो त्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन-धान्य, इस प्रकारकी तीव्र लालसासे धर्म बुद्धिको छोडकर पीछे वह जीव दीर्घ संसारमें रुलता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं ।
कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव जिनेन्द्रके द्वारा कहे हुए धर्मकी निन्दा करता है और खोटे धर्म, खोटे लिंग और खोटे तीर्थोंको मानता है। जिससे वह संसारमें भ्रमण करता है।

हतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्व-परकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

जीवराशिका घात कर, मधु मास और शरावका सेवन कर तथा परधन और पर स्त्रीको अंगीकार कर यह जीव संसारमें भ्रमण करता है।

जत्तेण कुणइ पाव विसयणिमित्त च अहणिस जीवो।
मोहधयारसहिओ तेण दु परिपडदि ससारे ॥३४॥

मोहरूपी अंधकारमें पडा हुआ जीव विषयोंके लिये रात दिन प्रयत्न पूर्वक पाप करता है और उससे संसारमें रुलता है।

णिचिदर-धादुसत्त य तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥३५॥

नित्य निगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, और वायुकाय, प्रत्येककी सात सात लाख योनियाँ हैं, प्रत्येक वनस्पतिकी दस लाख योनियाँ हैं, विकलेन्द्रियोंकी छै लाख योनियाँ हैं, देव नारकी और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमेंसे प्रत्येककी चार चार लाख योनियाँ हैं और मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ हैं। इस तरह सब चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें ससारी जीव भ्रमण करता है।

सजोगविप्पजोग लाहालाह सुह च दुक्ख च।
ससारे भूदाण होदि हु माण तहावमाण च ॥३६॥

संसारमें प्राणियोंको संयोग वियोग, लाभ हानि, सुख दुःख और और मान अपमान प्राप्त होते हैं।

कम्मणिमित्त जीवो हिंडदि ससारघोरकतारे।
जीवस्स ण ससारो णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को ॥३७॥

कर्मोंके निमित्तसे यह जीव संसार रूपी भयानक वनमे भ्रमण करता है। किन्तु निश्चयनयसे जीव कर्मोंसे मुक्त है इस लिये उसे ससार भी नहीं है।

ससारमदिक्कतो जीवोवादेयमिदि विचिंतेज्जो।
ससारदुहक्कतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतेज्जो ॥३८॥

संसारसे छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचारना चाहिये। और संसारके दुःखोंमें फँसा हुआ जीव हेय है, छोड़ने योग्य है, ऐसा विचारना चाहिये।

६ लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥३९॥

जीव आदि पदार्थोंके समवायको लोक कहते हैं। लोकके तीन भेद हैं अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीववुरासयो सखा ।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढ हवे मोक्खो ॥४०॥

नीचे अधोलोकमें नारकी रहते हैं। मध्य लोकमें असंख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र हैं। ऊपर ऊर्ध्वलोकमें स्वर्गोंके त्रेसठ पटल हैं और उन सबसे ऊपर मोक्ष स्थान है।

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥४१॥

सौधर्म और ईशान कल्पमें विमानोंके इक्तीस पटल हैं, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात पटल हैं, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्पमें चार पटल हैं, लातव और कापिष्ठ कल्पमें दो पटल हैं, शुक्र और महाशुक्र कल्पमें एक पटल है, शतार और सहस्रार कल्पमें एक पटल है तथा अन्तके आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पोंमें छै पटल हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गोंमें [३१+७+४+२+१+१+६] कुल ५२ पटल हैं। और स्वर्गोंसे ऊपर नौ ग्रैवेयकोंमेंसे प्रत्येक ग्रैवेयकका एक एक पटल होनेसे नौ पटल हैं। नवग्रैवेयकोंके ऊपर अनुदिशोंका एक पटल है और अनुदिशोंसे ऊपर पञ्च अनुत्तरोंका एक पटल है। इस प्रकार सब मिलाकर ऋतु आदि ६३ पटल हैं।

असुहेण णिरय-तिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

अशुभ उपयोगसे नरक गति और तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है, शुभ उपयोगसे देवगति और मनुष्य गतिका सुख प्राप्त होता है, तथा शुद्ध उपयोगसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार लोकका विचार करना चाहिये।

७ अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं मसविलित्तं तएण ओच्छण्णं ।
किमिसङ्कुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकाल ॥४३॥

यह शरीर हड्डियोंसे बना है, मांससे लिपटा हुआ है और चर्मसे ढका है। तथा कीट समूहोंसे भरा है अतः सदा गन्दा रहता है।

दुग्गंध बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहाव देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥४४॥

यह शरीर दुर्गन्धसे युक्त है, बीभत्स (घिनावना) है, कलुषित मलसे भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है, तथा अवश्य ही नष्ट होनेवाला है ऐसा विचारना चाहिये।

रस रुहिर-मंस-मेदट्ठी-मज्जसंकुल मुत्त पूय-किमिबहुल।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥४५॥

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डि, मज्जा आदि सात धातुओंसे युक्त है। मूत्र, पीव, कृमियोंसे भरा है, दुर्गन्ध मय है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और नष्ट होने वाला है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलओ।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥४६॥

देहसे भिन्न, कर्मोंसे रहित, और अनन्त सुखका भण्डार आत्मा ही श्रेष्ठ है इस प्रकार सदा चिन्तन करना चाहिये।

८ आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्त अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण-पण-चउ-तियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥४७॥

पाँच प्रकारका मिथ्यात्व, पाँच अविरति, चार कषाय और तीन प्रकारका योग आस्रवके कारण हैं, आगममें इनका विस्तारसे कथन किया गया है।

एयंत-विणय-विवरिय-संसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥४८॥

एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पाँच मिथ्यात्वके भेद हैं। और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके भेदसे पाँच प्रकारकी अविरति है।

कोहो माणो माया लोहो वि य चउव्विह कसाय खु।
मणवचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९॥

क्रोध, मान, माया, और लोभ यह चार प्रकारकी कषाय है। तथा मनो योग, वचन योग और काययोगके भेदसे योगके तीन भेद जानने चाहियें।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ॥५०॥

तीनों योगोंमेंसे प्रत्येक योग अशुभ और शुभके भेदसे दो प्रकारका होता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका होना अशुभ मन है।

किण्हादि तिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।
ईसा विसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

कृष्ण नील कापोत ये तीन लेश्या, इन्द्रियसे होने वाले सुखमें तृष्णा भाव, ईर्षा और विषाद भाव, इन सबको जिनेन्द्र देव अशुभ मन जानते हैं। अर्थात् खोटे विचारोंसे युक्त मनको अशुभ मन कहते हैं। कषाय, लेश्या, संज्ञा वगैरह अशुभ भावोंकी कारण हैं इसलिये इन्हे अशुभ मन कहा है।

रागो दोसो मोहो हास्सादि णोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

राग, द्वेष, मोह और हास्य आदि नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म हों, उन्हे जिनेन्द्रदेव अशुभ मन जानते हैं।

भत्तित्थि-राय-चोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधण-छेदण-मारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरोंकी कथा करना अशुभ वचन है। बाँधना, छेदना, मारना आदि क्रियाओंको करना अशुभ काय है अर्थात् बुरी अथवा व्यर्थकी बातोंका कहना अशुभ वचन है और शरीरसे बुरी क्रियाओंका करना, जिससे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो, अशुभ काय है।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वद-समिदि-सील-संजम परिणाम सुहमणं जाणे ॥५४॥

ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों और अशुभ भावोंको छोड़कर व्रत, समिति शील और संयम रूप परिणामोंका होना शुभ मन है अर्थात् शुभ भावोंसे युक्त मनको शुभ मन कहते हैं।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

जो वचन संसाररूपी बन्धनको काटनेमें कारण हैं उन वचनोंको जिनदेवने शुभ वचन कहा है। और जिनेन्द्र देव वगैरहकी पूजाके लिये जो चेष्टा की जाती है वह शुभ काय है।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे ।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥५६॥

यह जन्म मरण रूपी समुद्र बहुत दोषरूपी लहरोंसे और दुखरूपी मगर मच्छोंसे भरा है। इसमें जीवका भटकना कर्मोंके आस्रवका कारण है।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे ।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥५७॥

कर्मोंका आस्रव होनेसे जीव संसाररूपी भयानक समुद्रमें डूबजाता है। जो क्रिया ज्ञान पूर्वककी जाती है वह परंपरासे मोक्षका कारण होती है।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥५८॥

कर्मोंके आस्रवके कारण जीव शीघ्र ही जन्म मरण रूपी समुद्रमें डूब जाता है अर्थात् उसे संसारमें भ्रमण करना पडता है। इसलिये कर्मोंके आस्रव रूप क्रियाको मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥५९॥

कर्मोंके आस्रवरूप क्रियासे परम्परासे भी मोक्ष नहीं होता। आस्रव संसारमें भटकनेका कारण है, इसलिये उसे निन्दनीय ही जाना। अर्थात् जो लोग पुण्यकर्मके आस्रवको अच्छा मानते हैं और परम्परासे उसे मोक्षका कारण मानते हैं, उनके लिये आचार्य कहते हैं कि पाप कर्मोंका आस्रव हो या पुण्यकर्मोंका आस्रव हो, आस्रव तो आस्रव ही है। जब तक

आस्रव है तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये आस्रवको रोकना ही हितकर है।

पुव्वुत्तासवभेया णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्क अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६०॥

निश्चयनयसे पूर्वोक्त आस्रवके भेद जीवके नहीं हैं। इसलिये सदा आत्माको शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रवसे अथवा द्रव्यास्रव और भावास्रवसे मुक्त ही विचारना चाहिये।

६ संवरानुप्रेक्षा

चल-मलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥६१॥

सम्यक्त्वके चल मलिन और अगाढ दोषोंको छोडकर सम्यग्दर्शन-रूपी दृढ कपाटोंके द्वारा मिथ्यात्व रूप आस्रव द्वार रुक जाता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। [आशय यह है कि आस्रवके चार द्वार हैं—मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग। निर्दोष सम्यग्दर्शनको धारण करनेसे आस्रवका प्रथम मुख्यद्वार मिथ्यात्व बन्द हो जाता है और उसके द्वारा आने वाले कर्म रुक जाते हैं। इसीको संवर कहते हैं]।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादिआसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहि ॥६२॥

मनसे पाँच महाव्रतोंको धारण करनेसे अविरतिसे आनेवाले कर्म नियमसे रुक जाते हैं। और क्रोध आदि कषाय रूप आस्रवके द्वार कषाय-रहित कपाटोंसे बन्द हो जाते हैं।

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥

शुभयोगकी प्रवृत्ति अशुभ योगसे आने वाले कर्मोंको रोक देती है। और शुद्धोपयोगके द्वारा शुभयोगसे आने वाले कर्मोंका निरोध हो जाता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं ॥६४॥

शुद्धोपयोगके होनेसे जीवके धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान होते हैं। अतः संवर ध्यानका कारण है ऐसा सदा विचारना चाहिये।

जीवस्स ण सवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
सवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६५॥

निश्चय नयसे जीवके संवर नहीं है, क्योंकि जीव सदा शुद्ध भाव वाला है। यदि जीवके अशुद्ध भाव होते तो आस्रव होता और आस्रव होता तो संवर भी होता। किन्तु निश्चयनय उपाधिरहित वस्तुस्वरूपको ही ग्रहण करता है इसलिये निश्चयनयसे जीव सदा शुद्धोपयोगी है। अतः उसके न आस्रव है और न सवर है। इसलिये सदा आत्माको सवर भावसे रहित विचारना चाहिये।

१० निर्जरानुप्रेक्षा

बधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं।
जेण हवे सवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ॥६६॥

बधे हुए कर्मोंके प्रदेशोंके गलनेको निर्जरा कहते है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है। जिन कारणोंसे संवर होता है उन्हींसे निर्जरा होती है।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥

वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक उदयकाल आने पर कर्मोंका स्वय पककर झड जाना और एक तपके द्वारा उदयावली वाह्य कर्मोंको वलात् उदयमें लाकर खिराना। चारों गतिके जीवोंके पहली निर्जरा होती है और व्रती पुरुषके दूसरी निर्जरा होती है।

११ धर्मानुप्रेक्षा

एयारस-दसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥

उत्तम सुखमें मग्न अरहंत देवने गृहस्थों और मुनियोंके धर्मको क्रमसे ग्यारह और दस भेदवाला कहा है। वह धर्म सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। अर्थात् गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मकी अपेक्षा धर्मके दो भेद हैं। गृहस्थ धर्मके ग्यारह भेद हैं और मुनि धर्मके दस भेद हैं। दोनों ही धर्म

कखाभावणिविर्त्ति किचा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥७५॥

जो उत्कृष्ट मुनि आकांक्षा भावको दूर करके वैराग्य भावनासे युक्त रहता है, उसके शौच धर्म होता है।

वद-समिदिपालणाए दंडचाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥७६॥

मन वचन और कायकी प्रवृत्तिको त्याग कर और इन्द्रियोंको जीतकर जो पाँच महाव्रतोंको धारण करता है और पाँच समितियोंका पालन करता है उसके नियमसे संयम धर्म होता है।

विसय कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥७७॥

विषय और कषाय भावका विनिग्रह करके जो ध्यान और स्वाध्यायके द्वारा आत्माकी भावना भाता है उसके नियमसे तपधर्म होता है।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

जो समस्त द्रव्योंसे मोह त्याग कर तीन प्रकारके निर्वेदको भाता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥७९॥

जो मुनि समस्त परिग्रहको छोड़कर और सुख दुःख देनेवाले आत्म-भावोंका निग्रह करके निर्द्वन्द्व रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

सव्वंग पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि (?) खलु दुद्धरं धरदि ॥८०॥

जो स्त्रियोंके सब अंगोंको देखता हुआ भी उनमें खोटे भाव नहीं करता। वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्यभावका धारी है।

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो ।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ॥८१॥

जो जीव श्रावकधर्मको छोड़कर मुनिधर्मको धारण करता है वह मोक्ष-रूप धर्मको नहीं छोड़ता। अर्थात उसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। ऐसा सदा चिन्तन करना चाहिये।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं ॥८२॥

निश्चयनयसे जीव गृहस्थ धर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है। अर्थात न गृहस्थधर्म ही आत्माका स्वरूप है और न मुनिधर्म ही आत्माका स्वरूप है। अतः दोनो धर्मोंमें मध्यस्थभाव रखते हुए सदा शुद्ध आत्माका चिन्तन करना चाहिये।

१२ बोधि-अनुप्रेक्षा

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंत दुल्लहं होदि ॥८३॥

जिस उपायसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपायकी चिन्ता होती है क्योंकि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति हवेदि सण्णाणं ॥८४॥

कर्मोंके उदयसे होनेवाली पर्याय होनेके कारण, क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है। इस प्रकारके निश्चयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥८५॥

निश्चयनयसे आठ मूल कर्मोंकी असंख्यात लोकप्रमाण मिथ्यात्व आदि उत्तर प्रकृतियाँ (भेद प्रभेद) पर द्रव्य हैं। और आत्मा स्वद्रव्य है।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेयं णिच्छये णत्थि।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥८६॥

इस प्रकार चिन्तन करनेसे हेय और उपादेयका ज्ञान होता है। निश्चयनयसे तो न कोई हेय है और न उपादेय है। किन्तु मुनिको संसारसे विरक्त होनेके लिये ज्ञानका विचार करना चाहिये।

उपसंहार

बारस अणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयण समाहि तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥८७॥

अतः बारह अनुप्रेक्षाओंको तथा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधिको बारम्बार विचारना चाहिये ।

रत्तिदिव पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहि-सामइयं ।
आलोयण पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥८८॥

यदि अपनी शक्ति है तो रात दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचनाको करना चाहिये ।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥

अनादिकालसे बारह अनुप्रेक्षाओंका भली-भाँति चिन्तन करनेसे जो पुरुष मोक्ष गये हैं, मैं उन्हें बारंबार नमस्कार करता हूँ ।

किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहदि जे वि भविया तं जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥

अधिक कहनेसे क्या ? जो श्रेष्ठ मनुष्य अतीत कालमें सिद्ध हुए हैं तथा आगामी कालमें भी जो भव्य पुरुष सिद्ध होंगे, वह सब अनुप्रेक्षाओंका माहात्म्य जानो ।

इदि णिच्छय ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

इस प्रकार मुनियोंके स्वामी कुन्दकुन्दने जो निश्चय और व्यवहारका कथन किया है, उसे जो शुद्ध मन होकर भाता है वह उत्तम निर्वाणको प्राप्त करता है ।

११. भक्ति अधिकार

१ पञ्चनमस्कार

णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण॥

अर्हन्तोंको नमस्कार, सिद्धोंको नमस्कार, आचार्योंको नमस्कार। उपाध्यायोंको नमस्कार, लोकमें सब साधुओंको नमस्कार।

मंगलसूत्र

चत्तारि मगल, अरहता मगल, सिद्धा मगल।
साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल॥

चार मगल रूप हैं—अर्हन्त मंगल रूप हैं, सिद्ध मंगल रूप हैं, साधु मंगलरूप हैं और केवलीके द्वारा कहा गया धर्म मंगलरूप है।

लोकोत्तमसूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा-अरहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥

चार लोकमे उत्तम हैं—अर्हन्त लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं। साधु लोकोत्तम हैं और केवलिके द्वारा कहा गया धर्म लोकोत्तम है।

शरणसूत्र

चत्तारि सरण पव्वज्जामि-अरहते सरण पव्वज्जामि सिद्धे सरण पव्वज्जामि,
साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि॥

मैं चारकी शरण जाता हूँ—अर्हन्तकी शरण जाता हूँ, सिद्धकी शरण जाता हूँ, साधुकी शरण जाता हूँ और केवलिके द्वारा कहे धर्मकी शरण जाता हूँ।

२ तीर्थङ्कर भक्ति

थोस्सामि ह जिणवरे तित्थयरे केवली अणतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे॥१॥

साहरणासाहरणे समुग्घादेदरे य णिव्वादे ।
ठिदपलियंकणिसण्णे विगयमले परमणाणगे वंदे ॥५॥

जिन्होंने मतिज्ञान श्रुतज्ञानको, अथवा मति श्रुत अवधि ज्ञानको अथवा मति श्रुत अवधि मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंको प्राप्त करनेके पश्चात् केवल ज्ञानको प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया है, तथा जिन्होंने पाँचों संयमोंको अथवा परिहार विशुद्धिके सिवाय शेष चार संयमोंको धारण करके सिद्ध पद प्राप्त किया है, तथा जो सिद्ध पद प्राप्त करनेसे पहले संयम, सम्यक्त्व और ज्ञानसे च्युत हुए और जो इनसे च्युत नहीं हुए, तथा जो उपसर्ग वश आभरणके साथ सिद्ध हुए और जो निराभरण दिगम्बर अवस्थामें सिद्ध हुए, जो समुद्घात करके सिद्ध हुए अर्थात् आयु कर्मकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र और शेष तीन अघाति कर्मोंकी अधिक स्थिति होनेपर जिन केवलियोंने समुद्घातके द्वारा कर्मोंकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त करनेके पश्चात् निर्वाण पद लिया, उन समुद्घात सिद्धोंको और समुद्घातके बिना जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया उन सिद्धोंको, तथा कायोत्सर्ग, अथवा पर्यंकासनसे सिद्ध पदको प्राप्त करने वाले मुक्त जीवोंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥६॥

जो पुरुष भावपुरुषवेदका अनुभवन करते हुए क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ हुए और जो भाव स्त्री वेद तथा भाव नपुंसक वेदके उदयमें क्षपक श्रेणीपर आरूढ हुए वे पुरुष शुक्ल ध्यानके द्वारा सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं ।

पत्तेयसयबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा ।
पत्तेय पत्तेय समय समय पणिवदामि सदा ॥७॥

प्रत्येक बुद्ध सिद्ध (जो किसी कारणसे प्रेरित होकर विरक्त हुए और पश्चात् जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया), स्वयं बुद्ध सिद्ध (जो बिना किसी बाह्य प्रेरणाके स्वयं विरक्त हुए और फिर जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया), और बोधित बुद्ध सिद्ध (जो दूसरेके समझानेसे बोधको प्राप्त हुए और फिर जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया) उनको पृथक् पृथक् प्रत्येकको तथा साथ साथ सबको सदा नमस्कार करता हूँ ।

पण-णव-दु-अट्ठवीसा चउतियणवदी य दोण्णि पचेव ।
बावण्णहीणवियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥८॥

ज्ञाना वरण कर्मकी पाँच, दर्शनावरण कर्मकी नौ, वेदनीय कर्मकी दो, मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस, आयु कर्मकी चार, नाम कर्मकी तिरानवे, गोत्र कर्मकी दो और अन्तराय कर्मकी पाँच इस प्रकार आठों कर्मोंकी ५२ कम २०० (२० –५२ = १४८) अर्थात् १४८ प्रकृतियोंको नष्ट करके वे सिद्ध होते हैं।

अइसयमव्वाबाह सोक्खमणतं अणोवम परम।
इदियविसयातीद अप्पत्त अच्चव च ते पत्ता ॥९॥

उन सिद्धोंने जो सुख प्राप्त किया वह अतिशय अर्थात् संसार अवस्था में प्राप्त सुखोंसे बहुत अधिक है, अव्याबाध-बाधासे रहित है अर्थात् उस सुखकी अनुभूतिमें कभी कोई बाधा नहीं आती, अनन्य है—उसका कभी अन्त नहीं होता, अनुपम है—उसकी तुलना संसारके किसी सुखसे नहीं की जा सकती, उत्कृष्ट है, इन्द्रिय विषयोंसे अतीत हैं, सिद्ध पद प्राप्त करनेसे पहले ऐसा सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। और प्राप्त हो जानेके बाद वह कभी छूटता नहीं, सदा बना रहता है।

लोयग्गमत्थयत्था चरमसरीरेण ते हु किंचूणा।
गयसित्थमूसगब्भे जारिस आयार तारिसायारा ॥१०॥

वे सिद्ध लोकके अग्रभागमें सिद्ध शिलापर विराजमान रहते हैं, जिस शरीरसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है उससे उनका आकार कुछ न्यून रहता है। मोमसे बने मूषकका मोम गल जानेपर उसके अन्तर्वर्ती आकाशका जैसा आकार रहता है वैसा ही आकार सिद्धोंका होता है।

जर-मरण-जम्म-रहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
दिंतु वरणाणलाह बुहयणपरिपत्थण परमसुद्धं ॥११॥

जरा, मरण और जन्मसे रहित वे सिद्ध परमेष्ठी सम्यक् भक्तिसे युक्त मुझ कुन्दकुन्दको उस परम शुद्ध उत्तम ज्ञानका लाभ दें, जिसके लिये बुधजन प्रार्थना किया करते हैं।

किच्चा काउस्सग्ग चउरट्ठयदोसविरहिय सुपरिसुद्ध।
अइभत्तिसपउत्तो जो वदइ लहु लहइ परमसुह ॥१२॥

जो बत्तीस दोषोंसे रहित अति शुद्ध कायोत्सर्गको करके अत्यन्त भक्तिपूर्वक वन्दना करता है वह शीघ्र ही परम सुखको प्राप्त करता है।

२ श्रुतभक्ति

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
काऊण णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाई ॥१॥

जिनका श्रेष्ठ शासन (मत) सकल लोकमें प्रसिद्ध है और जो कर्मोंके चक्रसे मुक्त हो चुके हैं उन सिद्धोंको नमस्कार करके बारह अंगोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं।

अंगोंके नाम

आयारं सुद्दयडं ठाणं समवाय वियाहपण्णत्ती ।
णाणा (णाहा) धम्मकहाओ उवासयाणं च अज्झयणं ॥२॥
वंदे अंतयडदसं अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं ।
एयारसमं च तहा विवायसुत्तं णमंसामि ॥३॥
परियम्मसुत्त पढमाणुओग-पुव्वगय-चूलिया चेव ।
पवरवरदिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि ॥४॥
उप्पायपुव्वमग्गायणीय वीरियत्थिणत्थिय पवादं ।
णाणा-सच्चपवाद आदा-कम्मपवादं च ॥५॥
पच्चक्खाणं विज्जाणुवाद कल्लाणणामवरपुव्वं ।
पाणावायं किरियाविसालमध लोयबिंदुसारसुदं ॥६॥

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति, नाथ धर्मकथा, या ज्ञातृ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपाद दश, प्रश्न व्याकरण, तथा ग्यारहवें विपाक सूत्र अंगको नमस्कार करता हूं। परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका ये पाँच दृष्टिवादके भेद हैं। उस पाँच प्रकारके सर्वश्रेष्ठ दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगको नमस्कार करता हूं। उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति नास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणनाम धेय, प्राणवाद, क्रिया विशाल, लोक बिन्दुसार ये चौदह पूर्व हैं।

पूर्वोंमें वस्तु नामक अधिकारोंकी संख्या

दस चउदस अट्ठारस बारस तह य दोसु पुव्वेसु ।
सोलस वीस तीस दसमम्मि य पण्णरसवत्थू ॥७॥

घादिकम्मविघादत्थं घादिकम्मविणासिणा ।
भासियं भव्वजीवाणं चारित्तं पंचभेददो ॥२॥

तीनों लोकोंमें रहने वाले सब जीवोंके हितकारी, धर्मके उपदेष्टा सर्वज्ञ वर्धमान महावीरको नमस्कार करता हूं। घाति कर्मोंका विनाश करनेवाले भगवान महावीरने घातिकर्मोंको नष्ट करनेके लिये, भव्य जीवोंको पांच प्रकारका चारित्र कहा है।

चारित्रके पांच भेद

सामाइयं तु चारित्तं छेदोवट्ठावणं तहा ।
तं परिहारविसुद्धिं च संपरायं सुहुमं पुणो ॥३॥

जहाखादं तु चारित्तं तहाखादं तु तं पुणो ।
किच्चाहं पंचहाचारं मंगलं मलसोहणं ॥४॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, ये पांच प्रकारका चारित्र है। यथाख्यातको तथाख्यात भी कहते हैं। कर्मरूपी मलका शोधन करने वाले और मंगल स्वरूप इस पांच प्रकारके चारित्रको धारण करके मैं मुक्तिको प्राप्त करता हूँ।

मुनियोंके मूल गुण और उत्तरगुण

अहिंसादीणि उत्ताणि महव्वयाणि पंच य ।
समिदीओ तदो पंच पंच इंदियणिग्गहो ॥५॥

छब्भेयावास भूसिज्जा अण्हाणत्तमचेलदा ।
लोयत्तं ठिदिभुत्ति च अदंतधावणमेव य ॥६॥

एयभत्तेण संजुत्ता रिसिमूलगुणा तहा ।
दसधम्मा तिगुत्तीओ सीलाणि सयलाणि य ॥७॥

सव्वे वि परीसहा उत्तरगुणा तहा ।
अण्णे वि भासिया संता तेसिं हाणिं मए कया ॥८॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ, स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र इन पाचों इन्द्रियोंका निग्रह, सामायिक स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छै आवश्यक,

पृथ्वीपर शयन, स्नान न करना, दिगम्बर रहना, केशलोच करना, खडे होकर भोजन करना, दन्त धावन न करना, तथा दिनमें एक वार भोजन करना, ये साधुओंके २८ मूल गुण हैं। उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, तीन गुप्ति (मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति), सब प्रकारका शील, सर्व परीषहोंको जीतना, ये मुनियोंके उत्तर गुण कहे हैं। केवल ये ही उत्तर गुण नहीं हैं अन्य भी उत्तर गुण जिनेन्द्रदेवने कहे हैं। यदि उनका पालन करते हुए मैंने उनकी हानि की हो तो—

जइ राएण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा ॥९॥
संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं ॥१०॥

यदि रागसे, द्वेषसे, मोहसे अथवा अनादरसे उन मूलगुणों और उत्तर गुणोंमे क्षति पहुँची हो तो सम्यक् रीतिसे सम्पूर्ण संयमका पालन करने वाले मुझ संयमी मुमुक्षुको सब सिद्धोंको नमस्कार करके उस हानिका परित्याग करना चाहिये, क्योंकि सकल संयमकी सिद्धिसे मुक्तिका सुख प्राप्त होता है।

५ योगि-भक्ति

थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहि।
अंजलि-मउलिय-हत्थो अभिवंदंतो सविभवेण ॥१॥

दोनों हाथोंको जोडकर अपनी सामर्थ्यके अनुसार वन्दना करता हुआ मैं, गुणोंके धारक अनगारों (मुनियों) का तात्विक गुणोंके द्वारा स्तवन करता हूं।

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे ॥२॥

मुनि दो प्रकारके जानने चाहियें—एक समीचीन भावोंसे सम्पन्न भावलिंगी और एक मिथ्याभावसे सम्पन्न द्रव्यलिंगी। मिथ्याभाववाले द्रव्यलिंगी मुनिको छोडकर भावलिंगी मुनियोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

दो दोसविप्पमुक्के तिदंडविरदे तिसल्लपरिसुद्धे।
तिण्णियगारवरहिदे तियरणसुद्धे णमंसामि ॥३॥

जो मुनि राग और द्वेषसे विमुक्त हो चुके हैं, मन वचन कायके व्यापारसे विरत हैं माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित होनेसे अति विशुद्ध हैं, शब्दगारव ऋद्धिगारव और रसगारव इन तीन गारवों (घमण्डों) से रहित हैं और जिनके मन वचन और कायकी प्रवृत्ति विशुद्ध हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

चउविहकसायमहणे चउगंइसंसारगमणभयभीए।
पचासवपडिविरदे पंचिंदियणिज्जिदे वंदे ॥४॥

जिन्होंने क्रोध मान माया लोभरूप चार कषायोंका मथन (विनाश) कर डाला है, जो चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेके भयसे भीत हैं, जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके निमित्तसे होनेवाले आस्रवसे विरत हैं तथा पाँचो इन्द्रियोंको जिन्होंने जीत लिया है, उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

छज्जीवदयापण्णे छडायदणविवज्जिदे समिदभावे।
सत्तभयविप्पमुक्के सत्ताण सिवकरे वंदे ॥ ५ ॥

छ कायके जीवोंपर दयालु, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा उनके धारक मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री मनुष्य इन छ आयतनोंसे रहित, क्रोधादि कषायोंका उपशम करनेवाले, सात प्रकारके भयसे मुक्त और प्राणियोंके लिये कल्याणकारी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

णट्ठट्ठमयट्ठाणे पणट्ठ-कम्मट्ठणट्ठसंसारे।
परमट्ठणिट्ठियट्ठे अट्ठगुणट्ठीसरे वंदे ॥६॥

जिन्होंने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि तप और शरीर सम्बन्धी आठ मदोंको नष्ट कर दिया है, आठों कर्मोंको तथा संसारको नष्ट कर दिया है, परमार्थ मोक्षको प्राप्त करना ही जिनका ध्येय है और जो आठ ऋद्धियोंके स्वामी हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

णवबंभचेरगुत्ते णव-णयसब्भावजाणगे वंदे।
दहविहधम्मट्ठाई दस-संजमसंजदे वंदे ॥७॥

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे ३×३=९, नौं प्रकारसे जो ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हैं, और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक

तथा दोनोंके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत, इन नौ नयोंके स्वरूपको जानते हैं उन मुनियोंको नमस्कार करता हूं। तथा जो उत्तम क्षमादिरूप दस धर्मोंमें स्थित हैं अर्थात् उनका पालन करते हैं, और पाँचों इन्द्रियोंके विषयमे तथा एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त पाँच प्रकारके जीवोंके विषयमें संयमी हैं अर्थात् इन्द्रियोंको वशमे रखते हैं और जीवोंकी रक्षा करते हैं, उन सब मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

एयारसंगसुदसायरपारगे बारसंगसुदणिउणे।
बारसविहतवणिरदे तेरस-किरियादरे वंदे ॥८॥

जो ग्यारह अंगरूपी श्रुतसमुद्रके पारगामी हैं, द्वादशांगरूप श्रुतमें निपुण हैं, बारह प्रकारका तपश्चरण करनेमे लीन रहते हैं और पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रका आदर पूर्वक पालन करते हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदसमु गथपरिसुद्धे।
चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलवज्जिदे वंदे ॥९॥

जो एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त चौदह प्रकारके जीवोंपर दया करते हैं। मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य आदि छ नोकषाय और क्रोध मान माया लोभ इन चौदह प्रकारकी अन्तरंग परिग्रहोंसे रहित होनेके कारण अति विशुद्ध हैं, चौदह पूर्वोंके पाठी हैं और चौदह मलोंसे रहित हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हू।

वंदे चउत्थ भत्तादि जाव छम्मास खवण पडिवण्णे।
वंदे आदावंते सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे ॥१०॥

जो चतुर्थ भक्त अर्थात् एक उपवाससे लेकर छ महीने तकका उपवास धारण करते हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ। तथा जो प्रातः कालमे और दोपहरमे सूर्यके सामने खडे होकर तपस्या करनेमें समर्थ हैं उन मुनीश्वरोंको मै नमस्कार करता हूँ।

बहुविहपडिमट्ठाई णिसिज्जवीरासणेक्कवासी य।
अणिट्ठीवकडुवदीवे चत्तदेहे य वंदामि ॥११॥

जो अनेक प्रकारके प्रतिमायोगोंको धारण करते हैं, निषद्या (एक

तप संयम और ऋद्धियोंसे संयुक्त उग्रतपस्वी (जो एक दिन, दो दिन चार दिन, पांच दिन, छै दिन, एक पक्ष, एक मास आदिका उपवास धारण करके उसमें विचलित नहीं होते), दीप्त तपस्वी (महा उपवास करने पर भी जिनके शरीरकी कान्ति म्लान नहीं होती), तप्त तपस्वी (जैसे तपे हुए तवे पर गिरी जलकी बूंद झट सूख जाती है उसी तरह अल्पाहारके कारण जिनका आहार मलरूप परिणत नहीं होता), महातपस्वी

(सिंह निष्क्रीडित आदि महा उपवास करने वाले मुनि), घोर तपस्वी (भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होने पर भी तपस्यासे न डिगने वाले और भयंकर स्थानोंमें निवास करने वाले मुनि) इन पूजनीय तपस्वी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे ।
विप्पोसहीए सव्वोसहीए वंदामि तिविहेण ॥१६॥

आमौषधि ऋद्धिधारी मुनि (जिनके द्वारा किया हुआ आहार अपक्व अवस्थामें औषधि रूप परिणमन करता हो वे मुनि। अन्यत्र आमर्शौषधि ऋद्धि नाम है, जिन मुनिके हस्त आदिका स्पर्श औषधि रूप होता है वे मुनि आमर्शौषधि ऋद्धि धारी होते हैं), खेलौषधि ऋद्धिधारी मुनि (जिनका थूक औषधि रूप हो वे मुनि), जल्लौषधि ऋद्धिधारी मुनि (शरीरमें पसीनेके साथ जो धूल वगैरह जम जाती है उसे जल्ल कहते हैं जिन मुनियोंका जल्ल औषधि रूप हो), विडौषधि ऋद्धि धारी मुनि (जिनका मल औषधि रूप हो), और सर्वौषधि ऋद्धि धारि मुनि (जिनके अंगसे छूजाने वाली वायु आदि सब वस्तु औषधि रूप हो जाती हो) ऐसे तपस्वी मुनियोंको मन वचन कायसे मैं नमस्कार करता हू।

अमय-महु-खीर-सप्पिसवीए अक्खीणमहाणसे वंदे ।
मणवलि-वचवलि-कायवलिणो य वंदामि तिविहेण ॥१७॥

जिन तपस्वी मुनियोंके हस्तपुटमें दिया गया नीरस आहार भी अमृतके समान, मधुके समान, खीरके समान या घीके समान स्वाद वाला और पौष्टिक हो जाता है, उन अमृतास्रवी, मध्वास्रवी, क्षीरास्रवी, सर्पिरास्रवी ऋद्धिधारी मुनियोंको तथा अक्षीण महानस ऋद्धिके धारी मुनियोंको (इस ऋद्धिके धारी मुनिको जिस बरतनमेंसे आहार दिया जाता है उस बरतनमेंसे यदि चक्रवर्तीकी सेना भी भोजन करे तो उस दिन अन्न कम नहीं होता) मैं नमस्कार करता हूँ। मनोबली (अन्त-मुहूर्तमें द्वादशांगका विचार करनेमें समर्थ मुनि), वचनबली (अन्तमुहूर्त में द्वादशांगका पाठ करनेमें समर्थ मुनि) और कायबली (महीने, चार महीने या एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण करने पर भी जिनका काय-बल क्षीण नहीं होता) मुनियोंको मैं मन बचन कायसे नमस्कार करता हूँ।

वरकुट्ठवीयबुद्धी पदाणुसारी य भिण्णसोदारे ।
उग्गह-ईहसमत्थे सुत्तत्थविसारदे वंदे ॥१८॥

कोष्ठबुद्धि ऋद्धिके धारी (जैसे कोठेमें सब प्रकारका धान अलग-अलग सुरक्षित रहता है वैसे ही जिनकी बुद्धिमें विविध विषयोंका ज्ञान अलग-अलग सुरक्षित रहता है) वे मुनि, बीजबुद्धि ऋद्धिके धारी (जैसे अच्छी भूमिमें बोया गया एक बीज अनेक बीजोंको उत्पन्न करता है वैसे ही एक बीज पदको लेकर अनेक पदार्थोंका ग्रहण करना बीजबुद्धि नामक ऋद्धि है उसके धारी), पदानुसारित्व ऋद्धिके धारी (किसी ग्रन्थके एक पदका अर्थ सुनकर शेष ग्रन्थके अर्थका अवधारण करनेमें समर्थ मुनि), संभिन्न श्रोतृत्व ऋद्धिके धारी (चक्रवर्तीके बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े कटकमें पशुओं और मनुष्योंके उत्पन्न होनेवाले सब शब्दोंको जुदा-जुदा ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाले मुनि), और अवग्रह और ईहाके द्वारा पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करनेमें कुशल तथा सूत्रोंके अर्थको जाननेवाले मुनियोंको, मैं नमस्कार करता हूँ।

आभिणिबोहिय-सुद-ओहिणाणि-मणणाणि-सव्वणाणी य।
वंदे जगप्पदीवे पच्चक्ख-परोक्खणाणी य ॥ १६ ॥

अभिनिबोध (मतिज्ञान) ज्ञानके धारी, श्रुतज्ञानके धारी, अवधि-ज्ञानके धारी, मन पर्यय ज्ञानके धारी और सर्वज्ञान अर्थात् समस्त लोकालोकको जाननेवाले केवलज्ञानके धारी, इस तरह जगतको प्रकाश करनेवाले प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

आयास-तंतु-जल-सेढिचारणे जंघचारणे वंदे।
विउवणइड्ढिपहाणे विज्जाहरपण्णसवणे य ॥२०॥

पालथी लगाकर अथवा खड़े-खड़े बिना डगधरे आकाशमें गमन करनेकी शक्ति रखनेवाले मुनियोंको, तन्तु जल श्रेणि आदिका आलम्बन लेकर जलकायिक वायुकायिक आदि जीवोंकी विराधना किये बिना भूमि-की तरह गमन करनेमें समर्थ मुनियोंको, पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें अपनी जंघाओंके द्वारा गमन करनेमें समर्थ जंघाचारण ऋद्धिधारी मुनियोंको, विक्रिया ऋद्धिके स्वामी मुनियोंको, विद्याधर मुनियोंको और प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धिके धारी मुनियोंको (द्वादशांगका पाठी न होने पर भी द्वादशांग सम्बन्धी प्रश्नका अपनी बुद्धिसे उत्तर देनेमें समर्थ मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं) मैं नमस्कार करता हूँ।

गइचउरंगुलगमणे तहेव फलफुल्लचारणे वंदे।
अणुवमतवमहंते देवासुरवंदिदे वंदे ॥२१॥

पृथ्वीमे चार अंगुल ऊपर आकाशमे गमन करनेवाले मुनियोंको तथा फल और फूलपर जीवोका घात किये विना विचरण करनेवाले मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ। इस तरह देव और असुरोंके द्वारा वन्दित तथा अनुपम तपसे पूजनीय मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

जियभयजियउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए।
जियरायदोसमहे जियसुह-दुक्खे णमसामि ॥२२॥

जिन्होंने भयको जीत लिया है, उपसर्गको जीता है, इन्द्रियोंको जीता है, परीपहोको जीता है, कषायोंको जीता है, राग द्वेष मोहको जीता है, सुख दु खको जीता है, उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

एवं मए अभित्थुया अणयारा रागदोस-परिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खय दिंतु ॥२३॥

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, राग द्वेषसे विशुद्ध मुनि, संघको उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे दुःखोंका विनाश करें।

६ आचार्य भक्ति

देस-कुल-जाइ-सुद्धा विसुद्ध-मण-वयण-कायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्च ॥१॥

देश कुल और जातिसे विशुद्ध और विशुद्ध मन वचन कायवाले आचार्य! आपके चरणकमल मुझे इस लोकमें सदा मंगलकारी हो।

सग-पर-समयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण ॥२॥

आचार्य स्वसमय (जैनधर्म) और परसमय—अन्यधर्मोंके जानकार होते हैं। तथा आगम और युक्तिसे पदार्थोंको जानकर जिन भगवानके द्वारा कहे गये तत्वोंका निरूपण करनेमे पूरे समर्थ होते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार अथवा प्राणियोंके अनुसार विनय करनेमें समर्थ होते हैं।

बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥३॥

बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियोंके विषयमें वे आचार्य क्षमाशील होते हैं। और अन्य शिष्योंको दुःशील जानकर उन्हें सन्मार्गमें लगाते हैं।

वद-समिदि-गुत्तिजुत्ता मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अज्झावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता ॥४॥

वे आचार्य ५ व्रत, ५ समिति और तीन गुप्तियोंसे विशिष्ट होते हैं। दूसरोंको मुक्तिके मार्गमें लगाते हैं। तथा व उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोंसे और साधु परमेष्ठीके गुणोंसे भी युक्त होते हैं।

उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥५॥

उत्तम क्षमामें वे पृथ्वीके समान क्षमाशील होते हैं। निर्मल परिणामोंके कारण स्वच्छ जलके समान होते हैं। कर्मरूपी ईंधनको जलानेके कारण अग्निके तुल्य हैं और सब प्रकारकी परिग्रहसे रहित होनेसे वायुकी तरह निस्संग होते हैं।

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरु व्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाण पाय पणमामि सुद्धमणो ॥६॥

मुनियोंमें श्रेष्ठ वे आचार्य आकाशकी तरह निर्लेप और सागरकी तरह क्षोभरहित-गम्भीर होते हैं। मैं शुद्ध मनसे इस प्रकारके गुणोंके घर आचार्य परमेष्ठीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

संसारकाणणे पुण बंभममाणेहि भव्वजीवेहिं।
णिव्वाणस्स दु मग्गो लद्धो तुम्ह पसाएण ॥७॥

हे आचार्य! संसाररूपी भयंकर वनमें भ्रमण करनेवाले भव्य जीवोंने आपके प्रसादसे मोक्षका मार्ग प्राप्त किया है।

अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्ता ॥८॥

वे आचार्य कृष्ण नील और कापोत नामक बुरी लेश्याओंसे रहित होते हैं। और पीत पद्म शुक्ल नामक विशुद्ध लेश्याओंसे युक्त होते हैं। तथा आर्त और रौद्र ध्यानके त्यागी होते हैं और धर्म तथा शुक्ल ध्यानसे युक्त होते हैं।

उग्गह-ईहावाया धारणगुणसपदेहि सजुत्ता ।
सुत्तत्थभावणाए भाविय माणेहि वदामि ॥६॥

श्रुत ज्ञानको उत्पन्न करनेमे कारणभूत अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा रूप ज्ञानगुणकी सम्पत्तिसे वे आचार्य युक्त होते हैं। (अर्थात् मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता ह और मति ज्ञानके भेद अवग्रह ईहा अवाय और धारणा हैं)। उन आचार्योंको मैं नमस्कार करता हूँ।

तुम्ह गुणगणसथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो ।
देउ मम बोहिलाह गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्च ॥

हे आचार्य! आपके गुणोंको न जानते हुए आपके गुणोंके समूहका जो स्तवन मैंने किया है, वह गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर किया है। गुरुभक्तिसे भरा हुआ यह स्तवन मुझे बोधिलाभ प्रदान करे।

७ निर्वाण भक्ति

अट्ठावयम्मि उसहो चपाए वासुपुज्जजिणणाहो ।
उज्जते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥

अष्टापद (कैलास पर्वत) पर ऋषभनाथका, चम्पामें वासुपूज्यनाथका, ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथका, और पावामें महावीर भगवानका निर्वाण हुआ।

वीस तु जिणवरिंदा अमरासुरवदिदा धुदकिलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥

देवों और असुरोंसे वन्दित शेष बीस तीर्थङ्कर कर्मक्लेशको नष्ट करके सम्मेद शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
गजपथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥३॥

सात बलभद्र और आठ करोड यादववंशी राजा गजपन्था गिरिके शिखर पर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

वरदत्तो य वरगो सायरदत्तो य तारवर-णयरे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥४॥

वरदत्त, वराग, सागरदत्त और साढे तीन करोड मुनिराज तारवर नगरमें निर्वाणको प्राप्त हुए। उनको नमस्कार हो।

णेमिसामी पज्जुण्णो सबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तर कोडीओ उज्जते सत्तसया सिद्धा ॥५॥

भगवान नेमिनाथ, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरुद्ध और बहात्तर करोड सात सौ मुनि ऊर्जयन्त गिरिपर मुक्त हुए।

रामसुआ वेण्णि जणा लाडणरिंदाण पचकोडीओ।
[1]पावागिरिवरसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥६॥

रामचन्द्रके लव कुश नामक दो पुत्र और लाट देशके पाँच करोड राजा पावागिरिके शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

पडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्टकोडीओ।
सितु जेगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥७॥

पाण्डुके तीन पुत्र और आठ करोड द्रविड राजा शत्रुञ्जय गिरिके शिखर पर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

राम-हणू-सुग्गीवो गवय-गवक्खो य णील-महणीला।
णवणवदीकोडीओ तुगीगिरिणिव्बुदे वदे ॥८॥

रामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा निन्यानवें करोड मुनि तुङ्गी पर्वतसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

[2]अगाणगकुमारा विक्खापचद्धकोडिरिसिसहिया।
सुवण्णगिरिमत्थयत्थे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥९॥

अंग या नंग और अनगकुमार साढे पाँच करोड प्रसिद्ध मुनियोंके साथ सुवर्णगिरिके ऊपरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

दहमुहरायस्स सुआ कोडी पचद्ध मुणिवरे सहिया।
रेवाउहयतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१०॥

राजा दशमुख अर्थात् रावणके पुत्र साढे पाँच करोड मुनियोके साथ रेवा नदीके दोनों तटोसे मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

---

१ 'पावाएगिरि'– पाठान्तर।

२ 'णगाणगकुमारा कोडिपचद्ध मुणिवरा सहिया।
सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥९॥' इति पाठान्तरम्।

रेवाणइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे।
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठयकोडिणिव्वुदे वंदे ॥११॥

रेवा नदीके तीर पर पश्चिम भागमें स्थित सिद्धवर कूटपर दो चक्रवर्ती और दस कामदेव तथा साढे तीन कोटि मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभयण्णा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१२॥

बडवानी नगरके दक्षिण भागमें स्थित चूलगिरिके शिखर पर इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चेलणाणइतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१३॥

चेलना नदीके तटपर स्थित पावागिरिके शिखर पर सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे।
गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१४॥

फलहोडी नामक गाँवके पश्चिम भागमें स्थित द्रोणगिरिके शिखर पर गुरुदत्त आदि मुनीन्द्र निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

णायकुमारमुणींदो वालि महावालि चेव अज्झेया।
अट्ठावयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१५॥

कैलास पर्वतके शिखरपर नागकुमार मुनि, वाली और महावाली निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

अचलपुरवरणयरे ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१६॥

एलिचपुर नगरकी ईशान दिशामें मेढगिरि (मुक्तागिरि) के शिखर-पर साढ़े तीन करोड मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

[1]वसत्थलम्मि नयरे पच्छिमभायम्मि कुन्थगिरिसिहरे।
कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१७॥

---

१ 'वसत्थलवरणियडे'—पाठान्तर।

वंशस्थल नगरके पश्चिम भागमे स्थित कुंथलगिरिके शिखरपर कुलभूषण देशभूषण मुनि निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

> जसहररायस्स सुआ पचसया कलिगदेसम्मि।
> कोडिसिला कोडिमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१८॥

यशोधर राजाके पाँच सौ पुत्र तथा एक करोड मुनि कलिग देशमें स्थित कोटिशिलासे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

> पासस्स समवसरणे [1]गुरुदत्त-वरदत्त-पचरिसिपमुहा।
> रिस्सिदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१९॥

भगवान पार्श्वनाथके समवशरणमे गुरुदत्त वरदत्त आदि पाँच प्रमुख ऋषि रेशन्दीगिरके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

> जे जिणु जित्थु तत्था जे दु गया णिव्वुदिं परम।
> ते वदामि य णिच्च तियरणसुद्धो णमसामि ॥२०॥

जो जिन जहाँ-जहाँसे निर्वाणको प्राप्त हुए हैं उनकी नित्य वंदना करता हूँ और मन वचन कायको शुद्ध करके उन्हें नमस्कार करता हूँ।

> सेसाण तु रिसीण णिव्वाण जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
> ते हं वदे सव्वे दुक्खक्खयकारणट्ठाए ॥२१॥

शेष अन्य मुनियोका निर्वाण जिस जिस स्थानपर हुआ, दुखोंका क्षय करनेके लिये मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

> पास तह अहिणदण णायद्दहि मगलाउरे वदे।
> अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वओ तहेव वदामि ॥१॥

नागह्रद और मंगलापुरमें स्थित पार्श्वनाथ और अभिनन्दन नाथको नमस्कार करता हूँ। तथा अस्सारम्भ (?) नगरमे मुनिसुव्रत नाथको नमस्कार करता हूँ।

> बाहूबलि तह वदमि पोदणपुर हत्थिणापुरे वदे।
> सती कुथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पास च ॥२॥

---

१ —रणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पच। —पाठान्तर।

पोदनापुरमे वाहुवली, हस्तिनापुरमे शान्तिनाथ, कु थनाथ, अरहनाथ को, वाराणसीमे सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूँ।

महुराए अहिछित्ते वीर पास तहेव वदामि।
जबुमुणिंदो वदे णिव्वुइपत्तो वि जबुवणगहणे ॥३॥

तथा मथुरा और अहिक्षेत्र नगरमें महावीर और पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूँ। और गहन जम्बूवनसे मोक्षको प्राप्त हुए जम्बू स्वामीको नमस्कार करता हूँ।

पचकल्लाणठाणाइ जाणि वि संजादमचलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमसामि ॥४॥

मनुष्यलोकमें जितने भी पंचकल्याणकोंके स्थान हैं, मन वचन और कायको शुद्ध करके सबको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

अग्गलदेव वदमि वरणयरे णिवणकु डलीवदे।
पास सिरिपुरि वदमि लोहागिरिसखदीवम्मि ॥५॥

वर नगर (वड नगर) मे अर्गलदेवको तथा निकट कुण्डली (?) को नमस्कार करता हूँ। श्रीपुरमे पार्श्वनाथकी वन्दना करता हूँ तथा लोह-गिरि और शंखद्वीपमे भी (?) पार्श्वनाथकी वन्दना करता हूँ।

गोम्मटदेव वदमि पचसयधणुहदेहउच्च त।
देवा कुणति वुट्ठी केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥६॥

जिनके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष है उन गोम्मट स्वामीको नमस्कार करता हूँ। उनके ऊपर देवगण केशरकी और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं।

णिव्वाणठाण जाणि वि अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
सजादमिअलोए सव्वे सिरसा णमसामि ॥७॥

मनुष्यलोकमे जितने भी निर्वाण स्थान हैं और अतिशय सहित जितने अतिशय क्षेत्र हैं, उन सबको मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

८ पचगुरु भक्ति

मणुय-णाइद-सुरधरियछत्तत्तया, पंचकल्लाण-सोक्खावलीपत्तया।
दसण णाणज्झाण अणतं वल ते जिणा दिंतु अम्ह वर मगल ॥१॥

राजा, नागेन्द्र और सुरेन्द्र जिनके तीन छत्र लगाते हैं, जो पाँच कल्याणकोंके सुखोंको प्राप्त हैं, वे जिनेन्द्र हमें परम मंगल स्वरूप अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवल और शुक्लध्यान प्रदान करें।

जेहिं झाणग्गिवाणेहिं अइथद्दय, जम्मजरमरणणयरत्तय दड्ढयं।
जेहिं पत्त सिव सासय ठाणय ते मह दिंतु सिद्धा वर णाणय ॥२॥

जिन्होने शुक्लध्यानरूपी अग्निवाणोंसे अति मजवूत जन्म जरा और मरणरूपी तीन नगरोंको जला डाला। और जिन्होने शाश्वत मोक्षस्थानको प्राप्त कर लिया, वे सिद्ध मुझे उत्तम ज्ञान प्रदान करें।

पचहाचारपचग्गिससाहया वारसगाइ सुअजलहि अवगाहया।
मोक्खलच्छी महती महते सया सूरिणो दिंतु मोक्ख गयासगया ॥३॥

जो पाँच आचाररूपी पञ्चाग्निका साधन करते हैं, और द्वादशाग श्रुतरूपी समुद्रमें अवगाहन करते हैं, सब प्रकारकी आशाओसे रहित मोक्षको प्राप्त हुए वे आचार्य मुझे सदा महती मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रदान करें।

घोर-ससार-भीमाटवीकाणणे तिक्ख-वियराल-णह पावपचाणणे।
णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया वदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया ॥४॥

तीक्ष्ण विकराल नखवाला पापरूपी सिंह जहाँ वसता है, उस घोर संसाररूपी भयानक वीहड जगंलमे मार्गभ्रष्ट भव्यजीवोंको जो मार्ग-दर्शन कराते हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठीको हम सदा नमस्कार करते हैं।

उग्गतवचरणकरणेहि झीणगया, धम्मवरझाणसुक्केक्कझाणं गया।
णिब्भर तवसिरीए समालिंगया, साहवो ते मह मोक्खपहमग्गया ॥५॥

उग्र तपश्चरण करनेसे जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो उत्तम धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें लीन रहते हैं, तथा जो तपरूपी लक्ष्मीके गाढ़ आलिंगनमे वद्ध हैं वे साधु मुझे मोक्षमार्गका प्रदर्शन करें।

एण थोत्तेण जो पचगुरु वदए, गरुयससारघणवेल्लि सो छिंदए।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ वरमाणणा, कुणइ कम्मिंधणं पुजपज्जालणा ॥६॥

जो इस स्तोत्रके द्वारा पंच परमेष्ठीकी वन्दना करता है, वह अनन्त संसाररूपी घनी वेलको काट डालता है। तथा वह उत्तम जनोंके द्वारा

मान्य मोक्षके सुखोंको प्राप्त करता है और कर्मरूपी ईंधनके ढेरको जलाकर भस्म कर देता है।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
एयाण णमुकारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥७॥

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधु ये पंच परमेष्ठी हैं। इनका नमस्कार मुझे भव भवमें सुख देवें।

---

१२. मोक्ष अधिकार

[मोक्षप्राभृतसे]

मंगलाचरण

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण [1]झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥

जिस कर्मोंकी निर्जरा करनेवालेने परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानस्वरूप आत्माको प्राप्त किया है उस देवको वारम्वार नमस्कार हो।

प्रतिज्ञा

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं[2] सुद्धं।
वुच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥
जं जाणिऊण जोई जोयत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनसे सहित तथा अट्ठारह दोषोंसे रहित उस देवको नमस्कार करके, उत्कृष्ट योगियोंके लिये, परम पदमें विराजमान परमात्माका स्वरूप कहूँगा।

---

१ खविय—ग०। २ —सणविसु—ऊ०।

जिसको जानकर तथा निरन्तर अनुभव करके ध्यानमें स्थित योगी बाधा रहित अविनाशी और अनुपम मोक्षको प्राप्त करता है।

आत्माके तीन भेद

तिपयारो सो अप्पा परमतरबाहिरो हु देहीण[1]।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण[2] चइवि बहिरप्पा ॥४॥

शरीरधारियोंका आत्मा तीन प्रकारका होता है—परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा। वहिरात्माको त्याग कर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माका ध्यान किया जाता है।

तीनोंका स्वरूप

अक्खाणि बहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए[3] देवो ॥५॥

इन्द्रियाँ वहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियोंको ही आत्मा मानने वाला प्राणी वहिरात्मा है। आत्मामें ही आत्माका संकल्प करने वाला सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा है। और कर्म कलंकसे विमुक्त आत्मा परमात्मा है। उसे ही देव कहा जाता है।

सिद्ध परमात्माका स्वरूप

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

वह परमात्मा मैलसे रहित है, शरीरसे रहित है, इन्द्रियोंसे रहित है, केवलज्ञानमय है, विशुद्ध है, परम पदमें स्थित है, परम जिन है, मोक्षको देने वाला है, अविनाशी है और सिद्ध है।

परमात्माके ध्यानका उपदेश

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥

अन्तरात्माको अपनाकर और मन वचन कायसे वहिरात्माको छोड़कर परमात्माका ध्यान करो, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

---

१ हेऊण आ०।	२ अंतोऊण आ०। अंतो वा च—ग०।
३ सन्नए ऊ०।

जो योद्धा युद्ध करनेवाले करोड़ों मनुष्योंसे भी नहीं जीता जाता, क्या वह योद्धा युद्धमें एक मनुष्यके द्वारा जीता जा सकता है ?

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए किंतु झाणजोएण ।
[1]जो पावइ सो पावइ परे भवे सासय सुक्खं ॥२३॥

तपसे तो सभी स्वर्ग प्राप्त करते हैं। किन्तु जो ध्यानके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है वह दूसरे भवमें अविनाशी सुख अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है।

आत्माके परमात्मा होनेमें दृष्टान्त

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेम्मं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवइ ॥२४॥

जैसे अति शोधनके (?) योगसे सोना शुद्ध हो जाता है वैसेही काल आदि लब्धियोंका योग मिलनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है।

तपके द्वारा स्वर्ग भी मिले तो उत्तम है

[2]वरवयतवेहिं [3]सग्गो मा दुक्ख होइ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाण पडिवालताण गुरुमेय ॥२५॥

व्रत और तपसे स्वर्ग पाना उत्तम है किन्तु व्रत और तपको न पालनेसे नरकमें दुःख उठाना ठीक नहीं है। छाया और धूपमें बैठे हुए मनुष्योंमें जैसे बहुत भेद है वैसे ही व्रत और तपका पालन करनेवालों और न करने वालोंमें बहुत भेद हैं।

आत्माका ध्यान करो

जो इच्छइ णिस्सरिदुं ससारम[4]हावणस्स रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण [5]डहण सो झायइ अप्पय सुद्धं ॥२६॥

जो संसार रूपी महावनके विस्तारसे निकलना चाहता है, वह कर्मरूपी ईंधनको जलाने वाले शुद्ध आत्माका ध्यान करता है।

---

१ णो पा–आ० । २ वर आ० । ३ सग्गे आ० । ४ –महाणवस्स रुद्दस्स आ०, महण्णवस्स रु'दस्स ऊ० । ५ डहणो आ० ।

ध्यान कैसे करना चाहिये

सव्वे कसाय मुत्तु गारव-मय-राय-दोस-वामोह ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥२७॥

ध्यानमे बैठे हुए मुनिको सव कषायोंको तथा गारव मद राग द्वेष और व्यामोहको छोडकर व लोकव्यवहारसे विरत होकर आत्माका ध्यान करना चाहिये ।

मिच्छत्त अण्णाण पाव पुण्ण चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो [1]झाइए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन कायसे त्याग कर, योगमें स्थित योगी मौनव्रत पूर्वक आत्माका ध्यान करता है ।

मौनपूर्वक ध्यान करनेमें हेतु

ज मया दिस्सदे रूव तण्ण जाणेइ सव्वहा ।
जाणग दिस्सदे [2]णेव तम्हा जपेमि केण ह ॥२९॥

क्योंकी वह सोचता है कि जो रूप (शरीर) मैं देखता हूं वह कुछ भी नहीं जानता । और जो जानने वाला आत्मा है वह दिखाई नहीं देता, तब मैं किससे बातें करूॅ । (अतः मौन पूर्वक ही ध्यान करता है) ।

सव्वासवणिरोहेण कम्म खवइ संचिय ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

योगमें स्थित योगी सब कर्मोंके आस्रवको रोक कर पहलेके सचित कर्मोंका क्षय करता है फिर (केवल ज्ञानी होकर) सबको जानता है ऐसा जिन देवने कहा है ।

योगी लोकव्यवहारसे विरत क्यों होता है—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥
इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्व ।
झायइ परमप्पाण जह भणिय जिणवरिंदेहि ॥३२॥

---

१ जोइय ग०, ऊ० । २ ण त ग० ऊ० ।

जो योगी लोक व्यवहारमें सोता है वह आत्मिक कार्यमें जागता है। और जो लोक व्यवहारमें जागता है वह आत्मिक कार्यमें सोता है। ऐसा जानकर योगी सब प्रकारके व्यवहारको सर्वथा छोड़ देता है और जैसा जिनेन्द्र देवने कहा है उसी प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है।

ध्यान करनेकी प्रेरणा

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू पाँच महाव्रतोंको धारण करके, तथा पाँच समिति तीन गुप्ति और रत्नत्रयसे संयुक्त होकर सदा ध्यान और स्वाध्याय किया कर।

आराधकका लक्षण और आराधनाका फल

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आराधना करने वाले जीवको आराधक जानो। आराधना करनेका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

आत्मा ही केवल ज्ञान है—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य।
सो जिणवरेहि भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

जिनवर भगवानने सिद्ध पदको प्राप्त शुद्ध आत्माको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा है, उसे ही तुम केवलज्ञान जानो। अर्थात् केवलज्ञान आत्मरूप है। इसलिये केवल ज्ञानकी प्राप्ति शुद्धात्माकी ही प्राप्ति है।

रत्नत्रयका आराधक आत्माका ही आराधक है—

रयणत्तय पि जोइ आराहइ जो हु जिणवरमएणं।
सो झायइ अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३६॥

जो योगी जिनवर भगवानके द्वारा बतलाए हुए मार्गके अनुसार रत्नत्रयकी आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है और परवस्तुका त्याग करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अभेद रत्नत्रयका स्वरूप

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं ग्रेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वही दर्शन है, और जो पुण्य और पापका परित्याग करता है वह चारित्र है। अर्थात् आत्मा ही जानता है, वही देखता है और वही त्याग करता है अतः वह स्वयं ही रत्नत्रय है।

भेदरत्नत्रयका स्वरूप

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥

तत्त्वोंमें रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंके स्वरूपको ठीक ठीक ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। और कर्मोंको लानेवाली क्रियाओंको त्यागना सम्यक् चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

इस कथनका खुलासा

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इस प्रकारका उपदेश ही सार भूत है और वही बुढापा मरण आदि संसारिक रोगोंको हरनेवाला है, जो ऐसा मानता है उसे सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यग्दर्शन मुनि और श्रावक दोनोंके लिये है।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

जिनवर भगवानके द्वारा बतलाये हुए मार्गके अनुसार योगी जो जीव और अजीवके भेदको जानता है, उसे सर्वदर्शी परमात्माने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है।

[1]तं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ॥४२॥

---

१ त ग०, ऊ० ।

इस जीव अजीवके भेदको जानकर योगी जो पुण्य और पापका त्याग करता है उसे कर्मोंसे रहित जिनेन्द्रदेवने निर्विकल्प चारित्र कहा है।

मोक्षको कौन प्राप्त करता है—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

जो संयमी रत्नत्रयसे युक्त होता हुआ अपनी शक्तिपूर्वक तप करता है वह शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ परम पद मोक्षको प्राप्त करता है।

मय-माय-कोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सुक्खं ॥४५॥

जो जीव मद माया और क्रोधसे रहित है, लोभसे रहित है और निर्मल स्वभाव वाला है, वह उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

जो जीव विषय और कषायोंमें फँसा हुआ है, रौद्र परिणामी है, तथा जिसका मन परमात्माकी भावनासे शून्य है, वह जीव जिन मुद्रासे विमुख होनेके कारण मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता।

जिनमुद्रा ही मोक्षका कारण है—

जिणमुद्दा सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

जिनवर भगवानके द्वारा उपदिष्ट जिन मुद्रा ही मोक्ष सुखका कारण है। जिन्हें स्वप्नमें भी यह जिनमुद्रा नहीं रुचती वे जीव संसाररूपी गहन वनमें पड़े रहते हैं।

परमात्माके ध्यानसे कर्मनिवृत्ति

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ [1]मलपलोहेण।
णादियदि णव कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

---

१ —मलदलो—आ०।

परमात्माका ध्यान करने वाला योगी कर्मरूपी महामलके ढेरसे मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मोंको ग्रहण नहीं करता, ऐसा जिनवर देवने कहा है।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥६९॥

इस प्रकार चारित्रमे दृढ़ होकर और मनमें दृढ़ सम्यग्दर्शनकी भावना लेकर आत्माका ध्यान करने वाला योगी परमपद मोक्षको प्राप्त करता है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होइ धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

जिनका आत्मा सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, चारित्र दृढ है और मन विषयोंसे विरक्त है, उन आत्माका ध्याने करने वालोंको निश्चयसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

जो लोग कहते हैं कि यह ध्यानयोगका समय नहीं है, उन्हें उत्तर—

[1]चरियाचरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

जिन्होंने कभी चारित्रका आचरण नहीं किया, जो व्रतों और समितियोंसे दूर हैं तथा शुद्ध भावोंसे शून्य हैं, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि यह काल ध्यान-योगके योग्य नहीं है।

सम्मत्त-णाण-रहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहेसु रदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित है, जिसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता तथा जो सांसारिक सुखोंमें ही लीन रहता है, ऐसा अभव्य जीव ही यह कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है।

पञ्चसु महव्वदेसु य पञ्चसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
सो [2]मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

---

१ —पावरि —आ०, ऊ०। २ मूढो ऊ०।

जो अन्तरंग और बाह्य परिग्रहसे रहित हैं, निर्मोही हैं, बाईस परीषहोंको सहते हैं, जिन्होंने क्रोध आदि कषायोंको जीत लिया है, तथा जो पापरूप आरम्भ नहीं करते, वे मुनि मोक्ष मार्गके पात्र हैं।

उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झ ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासय [1]ठाणं ॥८१॥

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकमें मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूँ। इस भावनासे योगी शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं।

देवगुरूण भत्ता णिव्वेयपरंपराविचिंतिंता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्यकी परम्पराका चिन्तन करते हैं, ध्यानमें लीन रहते हैं तथा जिनका चारित्र उत्तम है, वे साधु मोक्षमार्गके पात्र हैं।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
[2]सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मामें आत्माके द्वारा अच्छी तरहसे लीन आत्मा ही सम्यक् चारित्रका पालक योगी है। और वही निर्वाणको प्राप्त करता है

आत्माको जानना कठिन है—

[3]दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु [4]विरच्चइ दुक्खं ॥६५॥

बड़ी कठिनतासे आत्माको जाना जाता है। आत्माको जानकर उसीमें भावना होना और भी कठिन है। और आत्माकी भावना करनेवाला पुरुष भी कठिनतासे ही विषयोंसे विरक्त होता है।

[5]ताव ण [6]णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
[7]विसए [8]विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

---

१ सोक्खं ऊ०। २ जो आ०, ग०। ३ दुक्खे ग०। ४ -विरच्चए ऊ०, ग०। ५ तान ऊ०। ६ णज्जरइ ग०। ७ विसयवि- आ०। ८ विरत्तो चि- ग०।

जब तक मनुष्य विषयोंमें लीन रहता है तब तक आत्माको नहीं जानता। जिसका चित्त विषयोंसे विरक्त है वह योगी ही आत्माको जानता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति [1]चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

विषयोंमें विमोहित हुए कुछ मूढ मनुष्य आत्माको जानकर भी आत्म भावनासे भ्रष्ट होनेके कारण चारगति रूप संसारमें भ्रमण करते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

किन्तु जो विषयोंसे विरक्त हैं और आत्माको जानकर आत्माकी भावना भाते हैं, तथा तप और सम्यग्दर्शन आदि गुणोंसे विशिष्ट हैं, वे योगी चतुर्गतिरूप संसारको छोड़ देते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

परमाणुपमाणं [2]वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स[3] विवरीदो ॥६९॥

मोहके कारण जिस मनुष्यकी परद्रव्यमें परमाणुके बराबर भी रति होती है वह मूर्ख अज्ञानी है, (क्योंकि उसका यह कार्य) आत्माके स्वभावके विपरीत है।

आत्मा ज्ञानके विना सब क्रिया व्यर्थ है—

बाहिरसंगविमुक्का ण विमुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमोणं[4] ण विजाणदि अप्पसम्भावं[5] ॥६६॥

जो निर्ग्रन्थ साधु बाह्य परिग्रहको तो छोड़ चुका है किन्तु जिसने मिथ्यात्वको नहीं छोड़ा है, उसके कायोत्सर्ग और मौनसे क्या लाभ है जबकि वह आत्माके अस्तित्वको ही नहीं जानता।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो [6]णियद ॥६७॥

---

१ चाउरगं ऊ० ग०। २ या ऊ०। ३ –सहावादु ग०। ४ मउणं ऊ०। ५ –समभाव ऊ० ग०। ६ णिच्च ऊ०।

जो साधु मूलगुणोंका घात करके बाह्य क्रिया करता है वह मोक्ष सुखको नहीं पाता, क्योंकि वह नियमसे जिन लिंगकी विराधना करता है।

किं काहिदि बहिकम्म कि काहिदि बहुविह च खवण [1]तु।
कि काहिदि आदाव आदसहावस्स विवरीदो ॥९८॥

आत्माके स्वभावसे विपरीत प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य बाह्य क्रिया क्यों करता है, क्यों अनेक प्रकारके उपवास आदि करता है और क्यों आतापन योग करता है। अर्थात् उसका यह सब करना निरर्थक है।

जइ [2]पढसि बहुसुयाणि[3] य जइ [4]काइहि बहुविह[5] च चारित्त।
त बालसुय चरण हवेइ अप्पस्स विवरीय ॥९९॥

हे जीव! यदि तू आत्म स्वभावके विपरीत बहुतसे शास्त्रोंको पढता है, तथा अनेक प्रकारका चारित्र पालता है तो वह सब मूर्खोंका शास्त्र पठन और मूर्खोंका चारित्र है।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१००॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सु [6]णिरदो सो पावइ उत्तम ठाण ॥१०१॥

जो साधु वैराग्यमें तत्पर है, पर द्रव्यसे विमुख है, सासारिक सुखोंसे विरक्त है और आत्मिक शुद्ध सुखमें लीन है, जिसका अग गुणोंके समूहसे सुशोभित है, जो हेय और उपादेयका निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और पठन पाठनमें लगा रहता है, वह साधु उत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

णविएहि ज णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरय।
थुव्वतेहि थुणिज्जइ देहत्थ किं पि त मुणह ॥१०२॥

इसलिये नमस्कार करनेवाले जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यान करनेवाले निरंतर जिसका ध्यान करते हैं और स्तुति करने वाले जिसका स्तवन करते हैं वह शरीरमे स्थित आत्मा ही है, अन्य कुछ भी नहीं है, उसे ही जानो।

---

१ च ऊ०। २ पढदि ऊ०। ३ –सुयाण आ० ग०। ४ काहिदि ऊ ग। ५ वहुविहे य चारित्ते ऊ। ६ –रत्तो ऊ।

आत्मा ही शरण है

अरहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मामें ही स्थित हैं अर्थात् आत्मा ही अर्हन्त सिद्ध आदि अवस्थावाला है। इसलिये निश्चयसे आत्मा ही मेरा शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं [1]सच्चारित्तं हि [2]सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मामें ही स्थित हैं। अतः आत्मा ही निश्चयसे मेरा शरण है।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०५॥

इस प्रकार जिन भगवानके द्वारा कहे हुए मोक्ष प्राभृतको जो भक्ति पूर्वक पढता है, सुनता है और बारम्बार चिन्तन करता है वह शाश्वत सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

मोक्षका स्वरूप

जाइ-जर-मरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइ चउसहावं अक्खयमविणासमच्छेज्जं ॥ [निय० १७६]

मोक्ष जन्म, जरा और मरणसे रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मोंसे रहित है, शुद्ध है अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार आत्मिक स्वभावोंसे युक्त है, क्षय रहित है, विनाश रहित है तथा अछेद्य है।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालम्बं ॥ [निय० १७७]

मोक्ष बाधारहित है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य और पापसे निर्मुक्त है, पुनः संसारमें आगमनसे रहित है, नित्य है, अचल है और आलम्बन रहित है।

---

१ सच्चरित्तं आ, ऊ। २ सत्तवो ग।

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
ण वि मरणं ण वि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥ [नि०१७८]

जहाँ न तो कोई दुःख है, न सुख है, न पीडा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण है।

ण वि इंदिय उवसग्गा ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य हवदि णिव्वाणं ॥ [नि० १७९]

जहाँ न तो इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है न मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है न तृष्णा है, और न भूख है वहीं निर्वाण है।

ण वि कम्मं णोकम्मं ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
ण वि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥ [नि० १८०]

जहाँ न तो कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त और रौद्रध्यान हैं तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान भी नहीं हैं, वहीं निर्वाण है।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ [नि० १८१]

मुक्तात्मामे केवल ज्ञान, केवल सुख, केवल दर्शन, अमूर्तत्व, अस्तित्व और प्रदेशवत्व, ये गुण रहते हैं।

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ [नि० १८२]

मुक्तजीव ही निर्वाण है और निर्वाण ही मुक्तजीव है ऐसा कहा है। अर्थात् आत्माकी शुद्ध अवस्थाका ही नाम निर्वाण है इसलिये निर्वाणमें और निर्वाणको प्राप्त जीवमें कोई भेद नहीं है। जो आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है वह मुक्त होते ही ऊपर लोकके अग्रभाग तक जाता है।

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ [नि० १८३]

जहाँतक धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है वहीं तक जीव और पुद्गलोंका गमन जानो। लोकके अग्रभागमें आगे धर्मास्तिकाय नामक द्रव्यका अभाव है। इसलिये उससे आगे मुक्तजीव नहीं जाते।

———

समय-प्राभृत

नमस्कार पूर्वक-प्रतिज्ञा

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिदं ॥१॥

मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए सब सिद्धोको नमस्कार करके श्रुतकेवलीके द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृतको कहूंगा।

स्वसमय और परसमयका स्वरूप

जीवो चरित्तदंसणणाणठिओ तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठियं[1] च तं जाण परसमयं ॥२॥

जो जीव अपने चारित्र दर्शन और ज्ञान गुणमे स्थित है उसे स्वसमय जानो। और जो जीव पुद्गल कर्मोके प्रदेशोंमें स्थित है, उसे परसमय जानो। अर्थात् जीवको समय कहते हैं। जो जीव अपने स्वभावमें स्थित होता है उसे स्वसमय कहते हैं और जो जीव परस्वभाव रागद्वेष मोहरूप हुआ रहता है वह परसमय कहा जाता है।

स्वसमयकी श्रेष्ठता

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

एकत्वनिश्चयको प्राप्त समय (आत्मा) सब लोकमें सुन्दर है। अतः एकत्वमे दूसरेके साथ बन्धकी कथा विसंवाद पैदा करने वाली है।

एकत्वकी दुर्लभता

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

---

१ –'कम्मुवदेसट्ठिद'–ता० वृ० ।

काम भोग विषयक बन्धकी कथा सबकी ही सुनी हुई है, परिचित है और अनुभूत है। किन्तु समस्त परद्रव्योंसे भिन्न आत्माके एकत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है।

एकत्वको दर्शानेकी प्रतिज्ञा

त एयत्तविहत्त दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल ण घेत्तव्वं ॥५॥

उस एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपको मैं आत्माके स्वकीय ज्ञानविभवके द्वारा दिखलाता हूँ। जो मैं दिखलाऊँ उसे प्रमाण मानना। यदि कहीं चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण नहीं करना।

वह शुद्ध आत्मा कौन है ?

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एव भणति सुद्ध णादा जो सो उ सो चेव ॥६॥

जो यह ज्ञायक भाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है। इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं। और जो ज्ञायक भावके द्वारा जान लिया गया है वह वही है दूसरा कोई नहीं हैं। [आशय यह है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार छठे गुणस्थान तक जीव प्रमत्त कहा जाता है और सातवेंसे अप्रमत्त कहा जाता है। परन्तु ये सभी गुणस्थान अशुद्धनयकी कथनी है. शुद्धनयसे आत्मा मात्र ज्ञायक है। किन्तु ज्ञायक (जाननेवाला) होने परभी उसमे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है]।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदसण णाण।
ण वि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहार नयसे ज्ञानीके चारित्र दर्शन और ज्ञान ये तीन गुण कहे जाते हैं। किन्तु निश्चयसे न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

फिर व्यवहारकी आवश्यकता क्यों ?

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा दु गाहेदु।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्क ॥८॥

जैसे म्लेच्छ लोगोंको म्लेच्छभाषाके विना वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेमें कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश करना शक्य नहीं है।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिण तु केवल सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥६॥

जो सुयणाण सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥१०॥

जो श्रुतज्ञानके द्वारा केवल इस एक शुद्ध आत्माको जानता है, लोकको प्रकाशित करने वाले ऋषिगण उसे श्रुतकेवली कहते हैं। और जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है, उसे जिनेन्द्र देवने श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि यतः सब ज्ञान आत्मा ही है, अत: वह जीव श्रुतकेवली है। [आशय यह है कि जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ है। और जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है, वह श्रुतकेवली है, इस परमार्थका कथन अशक्य होनेसे तथा जो सर्व श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होनेसे अपनाना पड़ता है।

व्यवहार और निश्चय

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो हु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषियोंने वतलाया है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टी है। [आशय यह है कि शुद्धनय सत्यार्थ है इसको अपनानेसे जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु इसको जाने विना जब तक जीव व्यवहारमें मग्न है तब तक सम्यक्त्व नहीं हो सकता]।

व्यवहार और निश्चयके पात्र

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान तथा ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उनको तो शुद्ध आत्माका कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है। किन्तु जो जीव श्रद्धा ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तक नहीं पहुँच सके हैं और साधक दशामें स्थित हैं वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश करनेके योग्य हैं।

शुद्धनयसे जानना ही सम्यक्त्व है

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव-संवर-णिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थ अर्थात् शुद्धनयसे जाने गये जीव अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं। अर्थात् इन तत्त्वोंको शुद्धनयसे जान लेना सम्यग्दर्शन है।

शुद्धनयका स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो नय आत्माको बन्ध रहित, परके स्पर्शसे रहित, अन्यसे रहित, चंचलतासे रहित, विशेषसे रहित और अन्यके संयोगसे रहित देखता है उसे शुद्धनय जानो।

जो आत्माको देखता है वह जिन शासनको देखता है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट—द्रव्यकर्म और नोकर्मसे अछूता, अनन्य—अन्यसे रहित, अविशेष-विशेषसे रहित देखता है वह समस्त जिन-शासनको देखता है। ['अपदेस सुत्तमज्झं' का अर्थ आत्मख्यातिमें नहीं है। और तात्पर्यवृत्तिमें जो अर्थ किया है वह मेरी समझमें नहीं आया। अतः मैंने भी इस पदका अर्थ छोड़ दिया है]।

दर्शनज्ञान चारित्र आत्मरूप ही हैं—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधुको नित्य ही दर्शन ज्ञान और चारित्रका पालन करना चाहिये। तथा उन तीनोको निश्चयनयसे एक आत्मा ही जानो। अर्थात् ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। अत: निश्चयसे साधुको एक आत्माका ही सेवन करना योग्य है।

दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एव हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

जैसे कोई धनका अर्थी मनुष्य राजाको जानकर श्रद्धा करता है, उसके पश्चात् उसकी अच्छी तरहसे सेवा करता है। इसी तरह मोक्षकी इच्छा करने वालेको जीवरूपी राजाको जानना चाहिये, फिर उसी रूपसे श्रद्धान करना चाहिये। और उसके पश्चात उसीका अनुचरण अर्थात् अनुभवन करना चाहिये।

आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

जब तक इस आत्माकी ऐसी बुद्धि है कि ज्ञानावरण आदि कर्म और शरीर आदि नो कर्मरूप मैं हूँ, और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं, तबतक यह आत्मा अज्ञानी है।

ज्ञानी और अज्ञानीका चिन्ह

अहमेद एदमहं अहमेदस्स[1] हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं [2]एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं [3]एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो॥
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

१ –स्सेव होमि मम–ता० वृ०। २ अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि–ता० वृ०। ३ अहमेदं चावि हो–ता० वृ०।

जो पुरुष अपनेसे भिन्न सचित्त स्त्री पुत्र आदि, अचित्त धन्य धान्य आदि और मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त ग्राम नगर आदि परद्रव्यको ऐसा मानता है कि मैं यह हूँ, ये द्रव्य मुझ रूप हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, पहले ये मेरे थे, मैं भी पहले इनका था, ये आगामीमें मेरे होंगे, मैं भी आगामीमें इनका होऊँगा वह अज्ञानी है। और जो सत्यार्थको जानता हुआ ऐसा मिथ्या विकल्प नहीं करता, वह ज्ञानी है।

आचार्य अज्ञानीको समझाते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ॥२५॥

जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है, वह जीव कहता है कि यह बद्ध शरीर आदि तथा अबद्ध धन धान्य आदि पुद्गल द्रव्य मेरा है, तथा जीव राग द्वेष मोह आदि अनेक भावोंसे संयुक्त है। आचार्य उसे समझाते हैं कि सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा जो जीव नित्य उपयोग लक्षणवाला देखा गया है, वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है जिससे तू कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है? यदि जीव द्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होजाये और पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्यरूप हो जाये तो तुम यह कह सकते हो कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है।

अज्ञानीकी आशंका

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

अज्ञानी कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थङ्कर और आचार्योंकी जो स्तुति है वह सब मिथ्या हो जाती है। [क्योंकि शरीरको लेकर ही स्तुतियाँकी जाती हैं] अतः आत्मा शरीर ही है।

उत्तर

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनय कहता है कि जोव और शरीर एक हैं। किन्तु निश्चय नय कहता है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु सथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

जीवसे भिन्न इस पुद्गलमय शरीरकी स्तुति करके मुनि ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुति और वन्दना की।

त णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२६॥

किन्तु निश्चयमें यह ठीक नहीं है क्यो कि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं हैं। अत जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही वास्तवमें केवलीकी स्तुति करता है।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

जैसे नगरका वर्णन करनेसे राजाका वर्णन नहीं हो जाता। वैसे ही शरीरके गुणोंका स्तवन करनेसे केवलिके गुणोंका स्तवन नहीं होता।

निश्चय स्तुति

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

जो इन्द्रियोंको जीतकर आत्माके ज्ञान स्वभाव होनेसे उसे अन्य द्रव्योंसे विशिष्ट मानता है, निश्चय नयमें स्थित साधु उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥३२॥

जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभाव होनेसे आत्माको अन्य द्रव्योंसे विशिष्ट मानता है, परमार्थके जाननेवाले साधु उस साधुको जितमोह कहते हैं।

जिदमोहस्स तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

उपसंहार

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥३८॥

ज्ञानी आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चयसे मैं एक हू, दर्शन ज्ञानमय हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

जीव-अजीव अधिकार

जीवके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ

अप्पाणमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तण-मंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण[1] परमट्ठवाइणो णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्माको नहीं जानते हुए, परको आत्मा कहनेवाले कोई मूढ अज्ञानी अध्यवसान को और कोई कर्मको जीव कहते हैं। दूसरे कोई अध्यवसानमें तीव्र मन्द अनुभागगतको जीव मानते हैं। अन्य कोई नोकर्मको जीव मानते हैं। अन्य कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई कर्मका अनुभाग जो तीव्रता या मन्दता गुणको लिये हुए होता है,

१ –ण दु परप्पवादी णि– ता० वृ० ।

उसे जीव मानते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुओंको जीव मानते हैं। दूसरे कोई कर्मोंके संयोगसे ही जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि लोग परको आत्मा कहते हैं। वे परमार्थ-वादी अर्थात् सत्य अर्थका कथन करनेवाले नहीं हैं, ऐसा निश्चयवादियोंने कहा है।

उक्त कथन करनेवाले सत्यवादी क्यों नहीं है?

एए सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिदा कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

ऊपर कहे गये अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परिणामसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेवने कहा है। उनको जीव कैसे कह सकते हैं?

अध्यवसान आदि भी पौद्गलिक हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

जिनेन्द्र देवने कहा है कि आठ प्रकारके सभी कर्म पौद्गलिक हैं। तथा पककर उदयमें आने वाले उस कर्मका फल दुःख है ऐसा कहा है। आशय यह है कि अध्यवसान आदि भावोंको उत्पन्न करने वाले कर्म पौद्गलिक हैं और पौद्गलिक कर्मोंका फल दुःख है। अतः अध्यवसान आदि भाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं।

व्यवहारसे ही उन्हें जीव कहा है—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जिनवर देवने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहार नयका मत है।

व्यवहारनयका उदाहरण

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो वलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु वुच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाण ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

जैसे राजा निकला, यहाँ व्यवहारनयसे सेनाके समुदायको 'राजा निकला' ऐसा कहाजाता है। वास्तवमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार परमागममें अध्यवसान आदि भावोंको, ये जीव हैं, ऐसा जो कहा है वह व्यवहारसे कहा है, निश्चयसे तो जीव एक है।

जीवका स्वरूप

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसंठाण ॥४९॥

जीवको रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना गुण वाला, शब्द रहित, इन्द्रियोंके अगोचर और अनियत आकारवाला जानो।

उक्त कथनका खुलासा

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीर ण वि सठाण ण सहणण ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्म णोकम्म चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण वधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिवधट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो सजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवके वर्ण नहीं है, गध भी नहीं है, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, सहनन भी नहीं है। तथा जीवके राग नहीं है, द्वेप भी नहीं है, मोह भी नहीं है, आस्रव भी नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी नहीं है। जीवके वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है, कोई स्पर्द्धक भी नहीं है, न अध्यवस्थान है और न अनुभाग

स्थान ही हैं। जीवके न कोई योगस्थान है, न वन्धस्थान है, न उदय-स्थान है और न कोई मार्गणास्थान है। जीवके न स्थितिबन्धस्थान हैं, न संक्लेश स्थान हैं, न विशुद्धि स्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं, न जीवस्थान हैं, और न गुणस्थान है, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहार नयसे तो जीवके हैं। परन्तु निश्चयनयसे इनमेंसे कोई भी भाव जीवका नहीं है।

ये भाव जीवके क्यों नहीं हैं?

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और जलके सम्बन्धकी तरह ही जानना चाहिये। किन्तु वे जीवके नहीं हैं, क्योंकि जीवमें उनसे उपयोग गुण अधिक है, अर्थात् उन भावोंमें जानना देखना-पना नहीं है, किन्तु जीवमें है। इसलिये जीव उनसे भिन्न है।

व्यवहार और निश्चयमें अविरोध

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥५९॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

जैसे मार्गमें चलनेवालोंको लुटता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है। किन्तु कोई मार्ग लुटता नहीं है, जानेवाले लोग ही लुटते हैं। इसी तरह जीवमें कर्म और नोकर्मोंका वर्ण देखकर 'यह जीवका वर्ण है' ऐसा जिनदेवने व्यवहारसे कहा है। इसी प्रकार जो गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर और संस्थान वगैरह हैं, वे सब व्यव-हारसे जीवके हैं, ऐसा निश्चयनयके द्रष्टा पुरुष कहते हैं।

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

वे वर्ण आदि भाव संसारमे स्थित जीवोंके संसार अवस्थामे ही होते हैं। संसारसे मुक्त हुए जीवोंके कोई भी वर्ण आदि भाव नहीं होता।

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

ये सब वर्ण आदि भाव जीवरूप ही हैं, यदि ऐसा तू मानता है तो तेरे मतमें जीव और अजीवमे कोई भेद नहीं रहता।

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥६४॥

अथवा यदि तेरा मत है कि संसारमे स्थित जीवोंके वर्णादि होते हैं तो संसारी जीव रूपीपनेको प्राप्त हुए कहलाये। ऐसी स्थितिमें पुद्‌लके लक्षणके समान ही जीवका लक्षण होनेसे हे मूढ बुद्धि! पुद्‌गल द्रव्य ही जीव हुआ। तथा निर्वाण प्राप्त होनेपर भी पुद्‌गल ही जीवपनेको प्राप्त हुआ कहलाया। आशय यह है कि यदि ऐसा माना जाये कि संसार अवस्थामें जीव वर्णादिवाला है तो वर्णादिमान होना तो पुद्‌गलका लक्षण है। अत पुद्‌गल द्रव्य ही जीव द्रव्य ठहरा। ऐसी स्थितिमें मोक्ष भी पुद्‌गलको ही हुआ। इससे मोक्षमें भी पुद्‌गल ही जीव ठहरा, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। अतः जीव वर्णादिवाला नहीं है।

जीवसमास जीव नहीं है—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥

एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाओ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये सब नामकर्मकी प्रकृतिया हैं। इन

करणभूत पुद्गलमयी प्रकृतियोंके द्वारा जीवस्थानोंकी रचना हुई है। अतः उनके द्वारा जीव कैसे कहा जा सकता है?

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

आगममें जो देहकी पर्याप्त अपर्याप्त और सूक्ष्म बादर आदि जिन संज्ञाओंको जीवसंज्ञा रूपसे कहा है वह सब व्यवहारसे कहा है।

गुणस्थान जीव नहीं है—

मोहणकम्मस्सुदयादु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

मोहनीय कर्मके उदयसे जो ये गुणस्थान कहे गये हैं, जिन्हें सदा अचेतन कहा है, वे जीव कैसे हो सकते हैं।

— ० —

कर्तृकर्माधिकार

जीवके कर्मबन्ध कैसे होता है?

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥

जीव जब तक आत्मा और आस्रव, इन दोनोंके विशिष्ट भेदको नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोध आदिमें प्रवृत्ति करता है। क्रोध आदिमें प्रवृत्ति करते हुए उस जीवके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार सर्वज्ञ देवने जीवके कर्मका बन्ध कहा है।

बन्धका निरोध कब होता है?

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

जब यह जीव आत्मा और आस्रवके विशिष्ट अन्तरको जान लेता है। तब इसके बन्ध नहीं होता।

जानने मात्रसे बन्धका निरोध कैसे होता है?

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

आस्रवोंका अशुचिपना, विपरीतपना और 'ये दुःखके कारण हैं' ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है, अर्थात् उनमें प्रवृत्ति नहीं करता।

आस्रवोंसे निवृत्तिका उपाय

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७३॥

ज्ञानी जीव विचारता है कि निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान और दर्शनसे पूर्ण हूँ। अपने इस स्वभावमें स्थित होकर उसीमें लीन होता हुआ मैं इन सब आस्रवोंको क्षय कर देता हूँ।

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

ये आस्रव जीवके साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःख रूप हैं और उनका फल दुःख ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है।

आत्माके ज्ञानी होनेकी पहचान

कम्मस्स य परिणाम णोकम्मस्स य तहेव परिणाम ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

जो आत्मा इस कर्मके परिणामको, उसी तरह नोकर्मके परिणामको नहीं करता, परन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।

ज्ञानी पररूप परिणमन नहीं करता—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पजदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणतो वि हु पोग्गलकम्म अणेयविह ॥७६॥

ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको जानता हुआ भी निश्चयसे न तो परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता हे। आशय यह है कि ज्ञानी पुद्गल कर्मको जानता तो है परन्तु पुद्गलके साथ उसका कर्तापना या कर्मपना नहीं है न पुद्गलकर्म जीवका कार्य है और न जीव उसका कर्ता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु सगपरिणाम अणेयविह ॥७७॥

ज्ञानी अनेक प्रकारके अपने परिणामोंको जानता हुआ भी न तो परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे गृहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणत ॥७८॥

ज्ञानी पुद्गलकर्मोंके अनन्त फलोंको जानता हुआ भी निश्चयसे न तो पर द्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है।

पुद्गल कर्मका भी जीवके साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्व पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

इसी तरह पुद्गलद्रव्य भी न तो परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है। किन्तु अपने भावरूपसे ही परिणमता है।

जीव और पुद्गलका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हपि ॥८१॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥८२॥

जीवके परिणामके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। इसी तरह पुद्गल कर्मोंके निमित्तसे जीव भी परिणमन करता है। न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है, इसी प्रकार न कर्म जीवके गुणोंको करते हैं। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो। इस कारणसे आत्मा अपनेही भावसे कर्ता कहलाता है, किन्तु वह पुद्गलकर्मोंके द्वारा किये हुए समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।

निश्चयसे आत्मा अपने ही भावोंका कर्ता भोक्ता है—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

इस प्रकार निश्चयनयके अनुसार आत्मा अपनेको ही करता है और फिर अपनेको ही भोगता है, ऐसा जानो।

और व्यवहारसे

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारनयके अनुसार आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंको करता है और फिर उन्हीं अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको भोगता है।

उक्त व्यवहारमें दूषण

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियाविदिरित्तो पसज्जदि सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा इस पुद्गल कर्मको करता है और उसीको भोगता है तो वह आत्मा स्व और पररूप दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है और यह बात जिन सम्मत नहीं है। [आशय यह है कि दो द्रव्योंकी क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं—चेतनकी क्रिया जड नहीं कर सकता और जड़की क्रिया चेतन नहीं कर सकता। जो एकही द्रव्यमें दोनों क्रियाएँ मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है]

दो क्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों हैं ?

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यतः दो क्रियावादी यह मानते हैं कि आत्मा आत्माके भावको और पुद्गलके भावको दोनोंको ही करता है। इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

उसीका विशेष कथन

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वके दो प्रकार हैं—एक जीव मिथ्यात्व और एक अजीव मिथ्यात्व। उसी तरह अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि ये सभी भाव जीव और अजीवके भेदसे दो दो प्रकारके हैं।

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो त्ति ॥८८॥

पुद्गल कर्मरूप जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान हैं वे अजीव हैं और उपयोगरूप जो अज्ञान अविरति और मिथ्यात्व हैं, वह जीव है।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

अनादिकालसे मोहसे युक्त उपयोगके, मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति-भाव ये तीन अनादि परिणाम जानने चाहियें।

उक्त तीनों परिणामोंका कर्ता आत्मा है—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

यद्यपि यथार्थमें वह उपयोग शुद्ध और निरंजन भावरूप है, किन्तु मिथ्यात्व अज्ञान और अविरतिका निमित्त मिलनेसे तीन प्रकारका है। इनमेंसे उपयोगरूप आत्मा जिस भावको करता है वह उसीका कर्ता होता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९१॥

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है। उसके कर्ता होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करता है।

अज्ञानसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

परको अपना करता हुआ और अपनेको पर करता हुआ यह जीव अज्ञानी है । यह अज्ञानी जीव कर्मोंका कर्ता होता है ।

ज्ञानसे कर्मोंकी उत्पत्ति नहीं होती—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

परको अपना नहीं करता हुआ और अपनेको भी परका नहीं करता हुआ जीव ज्ञानी है । यह ज्ञानी जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता ।

अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं ?

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९४॥

मिथ्यात्व अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका उपयोग 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा आत्म विकल्प करता है । उससे यह आत्मा उस उपयोग-रूप आत्म भावका कर्ता होता है ।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्मादि ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

तीन प्रकारका यह उपयोग 'मैं धर्म द्रव्य आदि हूँ' ऐसा आत्मविकल्प करता है । उससे यह आत्मा उस उपयोगरूप आत्मभावका कर्ता होता है ।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥९६॥

इस प्रकार अज्ञानी अज्ञान भावसे परद्रव्योंको अपना करता है और अपनेको परका करता है ।

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

उक्त कारणसे निश्चयको जाननेवाले ज्ञानियोंने उस आत्माको कर्ता कहा है। जो ऐसा जानता है वह सब कर्तृत्वको छोड देता है। [साराश यह है कि अज्ञानी अवस्थामें ही परद्रव्यका कर्तृत्व बनता है। ज्ञानी होनेपर परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता।]

ववहारेण दु आदा करेदि घटपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

व्यवहारसे इस लोकमें ऐसा माना जाता है कि आत्मा घट, पट रथ आदि वस्तुओंको तथा इन्द्रियोंको और अनेक प्रकारके कर्मों और नोकर्मोंको करता है।

उक्त व्यवहार यथार्थ नहीं है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि आत्मा परद्रव्योंको करे तो वह नियमसे परद्रव्यमय हो जाय। परन्तु यतः वह परद्रव्यमय नहीं होता इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव न घटको करता है, न पटको और न शेष द्रव्योंको ही करता है। किन्तु जीवके योग और उपयोग घटादिकी उत्पत्तिमें निमित्त होते हैं और उनका कर्ता जीव है।

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

जो पुद्गल द्रव्योंके परिणाम ज्ञानावरण आदि कर्म हैं उनको आत्मा नहीं करता। जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी है।

अज्ञानी भी पर भावका कर्ता नहीं है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भावको करता है वह उसका कर्ता होता

है और वह भाव उसका कर्म होता है। तथा वह आत्मा उस भावका भोक्ता होता है।

कोई द्रव्य पर भावको नहीं कर सकता—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो द्रव्य जिस द्रव्यमें और गुणमें रहता है वह अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें संक्रमण नहीं करता अर्थात वह अपने स्वभाव और गुणको छोड़कर अन्य द्रव्य और अन्य गुणरूप नहीं बदलता। इस प्रकार अन्यरूपमें संक्रान्त नहीं होता हुआ वह द्रव्य अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है। साराश यह है कि द्रव्यका जो स्वभाव है उसे कोई भी बदल नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी मर्यादामें ही रहता है।

अत आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता नहीं है—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता। उन दोनोंको नहीं करते हुए वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है?

आत्माको पुद्गल कर्मका कर्ता कहना उपचार मात्र है—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवके निमित्तभूत होनेपर पुद्गलोंके कर्मबन्धरूप परिणामको देखकर उपचारमात्रसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मको किया'।

दृष्टान्त द्वारा उपचारका स्पष्टीकरण

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

सैनिकोंके द्वारा युद्ध करने पर लोग ऐसा कहते हैं कि राजाने युद्ध किया। उसी प्रकार व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरण आदि कर्म किये।

व्यवहार नयका वक्तव्य

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

आत्मा पुद्‌गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहार नयका कथन है ।

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

जैसे राजाको व्यवहारसे प्रजाके दोषों और गुणोंका उत्पादक कहा जाता है वैसे ही जीवको व्यवहारसे पुद्‌गलके द्रव्य-गुणोंका उत्पादक कहा है ।

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥

अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

जैसे उपयोग जीवसे अन्य नहीं हैं वैसे ही यदि क्रोध भी जीवसे अनन्य है अर्थात् एक रूप है तो ऐसी स्थितिमें जीव और अजीव अनन्य ठहरते हैं। और ऐसा होनेपर इस जगतमें जो जीव है वही नियमसे अजीव ठहरा। प्रत्यय, कर्म और नोकर्मको भी एक मानने पर यही दोष आता है। इस दोषके भयसे यदि तेरे मतमें क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है तो जैसे क्रोध आत्मासे अन्य है वैसे ही प्रत्यय कर्म और नोकर्म भी आत्मासे अन्य ही हैं।

पुद्गल द्रव्य परिणामी है—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गल दव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

यदि ऐसा माना जाये कि यह पुद्गलद्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बंधा और न स्वयं कर्मरूप परिणत होता है तो वह अपरिणामी ठहरता है। तथा कार्मण वर्गणाओंके कर्मरूपसे परिणमन न करनेपर संसारके अभाव का प्रसंग आता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। यदि ऐसा माना जाता है कि जीव पुद्गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि स्वयं परिणमन न करते हुए पुद्गलद्रव्योंको जीव कैसे परिणमा सकता है? अथवा यदि यह माना जाता है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करता है तो जीव पुद्गल द्रव्यको कर्मरूपसे परि-

णमाता है यह कथन मिथ्या ठहरता है। अतः नियमसे कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप होता है। तथा ज्ञानावरणादि रूपसे परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरण आदि है ऐसा जानो।

जीव भी परिणामी है—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१॥

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादि भावेहिं ॥१३५॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जीवोंके जो तत्त्वका अज्ञान है वह अज्ञानका उदय है। जीवके जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह मिथ्यात्वका उदय है। जीवोंका जो अविरमण अर्थात् अत्याग भाव है वह असंयमका उदय है। जीवोंका जो कलुषित उपयोग है वह कषायका उदय है। जीवोंके जो शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है उसे योगका उदय जानो। इन उदयोंके हेतुभूत होनेपर जो कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरण आदि भावसे आठ प्रकार परिणमन करता है वह कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ द्रव्य जब जीवसे बंधता है तब जीव अपने अज्ञानरूप परिणामोंका हेतु होता है। [आशय यह है कि मिथ्यात्व आदिका उदय पुद्गलका परिणाम है। उस उदयका निमित्त मिलनेपर कार्मणवर्गणारूप पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमन करते और जीवके साथ बंधते हैं। तथा उस समय जीव स्वयं ही अज्ञान आदि रूपसे परिणमन करता है।

कहलायेंगे। किन्तु कर्मरूपसे परिणमन तो अकेले पुद्गलद्रव्यका ही होता है। अतः जीव भावरूप निमित्तके बिना ही कर्मका परिणाम होता है।

यदि जीवके रागादि परिणाम कर्मके साथ होते हैं अर्थात् जीव और कर्म दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमन करते हैं तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिरूप परिणामी ऐसा कहा जायेगा। किन्तु रागादिरूप परिणाम तो अकेले जीवके ही होते हैं। अतः कर्मके उदयरूप निमित्तके बिना ही जीवके रागादि परिणाम होते हैं। ऐसा मानना चाहिये।

जीवमें कर्मबद्ध है या अबद्ध?

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवमें कर्म बद्ध और स्पृष्ट है, यह व्यवहार नयका कथन है। जीवमें कर्म अबद्ध और अस्पृष्ट है, यह निश्चय नयका कथन है।

किन्तु समयसार उभयनयातीत है—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीवमें कर्म बद्ध है अथवा जीवमें कर्म अबद्ध है इस प्रकार ये दोनों नयपक्ष हैं। किन्तु जो पक्षातिक्रान्त है, वह समयसार है।

पक्षातिक्रान्तका स्वरूप

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

आत्माका अनुभव करनेवाला जीव दोनों नयोंके कथनोंको केवल

जानता है। किन्तु नयपक्षसे रहित होता हुआ किसी भी नयका पक्ष ग्रहण नहीं करता।

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सब नयपक्षोंसे रहित कहा जाता है वही समयसार है। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यह नाम मिलता है।

पुण्य-पाप अधिकार

कर्ममें शुभ अशुभ भेद निरर्थक है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अशुभ कर्मको कुशील और शुभ कर्मको सुशील जानो। किन्तु जो संसारमें प्रवेश कराता है वह कर्म सुशील कैसे हो सकता है?

शुभ अशुभ कर्म बन्धके कारण है—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

जैसे सोनेकी बेडी भी पुरुषको बाधती है और लोहेकी बेड़ी भी पुरुषको बाधती है। उसी प्रकार किये हुए शुभ और अशुभकर्म जीवको बाधते हैं।

अतः दोनों त्याज्य हैं—

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरागेण ॥१४७॥

अतः दोनों प्रकारके कुशील कर्मोंके साथ न राग करो और न उनका संसर्ग करो . क्योंकि कुशीलोंका संसर्ग करनेसे तथा उनसे राग करनेसे स्वाधीनताका विनाश होता है ।

दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसील जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

जैसे कोई पुरुष खोटी आदतवाले मनुष्यको जानकर उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड देता है । वैसे ही अपने स्वभावमें लीन पुरुष कर्म प्रकृतियोंके शील-स्वभावको कुत्सित जानकर उनका संसर्ग छोड देते हैं और उनसे दूर रहते हैं ।

आगमसे समर्थन

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपन्नो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्मका बन्ध करता है और विरागसे सम्पन्न जीव कर्म बन्धनसे छूट जाता है । यह जिन भगवानका उपदेश है । अतः कर्मोंमें राग मत करो ।

ज्ञान ही मोक्षका कारण है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

निश्चयसे जो परमार्थ है वही समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है । उस परमार्थ स्वभावमें स्थित मुनिजन निर्वाणको प्राप्त करते हैं ।

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेइ ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

जो परमार्थमें स्थित नहीं है, वह जो तप करता है और व्रत धारण करता है, उस सबको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं ।

वदणियमाणि धरता सीलाणि तहा तवं च कुव्वता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति ॥१५३॥

व्रत-नियमोंको धारण करते हुए और शीलों तथा तपका आचरण करते हुए भी जो परमार्थसे बाहर हैं, अर्थात परमार्थके ज्ञान और श्रद्धानसे शून्य हैं, वे निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकते।

पुण्य ससारका कारण है, मोक्षका नहीं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
ससारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणता ॥१५४॥

जो परमार्थसे बाहर हैं, वे मोक्षके कारणको नहीं जानते हुए, अज्ञान-वश ससार भ्रमणके कारणभूत भी पुण्यको चाहते हैं।

मोक्षका कारण

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान सम्यक्त्व है। उनका जानना ज्ञान है और रागादिका त्याग चारित्र है। ये तीनों मोक्षका मार्ग हैं।

विद्वानों और यतियोंमें भेद

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

विद्वान लोग निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु परमार्थका आश्रय लेनेवाले यतियोंके ही कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा आगमका विधान है।

कर्म मोक्षके कारणोंको ढाँकता है—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[1] ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[2] ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[3] ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥१५९॥

१-२-३—'णासत्तो', आ०।

जैसे वस्त्रकी सफेदी मैलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही मिथ्यात्वरूपी मैलके संसर्गसे व्याप्त हुआ सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्रकी सफेदी मैलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मैलके संसर्गसे व्याप्त हुआ ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्रकी सफेदी मलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही कषायरूपी मलके संसर्गसे व्याप्त हुआ चारित्र भी नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

कर्म स्वयं ही बन्धरूप है—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण वि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। किन्तु अपने कर्मरूपी रजसे व्याप्त होनेके कारण संसार अवस्थाको प्राप्त हुआ पूरी तरहसे सबको नहीं जानता।

कर्म मोक्षके कारणोंके विनाशक हैं—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१६३॥

मिथ्यात्व सम्यक्त्वको रोकनेवाला है ऐसा जिनवर देवने कहा है। उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना। अज्ञान ज्ञानका रोकनेवाला है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है। उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना। कषाय चारित्रको रोकती है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है। उसके उदयसे जीव अचारित्री—चरित्रहीन होता है ऐसा जानना।

आस्रव-अधिकार

आस्रवका स्वरूप

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग चेतन भी हैं और अचेतन भी हैं। इनके अनेक भेद हैं। ये सब जीवमे होते हैं और जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। तथा वे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके कारण होते हैं। और उनका कारण रागद्वेषादि भावोंका कर्ता जीव होता है।

ज्ञानीके उनका अभाव है—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

सम्यग्दृष्टीके आस्रव पूर्वक बन्ध नहीं होता, क्योंकि उसके आस्रवका निरोध अर्थात् संवर होता है। वह नवीन कर्मोंको नहीं बांधता हुआ पहले बंधे हुए कर्मोंको, जो सत्तामे स्थित हैं, जानता है।

राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

जीवके द्वारा किये गये रागादियुक्त भावको बंधक कहा है। और रागादिसे रहित भाव बन्धक नहीं है, केवल ज्ञायक है।

राग द्वेषसे रहित भावकी उत्पत्ति

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥१६८॥

जैसे पके हुए फलके गिरजानेपर वह फल पुनः वृन्तसे नहीं बंधता। वैसे जीवके कर्मभावकी निर्जरा हो जानेपर वह पुनः उदयको प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है –

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिवद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥१६९॥

उस ज्ञानीके पहले बंधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यप्रत्यय मिट्टीके ढेलेके समान अकिञ्चित्कर है। तथा वे सब कार्मण शरीरके साथ सम्बद्ध हैं (जीवके साथ नहीं)।

ज्ञानी निरास्रव क्यों है ?

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अवधो त्ति णाणी दु ॥१७०॥

चूंकि मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगके भेदसे चार प्रकार का द्रव्यप्रत्यय ज्ञान और दर्शन गुणोंके द्वारा प्रति समय अनेक प्रकारके कर्मोंको बाधता है। अर्थात् उदयागत कर्म जीव के ज्ञान और दर्शन गुणोंको अज्ञान रूपसे परिणमाते हैं और अज्ञानभाव रूपसे परिणत ज्ञान और दर्शनगुण बन्धके कारण होते हैं। अतः ज्ञानी को अबंधक कहा है।

ज्ञानगुण का परिणमन बन्धका कारण कैसे है ?

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्त णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

चूंकि ज्ञान गुण जघन्य ज्ञान गुणसे भी पुनः अन्यरूप परिणमन करता है। अर्थात जब तक ज्ञानगुण जघन्य रहता है तब तक उसका पुनः पुनः अन्यरूप परिणमन हुआ करता है। और यथाख्यात चारित्ररूप अवस्था से नीचे राग का सद्भाव अवश्य रहता है, अतः उस ज्ञान गुणको बंधक कहा है।

तब ज्ञानी निरास्रव कैसे है ?

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

अतः ज्ञान दर्शन और चारित्र जघन्य रूपसे परिणमन करते है। इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोसे बंधता है। आशय यह है कि जब तक ज्ञानी ज्ञानको जघन्य रूपसे जानता देखता और आचरता है तब तक पुद्गलकर्मका बंध होता है अतः जो साक्षात् ज्ञानीभूत है वह निरास्रव है।

ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टीको अबंधक कहनेका कारण —

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥

संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

सम्यग्दृष्टीके पहले बंधे हुए सब प्रत्यय हैं और उपयोगके प्रयोगानुसार वे कर्म रूपसे बंध कराते हैं। किन्तु सत्ता अवस्थामें वे निरुपभोग्य हैं। जैसे लोकमें बाला स्त्री पुरुषके भोगने योग्य नहीं होती। जब वे प्रत्यय भोगने योग्य होते हैं अर्थात् उदयागत होते हैं तो बंध कराते हैं, जैसे तरुणी स्त्री पुरुषको बांधती है। निरुपभोग्य होकर वे प्रत्यय जिस रूपसे भोगने योग्य होते हैं उसी रूपमें ज्ञानावरणादिरूपसे सात प्रकारके अथवा आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध कराते हैं। इस कारणसे सम्यग्दृष्टीको अबंधक कहा है। क्योंकि आस्रवभावके अभावमें प्रत्ययोंको बन्धक नहीं कहा है। आशय यह है कि पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय पहले निरुपभोग्य रहते हैं-उदयकाल आने-पर उपभोगयोग्य होते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी कर्मके उदयसे होनेवाले जीवके भावोंके निमित्तसे ही वे कर्मबन्ध कराते हैं। किन्तु कर्मके उदयके कार्य राग द्वेष मोहरूप आस्रवभावके अभावमें द्रव्य प्रत्यय बन्धके कारण नहीं हैं।

उक्त बातका ही समर्थन करते हैं—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

राग, द्वेष, और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टीके नहीं है। इसलिये आस्रव भावके बिना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्धके कारण नहीं होते। मिथ्यात्व आदि चार प्रकारके हेतु आठ प्रकारके कर्मबन्धके कारण होते हैं और उन मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययोंके कारण रागादि भाव होते हैं। रागादिभावोंका अभाव होने पर कर्मबन्ध नहीं होता।

पुन दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते है –

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्ता ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणाद् त जीवा ॥१८०॥

जैसे पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्निसे संयुक्त होकर मांस, चर्बी, रुधिर आदि अनेक भावरूप परिणमन करता है। वैसे ही ज्ञानीके पहले जो मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय बंधे थे वे (जीवके रागादि भावोंसे संयुक्त होकर) अनेक प्रकारके कर्मबंधको करते हैं। किन्तु ऐसे जीव शुद्धनयसे हीन होते हैं। अर्थात् शुद्धनयसे च्युत होनेपर ज्ञानीके कर्मबन्ध होता है।

संवर-अधिकार

समस्त कर्मोके संवरका उत्तम उपाय भेद विज्ञान है अत सबसे प्रथम भेद विज्ञानका अभिनन्दन करते हैं।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥

निर्जरा अधिकार

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण ।
ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जरणिमित्त ॥१६३॥

सम्यग्दृष्टी जो इन्द्रियोके द्वारा अचेतन तथा चेतन पदार्थोंका उपभोग करता है वह सब निर्जराका निमित्त है ।

भाव निर्जराका स्वरूप

दव्वे उवभु जते णियमा जायदि सुह च दु क्खं वा ।
त सुहदुक्खमुदिण्ण वेददि अह णिज्जर जादि ॥१६४॥

द्रव्यका उपभोग करने पर नियमसे सुख अथवा दुःख होता है । और उस उदयागत सुख दुःखको जीव वेदन करता है । तदनन्तर वह निर्जराको प्राप्त हो जाता ह ।

ज्ञानकी सामर्थ्य

जह विसमुवभुजतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गलकम्मस्सुदय तह भुजदि णेव बज्झदे णाणी ॥१६५॥

जैसे वैद्य पुरुप विपको खाते हुए भी मरणको प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता है, किन्तु कर्मसे नहीं बधता ।

जह मज्ज पिवमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥१६६॥

जैसे कोई पुरुप अरुचि पूर्वक मद्यपान करता हुआ बदहोश नहीं होता वैसे ही द्रव्यके उपभोगमें अनासक्त ज्ञानी भी कर्मसे बद्ध नहीं होता ।

सेवतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ॥१६७॥

कोई तो विपयोका सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई विपयो का सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करता ह । जैसे कोई पुरुप विवाहादि प्रकरणमे लगा होने पर भी उस कार्यका स्वामी न होनेसे विवाहादि प्रकरण-का कर्ता नहीं होता ।

सम्यग्दृष्टीका भाव

उदयविवागो विविहो कम्माण वरिणश्रो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६८॥

कर्मोंके उदयका विपाक जिनेन्द्रदेवने अनेक प्रकारका कहा है। किन्तु वे सब मेरे स्वभावरूप नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।

पुग्गलकम्म रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६६॥

राग नामक पुद्गलकर्म है। उसीके उदयके विपाकसे यह रागरूप भाव होता है। यह मेरा भाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भाव हूँ।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाण मुणदि जाणगसहाव ।
उदय कम्मविवाग य मुअदि तच्च वियाणतो ॥२००॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टी अपनेको ज्ञायक स्वभाव जानता है। और तत्त्वको जानता हुआ कर्मके विपाकरूप उदयको छोड़ता है अर्थात् उसमें ममत्वबुद्धि नहीं करता।

रागी सम्यग्दृष्टी नहीं है—

परमाणुमित्तय पि हु रागादीण तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणतो अणप्पय चावि सो अयाणतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो ॥२०२॥

जिसके परमाणु बराबर भी रागादि भाव विद्यमान है, वह समस्त आगमका धारी होते हुए भी आत्माको नहीं जानता। और आत्माको नहीं जानता हुआ वह अनात्मा—आत्मासे भिन्न पदार्थोंको भी नहीं जानता। इस तरह जब वह जीव और अजीव तत्त्वको नहीं जानता तो वह सम्यग्दृष्टी कैसे हो सकता है?

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियद ।
थिरमेगमिम भाव उवलब्भत सहावेण ॥२०३॥

आत्मामे अपदभूत द्रव्यकर्मों और भावकर्मोंको छोडकर, स्वभावरूपसे अनुभूयमान नियत, स्थिर इस एक आत्मभावको ही ग्रहण करो।

आभिणि सुदोहि मण केवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदु णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये सब एक ही पद हैं (क्योंकि ज्ञानके सब भेद एक ज्ञानरूप ही हैं)। यही वह परमार्थ है जिसको प्राप्त करके आत्मा निर्वाण प्राप्त करता है।

णाणगुणेण[1] विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लभते ।
तं गिण्ह णियदमेदं[2] जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञान गुणसे रहित बहुतसे जीव इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं करते। अतः यदि कर्मोंसे छूटना चाहता है तो इस नियत ज्ञानपदको ग्रहण कर।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि[3] तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

हे भव्य! तू इस ज्ञानमें सदा लीन हो, इसीमें सदा सन्तुष्ट रह, इसीसे तृप्त हो। ऐसा होनेसे तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

अपनी आत्माको ही नियमसे अपना परिग्रह जानता हुआ कौन ज्ञानी ऐसा कहेगा कि यह पर द्रव्य मेरा द्रव्य है?

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

यदि पर द्रव्य मेरा परिग्रह है तो मैं जडपनेको प्राप्त हुआ। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहा वि ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

कोई छेदन करो, या भेदन करो, वा कोई उठाकर ले जाओ, अथवा

---

१ –गुणेहि, ता० वृ०। २ सुपदमेदं, ता० वृ०। ३ 'तो होहदि', ता० वृ०।

प्रलयको प्राप्त होओ, अथवा यहां वहां जाओ, तथापि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्म।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१०॥

जिसको इच्छा नहीं हैं उसको अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी धर्मकी इच्छा नहीं करता, अतः ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है। वह तो धर्मका केवल ज्ञायक है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्म।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

जिसके इच्छा नहीं हैं उसे अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी अधर्मकी इच्छा नहीं करता, अतः उसके अधर्मका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञाता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असण।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

जिसके इच्छा नहीं है उसे अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी भोजनकी इच्छा नहीं करता अतः उसके भोजनका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञातामात्र है।

अपरिग्गहो अणिच्छो [1]भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

जिसके इच्छा नहीं है उस अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी पीनेकी वस्तुकी इच्छा नहीं करता। अतः उसके पानका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञायकमात्र है।

[2]एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालवो य सव्वत्थ ॥२१४॥

इत्यादिक अनेक प्रकारके सब भावोंकी ज्ञानी इच्छा नहीं करता। वह सर्वत्र निरालम्ब होता हुआ नियमसे ज्ञायकभावरूप ही है।

---

१ 'भणिदो पाण च णिच्छदे णाणी' —ता० वृ०। २ 'इच्चादु एदु'— ता० वृ०।

ज्ञानीके भोगोंकी इच्छा भी नहीं है –

उप्पएणोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्च ।
कखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२१५॥

उत्पन्न हुआ कर्मके उदयका भोग ज्ञानीके सदा विराग बुद्धिसे ही होता है । और अनागत उदय की इच्छा ज्ञानी नहीं करता । अर्थात् ज्ञानी-की प्राप्त हुए भोगमे तो हेय बुद्धि रहती है और आगामी भोगोंकी वह इच्छा नहीं करता ।

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभय ।
त जाणगो दु णाणी उभय पि ण कखइ कया वि ॥२१६॥

जो अनुभवन करता है और जो अनुभव किया जाता है ये दोनों वेदक भाव और वेद्यभाव प्रतिक्षण विनाशी हैं । ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कभी भी उन दोनो भावोंकी इच्छा नहीं करता ।

बधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
ससारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

बन्ध और उपभोगके निमित्त ससार सम्बन्धी और शरीर सम्बन्धी अध्यवसानोके उदयमे ज्ञानीको राग उत्पन्न नही होता । आशय यह है कि कुछ अध्यवसान तो शरीरसम्बन्धी होते हैं और कुछ अध्यवसान संसार सम्बन्धी होते हैं । संसार सम्बन्धी अध्यवसान तो बन्धके निमित हैं और शरीरसम्बन्धी अध्यवसान भोगमें निमित्त हैं । बन्धमें निमित्त अध्यवसान तो रागद्वेष मोह आदि हैं और उपभोगमें निमित्त अध्यव-सान सुख दुःखादि हैं । इन सबमे ही ज्ञानी राग नहीं करता ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि [1]रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोह ॥२१९॥

ज्ञानी सब द्रव्योंमे रागादि नहीं करता अत॰ कीचडमे पडे हुए सुवर्ण की तरह वह कर्मोके मध्यमे रहते हुए भी कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं

---

१ 'कम्मरएण–' ता० वृ० ।

होता। किन्तु अज्ञानी सवद्रव्योंमें रागी होता है। अतः कीचड़में पड़े हुए लोहकी तरह कर्मोंके मध्यमे स्थित अज्ञानी कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।

शखके दृष्टान्त द्वारा ज्ञानीके बन्धका अभाव वतलाते हैं —

भुजतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
सखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो काउ ॥२२०॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुजतस्स वि णाण[1] ण सक्कमण्णाणद णेदु ॥२२१॥

जइया स एव सखो सेदसहाव तय पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभाव तइया सुक्कत्तण पजहे ॥२२२॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावत्तय पयहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणद गच्छे ॥२२३॥

जैसे, सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त अनेक द्रव्योंको भोगते हुए भी शखके श्वेतपनको कोई काला नहीं कर सकता। उसी प्रकार अनेक प्रकारके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्योंको भोगते हुए भी ज्ञानीके ज्ञानको अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता। और जब वही शख अपने श्वेतपनेको छोड़कर कृष्णपनेको प्राप्त होता है तो श्वेतपनेको छोड देता है। वैसे ही ज्ञानी भी जब अपने ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञान रूपसे परिणमन करता है तब अज्ञानपनेको प्राप्त होता है।

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्त तु सेवए राय।
तो सो वि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरय सेवदे सुहणिमित्त।
[2]तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो[3] च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्त ण सेवए राय।
तो सो ण देइ राया विविहे[4] भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥

---

१ 'ण वि सक्कदि रागदो णेदु' —ता० वृ०। २ —'तो सो वि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे' —ता० वृ०। ३ 'सो चेव णरो' —ता० वृ०। ४ 'विविहसुहुप्पादगे भोगे' —ता० वृ०।

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

जैसे इस लोकमें कोई पुरुष आजीविकाके लिए राजाकी सेवा करता है तो वह राजा भी उस पुरुषको सुख देनेवाले अनेक प्रकारके भोग देता है। इसी तरह जीव पुरुष सुखके लिये कर्मरूपी रजकी सेवन करता है तो वह कर्म भी सुख देनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको देता है। तथा जैसे वही पुरुष आजीविकाके लिए राजाकी सेवा नहीं करता तो वह राजा भी सुख देनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको नहीं देता। इसी तरह सम्यग्दृष्टी विषयोंके लिये कर्मरजका सेवन नहीं करता तो वह कर्म भी सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको नहीं देता।

सम्यग्दर्शनके आठ गुणोंमेंसे निःशंकित गुणका कथन

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टी जीव निःशंक होते हैं। और चूंकि वे निःशंक होते हैं इसीसे निर्भय होते हैं। और चूंकि वे इस लोकका भय, परलोकका भय, अत्राण भय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय, और आकस्मिक भय, इन सात भयोंसे मुक्त होते हैं इसी कारणसे वे निःशंक होते हैं।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते [1]कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

जो कर्मबन्धसम्बन्धी मोहको करनेवाले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग इन चारों ही पायोंको काट डालता है उस निःशंक चेतयिता आत्माको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

निःकांक्षित गुणका कथन

जो[2] दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

जो सब कर्मोंके फलोंमें और सब वस्तुधर्मोंमें आकांक्षा नहीं रखता

---

१ 'कम्ममोह बाधकरे'–ता० वृ०। २ 'जो ण करेदि दु'–ता० वृ०।

अर्थात् उनकी इच्छा नहीं करता, उस आकांक्षा रहित आत्माको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

निर्विचिकित्सा गुणका कथन

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

जो आत्मा सभी वस्तुधर्मोंके प्रति ग्लानि नहीं करता उस निर्विचिकित्सा गुणके धारीको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

अमूढदृष्टी गुणका कथन

जो हवइ असम्मूढो चेदा [1]सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

जो चेतयिता आत्मा सब भावोंमें अमूढ है, यथार्थ दृष्टिवाला है उस अमूढदृष्टिको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

उपगूहन गुणका कथन

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

जो सिद्धभक्तिसे युक्त है और मिथ्यात्व रागादि विभावरूप सब धर्मोंका उपगूहक अर्थात् प्रच्छादक अथवा विनाशक है। उस उपगूहनकारीको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

स्थिति करण गुणका कथन

उम्मग्गं गच्छंतं [2]सगं पि मग्गे ठवेदि जो अप्पा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

जो आत्मा उन्मार्गमें जाते हुए अपनेको भी मार्गमें स्थापित करता है उस स्थितिकरण गुणसे युक्त आत्माको सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

वात्सल्य गुणका कथन

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

---

१ सव्वेसु कम्मभावेसु–ता० वृ०। २ 'सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं'–ता० वृ०।

अर्थात् शस्त्र संचालन करता है। तथा ताड, तम्बाखू, केला, वास, अशोक आदिके वृक्षोंका छेदन भेदन करता है। और इस तरह सचेतन और अचेतन द्रव्यों का उपघात करता है। इस तरह नाना प्रकारके साधनोंके द्वारा उपघात करनेवाले उस मनुष्यके धूलसे धूसरित होनेका क्या कारण है यह निश्चयसे विचार करो। उस मनुष्यके शरीरमें जो तेल आदि स्निग्धपदार्थ लगा हुआ है उसके द्वारा ही वह धूलसे सम्बद्ध होता है, यह निश्चयसे जानना चाहिये। शेष शारीरिक चेष्टाओंके द्वारा वह धूलसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार बहुत प्रकारकी चेष्टाओंको करता हुआ मिथ्यादृष्टि अपने उपयोगमे रागादि भावोंको करता है और इसीसे वह कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये सते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहि वायाम ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताण करेदि दव्वाणमुवघाद ॥२४३॥
उववाद कुव्वतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जदु किं पच्चयगो ण रयबधो ॥२४४॥
जो सो[1] दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबधो।
णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एव सम्मादिट्ठी वट्टतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरतो उवओगे रागादी ण[2] लिप्पदि रएण ॥२४६॥

किन्तु जब वही मनुष्य समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थोंको शरीरसे दूर करके, धूलसे भरे हुए स्थानमे शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है। तथा ताड़ तम्बाखु, केला, वास, अशोक आदिके वृक्षोंको छेदता भेदता है और सचेतन तथा अचेतन द्रव्योंका उपघात करता है। इस तरह नाना प्रकारके साधनोंके द्वारा उपघात करने वाले उस मनुष्यके धूलसे लिप्त न होनेका क्या कारण है यह निश्चयसे विचार करो। उस मनुष्यके शरीरमें जो स्निग्धता है उसीके द्वारा वह धूलसे लिप्त होता है यह निश्चयसे जानो,

---

१. सो असोह भावो—आ० । २. 'णेव बज्झदि रयेण'—ता० वृ० ।

शेप काय चेष्टाओंके द्वारा नहीं। इसी प्रकार अनेक प्रकारके मानसिक, वाचनिक और कायके व्यापारोंमे लगा हुआ सम्यग्दृष्टी अपने उपयोगमें रागादि नहीं करता। अतः वह कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता।

मिथ्यादृष्टिके भाव और उनका निराकरण

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

जो मानता है कि मैं अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता हूँ और अन्य प्राणि मेरी हिंसा करते हैं वह मूढ और अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्त।
आउ ण हरेसि तुम कह ते मरण कद तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरण जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्त।
आउ ण हरति तुह कह ते मरणं कद तेहिं ॥२४९॥

जिनेन्द्रदेवने आयुकर्मके क्षयसे जीवोंका मरण कहा है। और तू अन्य प्राणियोंकी आयुका हरण नहीं करता तो तूने उनका मरण कैसे किया? जिनेन्द्रदेवने आयुकर्मके क्षयसे जीवोंका मरण कहा है और अन्य जीव तेरी आयुको नहीं हरते। तब उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

जो मानता है कि मैं अन्य प्राणियोंको जिवाता हूँ और अन्य प्राणि मुझे जिवाते हैं वह मूढ और अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू।
आउ च ण देसि तुम कह तए जीविद कद तेसिं ॥२५१॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुह कह णु ते जीविद कद तेहिं ॥२५२॥

जीव आयुकर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। और तू किसीको आयु नहीं देता। तब तूने उनको जीवदान कैसे किया। आयुकर्म

के उदयसे जीव जीता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। और तुझे अन्य जीव आयु नहीं दे सकते तब उन्होंने तुझे जीवनदान कैसे दिया।

दुःख सुख भी स्वकर्मोदयसे होता है —

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो ऐसा मानता है कि मैं जीवोंको दुखी अथवा सुखी करता हूँ, वह मूढ अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्म च ण देसि तुम दुक्खिद-सुहिदा कह कया ते ॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्म च ण दिंति तुह कदो सि कह दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुह कह त सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुखी और सुखी होते हैं और तू उन्हें कर्म देता नहीं, तब तूने उन्हें दुखी अथवा सुखी कैसे किया? यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं और अन्य जीव तुझे कर्म देते नहीं तब उन्होंने तुझे दुःखी कैसे किया? यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुखी और सुखी होते हैं और अन्य जीव तुझे कर्म देते नहीं, तब उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया?

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब कर्मके उदयसे होता है। अतः मैंने मारा, मैंने दुखी किया, ऐसा तेरा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है?

किन्तु मिथ्या ही है। तथा जो नहीं मरता और जो दुखी नहीं होता वह भी कर्मके उदयसे ही। अतः मैंने नहीं मारा और मैंने दुःखी नहीं किया ऐसा तेरा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? किन्तु मिथ्या ही है।

उक्त मिथ्या भाव ही बन्धका कारण है —

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

तेरी जो ऐसी मति है कि मैं जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूँ, तेरी यह मूढ मति ही शुभाशुभ कर्मोंका बंध कराती है।

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

मैं जीवो को दुःखी अथवा सुखी करता हू ऐसा जो तेरा अध्यवसाय (भाव) है वही पापका बन्धक अथवा पुण्यका बन्धक होता है। मैं जीवों को मारता हू अथवा जिवाता हूँ ऐसा जो तेरा अध्यवसाय है वही पाप का बन्धक अथवा पुण्य का बन्धक होता है।

अत हिंसाका अभिप्राय ही हिंसा है —

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

जीवोंको मारो अथवा मत मारो, कर्मबन्ध अध्यवसानसे होता है। निश्चयनयसे यह जीवोंके बन्धका सक्षेप है।

यही बात असत्य सत्य आदिके विषयमें जाननी चाहिये —

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥२६३॥

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२६४॥

इसी तरह झूठमें, चोरीमें, अब्रह्मचर्यमें और परिग्रहमें जो अध्यवसान

किया जाता है उससे पापका बन्ध होता है। तथा सत्यमें, अचौर्यमें ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहपनेमें जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य कर्मका बंध होता है।

बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है –

वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होइ जीवाण।
ण य वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बधो त्ति ॥२६५॥

किन्तु जीवोंका जो अध्यवसान होता है वह वस्तुके आश्रयसे होता है। तथापि वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे बन्ध होता है।

अत उक्त मति मिथ्या है –

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधेमि तह विमोचेमि।
जा [1]एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अतः मैं जीवोको दुखी अथवा सुखी करता हूँ, उन्हे बाँधता तथा छुडाता हूँ, ऐसी जो तेरी मूढ मति है वह निरर्थक होनेसे मिथ्या है।

क्योंकि—

अज्झवसाणणिमित्त जीवा बज्झति कम्मणा जदि हि।
मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुम ॥२६७॥

यदि अध्यवसानके निमित्तसे जीव कर्मसे बँधते हैं और मोक्षमार्गमे स्थित होकर कर्मबन्धनसे छूटते हैं तो तू क्या करता है। अर्थात् बाँधने और छुडानेका तेरा अभिप्राय व्यर्थ ही है।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुए य सव्वे पुण्ण पाव च णेयविह ॥२६८॥

धम्माधम्म च तहा जीवाजीवे अलोयलोय च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाण ॥२६९॥

जीव अध्यवसानके द्वारा तिर्यञ्च, नारक, देव, मनुष्य इन सब पर्यायोंको और अनेक प्रकारके पुण्यकर्मों और पापकर्मोंको करता है। तथा

---

१ 'एसा तुज्झमदी'–ता० वृ०।

मोक्षका श्रद्धान न करनेवाला जो अभव्यजीव है यद्यपि वह शास्त्रोंको पढ़ता है, किन्तु ज्ञानका श्रद्धान न करने वालेका शास्त्रपठन लाभकारी नहीं है।

शायद कोई कहे कि उसके धर्मका श्रद्धान है, उसका उत्तर —

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

वह अभव्यजीव भोगके निमित्त रूप धर्मका श्रद्धान करता है, उसीकी प्रतीति करता है, उसीकी रुचि करता है तथा उसीका आलिंगन करता है। परन्तु कर्मक्षयके निमित्त रूप धर्मकी न तो श्रद्धा करता है, न प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसे अपनाता है।

व्यवहार और निश्चयका स्वरूप

आचारादी णाणं जीवादिदंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीव[1]णिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

ज्ञानका कारण होनेसे आचारांग आदि शास्त्रको ज्ञान, श्रद्धानका आश्रय होनेसे जीवादि तत्त्वको सम्यग्दर्शन जानना चाहिये तथा चारित्रका आश्रय होनेसे छह कायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है। किन्तु निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, मेरा आत्मा ही सम्यक्चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (ध्यान) है।

रागादिको कर्मबन्धका कारण कहा है तब रागादिका कारण क्या है, यह बतलाते हैं —

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
रज्जि[2]ज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

---

१. छज्जीवाणं रक्खा—ता० वृ० । २ रंगिज्जदि—मु० ।

जैसे शुद्ध स्फटिकमणि स्वयं रागादि रूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्योंके द्वारा वह रक्त आदि रूप परिणमन करता है। इसी प्रकार शुद्ध ज्ञानी आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता। किन्तु अन्य रागादि दोषोंके द्वारा वह रागी आदि होता है।

ज्ञानी रागादिका कर्ता क्यों नहीं है, यह बतलाते हैं —

ण वि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाण ॥२८०॥

ज्ञानी रागद्वेष मोहको अथवा कषाय भावको (कर्मोदय रूप निमित्तके बिना) स्वयं अपना नहीं करता है। और इसलिये वह ज्ञानी उन रागादि भावोंका कर्ता नहीं है।

किन्तु अज्ञानी रागादि भावोंका कर्ता है

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहि दु परिणमंतो रागादी बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

रागरूप द्वेषरूप और कषायरूप द्रव्यकर्मोंका उदय होनेपर जो रागादिरूप भाव होते हैं उनरूप परिणमन करता हुआ अज्ञानी पुनः रागादिका बन्ध करता है।

जाव[1] अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावं दु कत्ता सो होदि णादव्वो ॥२८५॥

अप्रतिक्रमण (पहले भोगे हुए विषयोंका स्मरण करना) दो प्रकार है । इसी तरह अप्रत्याख्यान (आगामी विषयोंकी चाहरूप) भी दो प्रकारका जानना चाहिये । इस उपदेश (परमागम) के द्वारा आत्माको अकारक कहा है । द्रव्य और भावके भेदसे अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है । इसी तरह द्रव्य और भावके भेदसे अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है । इस उपदेशके द्वारा आत्माको अकारक कहा है । जब तक आत्मा द्रव्य और भावका अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिये । आशय यह है कि आगममें जो अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमणको द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका कहा है, वह यह बतलाता है कि द्रव्य और भावमें निमित्त नैमित्तिकपना है । अतः पर द्रव्य निमित्त है, रागादि भाव नैमित्तिक हैं । यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानको कर्तापनेरूप निमित्तपनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा और ऐसा होनेपर अकेला आत्मा ही रागादि भावका निमित्त ठहरेगा । तब नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आनेसे मोक्षका अभाव हो जायगा । इसलिये आत्माके रागादि भावोंका निमित्त पर द्रव्यको ही मानना चाहिये । अतःआत्मा रागादिका अकारक है । तथापि जबतक वह आत्मा निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिकभूत रागादि भावोंका न प्रतिक्रमण करता है और प्रत्याख्यान करता है । और जब तक रागादि भावोंका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता, तबतक कर्ता ही है ।

अन्य उदाहरणसे द्रव्य और भावमें निमित्तनैमित्तिकपने का समर्थन—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं उत्तं ॥२८७॥

अधःकर्म आदि जो पुद्गल द्रव्यके दोष हैं (उन्हें ज्ञानी नहीं करता) । तब जो सदा परद्रव्यके गुण हैं उन्हें ज्ञानी आत्मा कैसे

---

१ 'जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं च' – ता० वृ० ।

कर सकता है ? अध कर्म और औद्देमिक पुद्गलमय द्रव्य हैं। तो जिन्हें सदा अचेतन कहा है वे मेरे किये कैसे हो सकते हैं॥ आशय यह है कि मुनिको दिया जानेवाला आहार यदि पापकर्मसे युक्त होता है तो उस आहारको अध कर्म दोषसे दूषित कहा गया है। तथा जो आहार ग्रहण करनेवाले साधुके निमित्तसे बनाया जाता है उसे औद्देशिक कहते हैं। जो मुनि इसप्रकार के आहार का, जो कि पुद्गलद्रव्य है, प्रत्याख्यान नहीं करता वह उसके निमित्तसे होनेवाले भावका भी प्रत्याख्यान नहीं करता। और जो मुनि उसका प्रत्याख्यान करता है वह उसके निमित्तसे होनेवाले भावका भी प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार सब द्रव्योंमें और भाव में निमित्त नैमित्तिकपना होता है। जो पर द्रव्यको ग्रहण करता है उसके रागादि भाव भी होते हैं। और वह उन रागादि भाव का कर्ता होता है और उससे उसके कर्मबन्ध होता है। किन्तु जब आत्मा यह जानता है कि अधःकर्म आदि पुद्गल द्रव्यके दोष हैं उन्हें आत्मा नहीं करता तो वह निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ नैमित्तिकभूत भावका भी, जो बन्धका कारण है, प्रत्याख्यान करता है। इस तरह निमित्तभूत समस्त परद्रव्यका त्याग करनेवाला आत्मा नैमित्तिकभूत भावका भी त्याग करता है। इस तरह द्रव्य और भावमें निमित्तनैमित्तिकपना है।

मोक्ष–अधिकार

बन्धके स्वरूपको जानने मात्रसे मोक्ष नहीं मिलता –

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥२८८॥
जइ ण वि [1]कुणदि च्छेदं ण [2]मुच्चए तेण बंधणवसो त।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं [3]पएसठिइपयडिमेवमणुभावं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ [4]मुच्चइ सो चेव जदि सुद्धो ॥२९०॥

---

१ कुव्वदि–ता० वृ०। २ ण मु चदि तेण कम्मबंधेण–ता० वृ०। ३ पएस पयडिट्ठिदीय अणुभाग–ता० वृ०। ४ मु चदि सव्वे जदि विसुद्धो–ता० वृ०।

जैसे बन्धनमें चिरकालसे बंधा हुआ कोई पुरुष उस बन्धनके तीव्र अथवा मन्द स्वभावको अर्थात् ढीलेपने और दृढपनेको तथा कालको कि यह बन्धन इतने समयसे है, जानता है। किन्तु वह पुरुष उस बन्धनको नहीं कटाता इसलिये उससे नहीं छूटता। अतः बन्धनके अधीन हुआ वह पुरुष बहुत काल बीतने पर भी उस बन्धन से छुटकारा नहीं पाता। इसी तरह जीव कर्मबन्धनोंके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभागको जानता हुआ भी मुक्त नहीं होता। परन्तु यदि वह शुद्ध होजाये तो मुक्त होजाता है।

बन्धका विचार करते रहनेसे भी मोक्ष नहीं मिलता —

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥२९१॥

जैसे बन्धनमें बंधा हुआ मनुष्य बन्धका विचार करनेसे छुटकारा नहीं पाता उसी तरह जीव भी बन्धका विचार करनेसे मोक्षको प्राप्त नहीं करता।

बन्धका छेदन करनेसे मोक्ष मिलता है —

जह बंधे [1]छित्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे [2]छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥२९२॥

जैसे बन्धनमें बंधा हुआ पुरुष बंधको काटकर मोक्ष (छुटकारा) पाता है वैसे ही जीव बन्धको काटकर मोक्षको प्राप्त करता है।

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो [3]विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥२९३॥

जो बन्धोंके स्वभावको और अपने स्वभावको जानकर बन्धोंके प्रति विरक्त होता है वह पुरुष कर्मोंसे मुक्त होता है।

आत्मा और बन्धके पृथक् होनेका साधन

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीव और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोंसे छेदे जाते हैं अर्थात् दोनोंके लक्षण जुदेजुदे हैं उन अपने-अपने लक्षणोंसे वे दोनों भिन्न भिन्न

१-२ 'मुत्तूण'-ता० वृ०। ३ ण रज्जादि-ता० वृ०।

किये जाते हैं। और प्रज्ञारूपी छीनीसे छेदे जानेपर वे दोनो जुदे जुदे होजाते हैं।

आत्मा और बंधको अलग करनेसे लाभ

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियएहिं।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने-अपने नियत लक्षणोंसे छेदे जाते हैं। उनमेंसे बंधको तो छोडदेना चाहिये और आत्माको ग्रहण करलेना चाहिये।

प्रज्ञाके द्वारा आत्मा और बन्धको जुदा करने पर भी आत्माको कैसे ग्रहण किया जाये ? इस प्रश्नका समाधान —

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो ॥२९६॥

वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाता है ? वह आत्मा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञाके द्वारा उसे बंधसे भिन्न किया वैसे ही प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिये।

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेका उपाय

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये—जो चेतयिता है वह तो निश्चयसे मैं हूं। बाकीके जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९९॥

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये—जो दृष्टा (देखनेवाला) है वह निश्चयसे मैं हूं। बाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये। प्रज्ञाके द्वारा ऐसे ग्रहण करना चाहिये, जो

ज्ञाता (जाननेवाला) हूँ यह तो निश्चयसे मैं हूँ। बाकीके जो भाव हैं वह मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।

समस्त भावोंको परकीय जानकर आत्माको शुद्ध जानता हुआ कौन ज्ञानी 'ये मेरे हैं' ऐसा बोलेगा।

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथनका समर्थन

जो पुरुष चोरी आदि अपराधोंको करता है वह तो लोकमें विचरता हुआ, मुझे कोई चोर जानकर पकड़ न ले ऐसा शङ्कित रहता है। किन्तु जो पुरुष अपराध नहीं करता, वह लोकमें निर्भय होकर घूमता है उसे बांधे-जाने की चिंता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इसीप्रकार अपराधी आत्मा मैं अपराधी हूँ अतः मैं बांधा जाऊंगा इसप्रकार शंकित रहता है। किन्तु यदि वह निरपराधी होता है तो 'मैं नहीं बांधा जाऊंगा' इसप्रकार निश्शङ्क रहता है।

अपराधका स्वरूप

संसिद्धिराधसिद्धि[1] साधिदमाराधिदं च एयट्ठो।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥३०४॥

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिओ दु सो होदि।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहंति जाणंतो ॥३०५॥

---

१ परोदये—ता० वृ०। २ वज्झेउह—ता० वृ०। ३ –सिद्ध आ० मु०।

प्रतिक्रमण प्रतिसरण परिहार धारणा निवृत्ति निन्दा गर्हा शुद्धि ये आठ प्रकारका विषकुम्भ है। और अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिन्दा अगर्हा अशुद्धि ये आठ अमृतकुम्भ है॥ आशय यह है कि अज्ञानीजनोंमें प्रचलित जो अप्रतिक्रमणप्रतिक्रमण न करना आदि है वह तो स्वयं ही शुद्धात्मसिद्धि स्वभाव न होनेसे विषकुम्भ ही है। किन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वह यद्यपि समस्त अपराधरूपी विषको कम करनेमें समर्थ होनेके कारण अमृतकुम्भ हैं तथापि जो प्रतिक्रमणादिसे विलक्षण अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है उसपर जिनकी दृष्टि नहीं है उनके लिये वह द्रव्य प्रतिक्रमण स्वकार्य करनेमें असमर्थ होनेसे तथा विरुद्धकार्यकारी होनेसे विषकुम्भ ही है। अप्रतिक्रमणादिरूप जो तीसरी भूमि है वह तो स्वयं शुद्धात्मसिद्धि स्वरूप होनेसे समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको दूर करनेके कारण साक्षात् अमृतकुम्भ रूप हैं। इसलिये वह व्यवहारसे द्रव्य प्रतिक्रमणादिको भी अमृतकुम्भपना सिद्ध करता है। उसीसे आत्मा निरपराध होता है। उनके

---

१. परिहरणा—ता० वृ०।

अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराधरूप हैं। अतः तीसरी भूमिकाके द्वारा ही निरपराधपना होता है उसी की प्राप्तिके लिये द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

दृष्टान्तपूर्वक आत्माके अकर्तापनेका कथन

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उन गुणोंसे उस द्रव्यको अभिन्न जानो। जैसे लोकमें कटक (कड़ा) आदि पर्यायोंसे सुवर्ण अभिन्न है॥ जीव और अजीवके जो परिणाम सूत्रमें कहे हैं, वह जीव अथवा अजीव उन परिणामोंसे अभिन्न है॥ यतः किसीसे भी उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये वह आत्मा किसीका कार्य नहीं है। और किसीको उत्पन्न नहीं करता इसलिये वह किसीका कारण भी नहीं है॥ ऐसा नियम है कि कर्मकी अपेक्षा कर्ता होता है और कर्ताकी अपेक्षा कर्म (कार्य) उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय अन्य किसी रीतिसे कर्ताकर्म भावकी सिद्धि देखनेमें नहीं आती।

अज्ञानकी महिमा

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥३१३॥

आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार पारस्परिक निमित्तसे आत्मा और प्रकृति दोनोंका बन्ध होता है और इससे संसार उत्पन्न होता है।

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ॥३१४॥
जया विमुंचए चेदा कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी॥३१५॥

जब तक यह आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होना और विनष्ट होना नहीं छोडता तबतक यह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है और असंयमी है। और जब आत्मा अनन्त कर्मफलको छोड देता है तब वह ज्ञायक है, दर्शक है मुनि है और विमुक्त है अर्थात जबतक आत्माको भेद ज्ञान नहीं है तबतक वह मिथ्यादृष्टि और बन्धक है। भेद ज्ञान होनेपर वह ज्ञाता दृष्टा मात्र है।

यही बात आगे कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ॥३१६॥

अज्ञानी प्रकृति (जड) के स्वभावमें स्थित होता हुआ कर्मोंके फलको भोगता है। किन्तु ज्ञानी उदयमें आये हुए कर्मफलको जानता है, भोगता नहीं है।

अज्ञानी भोक्ता है—

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥३१७॥

अच्छी तरहसे शास्त्रोंको पढ़कर भी अभव्य प्रकृतिके स्वभावको छोडता नहीं है। ठीक ही है, गुड मिश्रित दूधको पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते।

ज्ञानी भोक्ता नहीं है–

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मफल वियाणेइ ।
महुर कडुय बहुविहमवेयश्रो तेण सो होई ॥३१८॥

वैराग्यको प्राप्त हुआ ज्ञानी मीठे कडुए अनेक प्रकारके कर्मफलको जानता है । अतः वह अवेदक है, कर्मफलका भोक्ता नहीं है ।

ण वि कुव्वदि ण वि वेयइ णाणी कम्माइ बहुपयाराइ ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंध पुण्ण च पाव च ॥३१९॥

ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंको न तो करता है और न भोगता है । किन्तु पुण्य और पापरूप कर्मबन्धको और कर्मफलको जानता है ।

ज्ञानी कर्ता और भोक्ता नहीं है, इसका दृष्टान्त –

दिट्ठी जहेव णाण अकारय तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्ख कम्मुदय णिज्जर चेव ॥३२०॥

जैसे आख दृश्य वस्तुओंको न करती है और न भोगती है, केवल देखती है । वैसेही ज्ञान अकारक और अवेदक है–कर्ता भोक्ता नहीं है, वह बन्ध, मोक्ष, कर्मका उदय और निर्जराको केवल जानता है ।

परको कर्ता माननेसे लौकिक जनों और श्रमणोंके धर्ममें अन्तर नहीं रहता

लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाण पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काये ॥३२१॥

लोगसमणाणमेय सिद्धत जइ[1] ण दीसइ विसेसो ।
लोगस्स कुणइ विण्हू समणाण[2] वि अप्पश्रो कुणदि ॥३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्ह पि ।
णिच्च कुव्वंताण सदेवमणुयासुरे लोगे ॥३२३॥

लौकिक जनोंके मतमे विष्णु देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि प्राणियोंको करता है, इसी तरह यदि श्रमणोंके मतमें भी आत्मा छ कायके जीवोंको करता है तो लोक और श्रमणोंका एकमत होजाता है और

१ –पडि इत्यदि पाठ तात्पर्य वृ० । २ 'दुण्हं पि समण लोयाण'– तात्पर्यवृत्तौ ।

दोनोंके मतमें कोई अन्तर नहीं रहता। क्योंकि लोकके मतमें विष्णु करता है और श्रमणोंके मतमें आत्मा करता है॥ और इस तरह देव, मनुष्य और असुर सहित तीनों लोकोंको सदा करनेवाले लोक और श्रमण दोनोंको कोई मोक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता।

आत्माको परका कर्ता माननेवाला मिथ्यादृष्टि है —

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदियत्था।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य हुंति तस्स ताणि उ भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीससयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥३२६॥
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा दोण्ह वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

पदार्थके स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष व्यवहार नयके कथनको लेकर ऐसा कहते हैं कि पर द्रव्य मेरा है। किन्तु ज्ञानी पुरुष निश्चयसे जानते हैं कि किञ्चित् परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है॥ जैसे कोई पुरुष हमारा गाँव, हमारा देश, हमारा नगर हमारा राष्ट्र, ऐसा कहता है। परन्तु वे उसके नहीं हैं, मोहसे वह उन्हें अपना कहता है॥ इसी तरह जो ज्ञानी भी 'पर द्रव्य मेरा है' ऐसा जानता हुआ पर द्रव्यको अपना करता है वह निस्सन्देह मिथ्यादृष्टि है॥ अतः तत्त्वके स्वरूपको जाननेवाला 'पर द्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर इन दोनों अर्थात् लौकिकजनों और श्रमणोंका परद्रव्यमें कर्तृत्वपनेके व्यवसायको जानता हुआ ऐसा व्यवसाय सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषोंका है, ऐसा जानता है। आशय यह है कि जो व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यके कर्तृत्वको मानते हैं वे चाहे लौकिक जन हों या श्रमण दोनों मिथ्यादृष्टि हैं॥

भावकर्मका कर्ता जीव है —

मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेयणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणादि मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहि कदं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

यदि मोहकर्मकी मिथ्यात्व नामक प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है तो तुम्हारे मतमें अचेतन कर्मप्रकृति मिथ्यात्व भावकी कर्ता ठहरती है ॥ अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वकर्मको करता है ऐसा मानाजाये तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि ठहरता है, जीव नहीं ॥ अथवा जीव तथा प्रकृति दोनों पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्व भावरूप करते हैं ऐसा माना जाय तो चूंकि दोनोंने उसे किया है, इसलिये दोनोंको उसका फल भोगना चाहिये । अथवा न तो प्रकृति और न जीव पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्व भावरूप करता है, यदि ऐसा मानाजाये तो पुद्गलद्रव्य स्वयं ही मिथ्यात्व भावरूप है, यह बात मिथ्या नहीं है ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है—

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयम्मि ।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देई हरदि जं किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अवंभचारी दु अम्ह[1] उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि[2] इदि भणियं ॥३३७॥
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सा पयडी ।
एदेणत्थेण दु किर भण्णदि परघादणामित्ति ॥३३८॥

---

१ तुम्ह –ता० वृत्तौ । २ ज –ता० ।

मतमें जो कुछ करती है प्रकृति ही करती है। आत्मा तो सब अकारक ही हैं कुछ नहीं करते हैं॥

अथवा यदि तू ऐसा मानता है कि मेरा आत्मा स्वयं ही आत्माको करता है तो ऐसा जाननेवाला तेरा यह स्वभाव भी मिथ्या है। क्योंकि आगममें आत्माको नित्य असंख्यात प्रदेशी कहा है। उसे उससे हीन अथवा अधिक नहीं किया जा सकता। तथा विस्तारकी अपेक्षा जीवको लोक प्रमाण जानना चाहिये। उससे क्या वह हीन अथवा अधिक होता है? यदि नहीं होता तो आत्मा आत्मद्रव्यका कर्ता कैसे हुआ? अथवा यदि ऐसा मानता है कि ज्ञायक भाव तो ज्ञानस्वभावसे स्थित रहता है तो आत्मा स्वय आत्माका कर्ता नहीं है, यह स्थिर हुआ।

आगे क्षणिकवादका निषेध करते हैं—

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयता ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जएहि विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयतो ॥३४६॥
जो चेव कुणदि सो[1] चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुजदि जस्स एस सिद्धतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

चूकि जीव कतिपय पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होता है और कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको नहीं प्राप्त होता, अत. जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकान्त नहीं है। तथा चूकि जीव कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होता है और कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको नहीं प्राप्त होता। अतः जो करता है वही भोगता है अथवा दूसरा ही भोगता है ऐसा एकान्त नहीं है। जो करता है वही नहीं भोगता, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, वह जीव मिथ्यादृष्टी और अनार्हत (अर्हन्त भगवानके मतको न माननेवाला) है। अन्य करता है और अन्य भोगता है, जिसका ऐसा सिद्धान्त है उस जीवको मिथ्यादृष्टी और अनार्हत जानना चाहिये। [आशय यह है कि बौद्ध मतवाले प्रत्येक वस्तुको क्षणिक मानते है॥ क्षण क्षणमे वस्तु नष्ट होती

[1] 'सो चेव वेदको'–ता० वृत्तौ।

है और नई उत्पन्न होती है ऐसा उनका सिद्धान्त है। ऐसी स्थितिमें जो करता है वह भोगता नहीं है और जो भोगता है वह कर्ता नहीं है। किन्तु जैन सिद्धान्तमें प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। अतः जो करता है वही भोगता है या जो भोगता है वही करता है ऐसा एकान्त नहीं है क्योंकि पर्याय दृष्टिसे करनेवाला जुदा है और भोगनेवाला जुदा है। तथा कर्ता दूसरा है और भोगता दूसरा है ऐसा भी एकान्त नहीं, क्योंकि द्रव्य दृष्टिमें जो करता है वही भोगता है।

आगे कहते हैं कि–व्यवहार दृष्टिसे कर्ताकर्म भिन्न हैं किन्तु निश्चय दृष्टिमें दोनों एक हैं—

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३४९॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३५०॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥३५१॥
जह सिप्पिओ कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि ॥३५२॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३५३॥
जह सिप्पिओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

जैसे शिल्पी (कारीगर) कुण्डल आदि कर्मको करता है अर्थात् सोने के कुण्डल वगैरह बनाता है, किन्तु वह कुण्डलमय नहीं हो जाता। वैसे ही जीव भी पुण्य पाप रूप कर्मको करता है, किन्तु वह पुद्गल कर्ममय नहीं होता। जैसे शिल्पी हथौडा आदिके द्वारा कर्म करता है किन्तु हथौडा आदि मय नहीं होता, वैसे ही जीव मन वचन कायके व्यापार रूप योग के द्वारा कर्मको करता है किन्तु तन्मय नहीं हो जाता। जैसे शिल्पी हथौडा आदि उपकरणोंको ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नहीं होता। वैसे ही

जीव योगरूप करणोंको ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी अपने द्वारा बनाये गये कुण्डलादिका फल भोगता है किन्तु फलमय नहीं हो जाता, वैसे ही जीव कर्मफलको भोगता है किन्तु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहार नयका दर्शन संक्षेपसे कहा। अब निश्चयनय-का कथन सुनो जो परिणामविषयक है। जैसे शिल्पी चेष्टा करता है अर्थात् मनमें विचारता है कि मैं इस तरहसे कुण्डलादि बनाता हूँ और वह उस चेष्टामें अनन्य होता है। वैसे ही जीव भी अपने परिणाम रूप कर्मको करता है और वह उससे अनन्य होता है। जैसे शिल्पी उक्त चेष्टा करता हुआ मानसिक खेदमें सदा दुखी होता है और वह उस दुखसे अभिन्न होता है, वैसे ही अपने परिणामोंको करता हुआ जीव भी दुखी होता है।

दृष्टान्तपूर्वक व्यवहार और निश्चयका पुनः कथन करते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सो होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ[1] णादा वि सयेण भावेण ॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥

---

१ विरमदि—ता० वृत्तौ।

एव ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३६५॥

जैसे खिरिया मिट्टी पर अर्थात् भीत आदिकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही ज्ञायक अर्थात् जानने वाला आत्मा परका नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही दर्शक अर्थात् देखने वाला आत्मा परका नहीं है, दर्शक तो दर्शक ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही संयमी आत्मा परका नहीं है, संयमी तो सयमी ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान परका नहीं है, दर्शन तो दर्शन ही है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें निश्चयनयका कथन है। अब उसके सम्बन्धमें संक्षेपसे व्यवहारनयका कथन सुनो।

जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे पर द्रव्य दीवार आदिको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभावसे पर द्रव्यको जानता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही जीव अपने स्वभावसे परद्रव्यको देखता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका त्याग करता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें व्यवहारनयका निर्णय कहा। अन्य पर्यायोंके विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिये।

सम्यग्दृष्टिका पर द्रव्योंमें राग न होने का कारण—

दसण-णाण-चरित्त किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दसणणाणचरित्त किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥३६७॥
दसणणाणचरित्त किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण[1] वि तहि पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र रचमात्र भी अचेतन विषयमे नहीं हैं। अतः आत्मा इन अचेतन विषयोंमें किसका घात करता है, अर्थात् किसीका भी नहीं। दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें रचमात्र भी नहीं है। अतः आत्मा अचेतन कर्ममें किसका घात कर सकता है? दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कायमें रचमात्र भी नहीं हैं। अतः आत्मा कायमें क्या घात सकता है? घात ज्ञानका दर्शनका और चारित्रका कहा है। पुद्गल द्रव्यका वहाँ जरा घात नहीं कहा। अर्थात ज्ञान दर्शन और चारित्रका घात होने पर पुद्गल द्रव्यका जरा भी घात नहीं होता। इस तरह जीवके जो कोई गुण हैं वे परद्रव्योंमें नहीं हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टिका विषयोंमें राग नहीं है। राग द्वेष मोह जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। इसलिये शब्दादि विषयोंमे रागादि नहीं हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न नहीं करता—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरदे गु[2]णुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंकी उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः सब द्रव्य अपने अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं।

णिंदिद-संथुद-वयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुहो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं ॥३७५॥

---

१ ण वि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो'—ता० वृ०।
२ 'गुणविघाद'—ता० वृ०।

असुह सुह व रूव ण त भणदि पिच्छ मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु चक्खुविसयमागद रूव ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण त भणदि जिग्घ मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु घाणविसयमागद गंध ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण भणदि रसय मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु रसणविसयमागद तु रस ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण त भणदि फुससु मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु कायविसयमागद फास ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण त भणदि बुज्झ मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु बुद्धिविसयमागद तु गुण ॥३८०॥
असुह सुह व दव्व ण तं भणदि बुज्झ मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु बुद्धिविसयमागद दव्व ॥३८१॥
एदं[1] तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

निंदा और स्तुति वचन रूप बहुतसे पुद्गल परिणत होते हैं। उनको सुनकर अज्ञानी जीव 'मुझे कहे हैं' ऐसा मानकर गुस्सा करता है अथवा खुश होता है। पुद्गल द्रव्य शब्द रूप परिणमन करता है। यदि उसका गुण तुझसे भिन्न है तो तुझे कुछ भी नहीं कहा, तू अज्ञानी होता हुआ क्यों रोष करता है। शुभ अथवा अशुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहते कि हमें सुनो। और आत्मा भी श्रोत्र के विषय रूपसे आये हुए शब्दोंको ग्रहण करनेको नहीं जाता। शुभ अथवा अशुभ गंध तुझसे नहीं कहते कि मुझे सूँघ। आत्मा भी घ्राण इन्द्रियके विषय रूपसे आये हुए गन्धको सूँघनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे नहीं कहता कि मुझे चाख। और आत्मा भी रसना इन्द्रियके विषय रूपसे आये हुए रसको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि मुझे स्पर्श कर। और आत्मा भी स्पर्शन इन्द्रियके विषय रूपसे आये हुए स्पर्शको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि मुझे जान। और आत्मा भी बुद्धिके विषय रूपसे आये हुए गुणको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि मुझे जान। और आत्मा भी बुद्धिके विषय रूपसे आये हुए

---

१ 'एव तु जाणिदव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे मूढो —ता० वृ०।

द्रव्यको ग्रहण करनेको नहीं जाता। ऐसा जानकर भी यह मूढ जीव उपशम (शान्त) भावको प्राप्त नहीं होता। और कल्याणकारी बुद्धिको प्राप्त न करता हुआ स्वयं पर वस्तुको ग्रहण करनेका मन रखता है।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का स्वरूप

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं[1] पडिक्कमदि जो य ।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ॥३८६॥

पूर्वमें किया हुआ जो अनेक प्रकारका विस्तार वाला शुभ और अशुभ कर्म है उससे जो आत्माको निवृत्त करता है अर्थात् दूर हटाता है वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है। भविष्यमें जो शुभ और अशुभ कर्म जिस भावमें बंधको प्राप्त होगा, उस भावसे जो आत्माको दूर करता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है। वर्तमानमें उदयको प्राप्त हुआ तथा अनेक प्रकारका विस्तार वाला जो शुभ और अशुभ कर्म है, उस दोषको जो आत्मा अनुभव करता है वह आत्मा आलोचना है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता, है वह आत्मा चारित्र है। [आशय यह है कि चारित्रमें प्रतिदिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करनेका विधान है। पहले लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं। भविष्यमें लगनेवाले दोषोंके त्यागको प्रत्याख्यान कहते हैं। और वर्तमान दोषोंकी विशुद्धिको आलोचना कहते हैं। चूँकि यहाँ निश्चय चारित्रका कथन है अतः यहाँ निश्चय प्रतिक्रमणादिका स्वरूप बतलाया है]

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥

१—'णिच्चं पि जो पडिक्कमदि'—ता० वृ०।

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता। अतः शास्त्र अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द किञ्चित भी नहीं जानता। अत. ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप किंचित् भी नहीं जानता। अत ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण किञ्चित भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध किञ्चित् भी नहीं जानता। अत. ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस किञ्चित् भी नहीं जानता। अत' ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श रंचमात्र भी नहीं जानता। अत ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म किञ्चित भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म किञ्चित भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म किञ्चित भी नहीं जानता। अत ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल किञ्चित् भी नहीं जानता। अत ज्ञान अन्य है और काल अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश जरा भी नहीं जानता। अतः आकाश अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। अत' अध्यवसान अन्य है और ज्ञान अन्य है। किन्तु चूँकि जीव सदा जानता है इसलिये ज्ञायक जीव

ज्ञानी हैं। और ज्ञानको ज्ञायकसे अभिन्न जानना चाहिये। ज्ञानीजन ज्ञानको ही सम्यग्दृष्टि, ज्ञानको ही संयम, ज्ञानको ही अंग और पूर्व रूप सूत्र, ज्ञानको ही धर्म अधर्म और ज्ञानको ही प्रव्रज्या मानते हैं।

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे ।
दसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुज मोक्खपहे ॥४११॥

चूँकि द्रव्यलिंग मोक्षका मार्ग नहीं है अतः गृहस्थो और मुनियोंके द्वारा गृहीत लिंगको छोडकर मोक्षके मार्ग दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें आत्माको लगा ।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि[1] तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे भव्य ! मोक्ष मार्गमें आत्माको स्थापित कर, उसीका ध्यान कर, उसीका अनुभव कर तथा उसीमें सदा विहार कर, अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर ।

लिंगके मोही समयसारको नहीं जानते–

पासडीलिंगेसु[2] व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णाय समयसार ॥४१३॥

जो बहुत प्रकारके मुनिलिङ्गोंमें अथवा गृहस्थ लिंगोंमें ममत्व करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना ।

लिंगके विषयमें व्यवहार और निश्चयनयका मत

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण[3] इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग दोनोंको ही मोक्षका मार्ग कहता है । किन्तु निश्चयनय मोक्षके मार्गमें सब लिंगोको (किसी भी लिंगको) नहीं चाहता ।

समयसार ग्रन्थका महत्त्व

जो समयपाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णादु ।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो पावदि[4] उत्तम सोक्ख ॥४१५॥

जो आत्मा इस समय प्राभृतको पढकर और अर्थ तथा तत्त्व रूपसे उसे जानकर उसके अर्थमें स्थिर होता है वह उत्तम सुखको प्राप्त करता है ।

---

१ 'ठवेहि वेदयदि झायहि'–ता० वृ० । २–पाखडी–ता० वृ० । ३–णओ दु णिच्छदि–ता० वृ० । ४ होहि–पाठान्तरम् ।

समाप्त

कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रहके पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दोकी सूची

ख

ग

घ

ध

न

नामसूची

२४ तीर्थङ्करों के नाम

अंगों और पूर्वोंके नाम

मुनियोंके नाम

निर्वाण भक्तिमें आगत पुराण पुरुषों तथा तीर्थ स्थानोंकी नामावली